हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—६४

उर्दू भाषा और साहित्य

लेखक

श्री रघुपति सहाय 'फ़िराक़' गोरखपुरी

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण
१९६२

मूल्य
७.५० रुपये

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

उर्दू भाषा और साहित्य का विकास प्रायः हिन्दी के विकास के समानान्तर ही हुआ है। पिछले कुछ वर्षों में ये दोनों भाषाएँ और इनमें रचा गया साहित्य काफी पास आये हैं और दोनों ने एक दूसरे को काफी दूर तक प्रभावित किया है। दोनों साहित्यों के बीच की दूरी इस बीच कम हुई है और एक दूसरे के प्रति सौमनस्य और सौहार्द का वातावरण विकसित हुआ है। हिन्दी ने जहाँ उर्दू को इस देश की परम्परा से प्राप्त प्रतीक, उपमान तथा सन्दर्भ दिये हैं वहीं उर्दू ने भाषा की रवानी तथा सहज-बोधगम्यता के द्वारा हिन्दी में एक नयी झलक लाने में सफलता प्राप्त की है। इस परस्पर के आदान-प्रदान का स्वरूप अभी उतना सामने नहीं आया है, इसलिए इस कथन पर संभवतः कुछ लोग सहमति न प्रकट करें, लेकिन जिस शीघ्रता से उर्दू का सम्पूर्ण रचनात्मक साहित्य देवनागरी लिपि में प्रकाशित हो रहा है उसे देखते हुए अगले चार-पांच वर्षों में यह सत्य पूरी तरह से उभरकर सामने आ जायगा। तब लोग सहज भाव से यह स्वीकार कर लेंगे कि दोनों साहित्यों की मूलचेतना एक है और दोनों एक धरती और एक ही वातावरण से प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

उर्दू का विकास प्रायः स्वतन्त्र रूप से हुआ है। सम्पूर्ण भारतीय परम्परा को स्वीकार कर लेने के बाद भी उसका अपना व्यक्तित्व उसी प्रकार बराबर अलग बना रहेगा जिस प्रकार देश की अन्य प्रमुख भाषाओं का निजत्व एक देश, एक संस्कृति और करीब-करीब समान वातावरण के बीच भी बना हुआ है। देश के अन्य महान् रचनाकारों की ही भाँति उर्दू भाषा और साहित्य का निर्माण जिन कवियों, दार्शनिकों तथा विवेचकों के अध्यवसाय के बल पर हुआ है वे सभी इस देश के गौरवशाली इतिहास के निर्माता हैं और अपनी शक्ति और सामर्थ्य के बल पर उन्होंने न केवल उर्दू, बल्कि पूरे भारतीय

साहित्य की रचनात्मक शक्ति का विकास किया है और भाषा की अभि-व्यञ्जना की दिशा में अभिनव प्रयोग किये हैं।

श्री रघुपति सहाय 'फिराक़' उर्दू के प्रमुख कवि होने के साथ-साथ भारतीय साहित्य के मूर्धन्य रचनाकारों की पहली पंक्ति में आसीन हैं। कवि होने के नाते जहाँ उन्हें भाषा की सूक्ष्मतम प्रवृत्तियों का ज्ञान है वहीं अंग्रेजी के अच्छे ज्ञाता और आलोचक होने के नाते वे भारतीय साहित्य को विश्व-साहित्य के सन्दर्भ में रखने में अनायास ही समर्थ हो जाते हैं। उनकी यह दोहरी सफलता संभवतः पहली बार इस छोटे-से इतिहास-ग्रन्थ में परिलक्षित हो रही है। हमें इस बात की प्रसन्नता है कि यह ग्रन्थ प्रकाशित करने का अवसर हिन्दी-समिति को प्राप्त हुआ है।

ठाकुरप्रसाद सिंह
सचिव, हिन्दी-समिति

विषय-सूची

प्राक्कथन

मुसलमानों को हिन्दुस्तान में आकर बसे हुए कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। भारत की भिन्न-भिन्न भाषाएँ बन चुकी थीं। उनमें अभी गद्य तो नहीं, लेकिन कविता की ध्वनि गूँजने लगी थी और सभी भाषाओं में हिन्दुओं के साथ-साथ उनकी ध्वनि में अपनी ध्वनि मिलाकर वे कविता कर रहे थे। खुसरो, कबीर साहब, मलिक मोहम्मद जायसी, रसखान, आलम और इन्हीं के सदृश कई सौ दूसरे मुसलमान पुरुष और स्त्री हिन्दी कविता को मालामाल कर रहे थे। साथ ही साथ कई मुसलमान और कुछ हिन्दू फ़ारसी में भी काव्य-रचना कर रहे थे। इसके अतिरिक्त फ़ारसी में बहुत रचा हुआ और परिष्कृत गद्य भी लिखा जा रहा था।

दकन में मुसलमान उत्तरी भारत से जा बसे और कुछ शताब्दियों के बाद ही दकन की बोलियाँ बोलने लगे। लेकिन आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व उत्तरी भारत की जो बोली थी, उसे भी वे अपने साथ दकन लेते गये थे। अभी इस भाषा में उत्तरी भारत में साहित्य का सर्जन नहीं हुआ था, लेकिन दकन में उत्तरी भारत की भाषा में कई सौ वर्ष पूर्व कविता होने लगी थी और कुछ गद्य की पुस्तकें भी लिखी गयीं। इस कविता और इस गद्य में पहले-पहल आज की उर्दू कविता की झांकी मिलती है। इस हिन्दीनुमा दकनी भाषा में पहले-पहल अरबी-फ़ारसी के शब्द हिन्दी शब्दों के साथ नगीने की तरह जड़े हुए देख पड़ते हैं। फ़ारसी काव्य के जितने प्रकार और जितने छंद हैं, उन्हें भी दकनी हिन्दी में काम में लाया गया।

अठारहवीं शताब्दी की दो-तीन दहाइयाँ बीत चुकी थीं। मुग़ल राज्य अभी जीवित था, उसे १८९७ तक जीवित रहना था, लेकिन वह अन्दर से जर्जर हो चुका था। दकन प्रान्त के सूबेदार आसिफ़जाह ने अपने को स्वतंत्र कर लिया था। ऐसा ही अवध के नवाब ने भी किया था। यही हाल बंगाल का भी था। कई और नवाबों ने भी अपने को स्वतंत्र या अर्ध स्वतंत्र घोषित कर रखा

था। जाटों और सिखों की शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। मराठों ने भी बड़े-बड़े प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर रखा था। इस्ट इंडिया कंपनी के अँगरेज व्यापारियों का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता जा रहा था। उसी समय अहमदशाह अब्दाली और नादिरशाह ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण कर दिया और जी भर कर उसे लूटा और अपमानित किया। इसी डाँवाडोल युग में जब हिन्दुस्तान में अराजकता फैल रही थी, दिल्ली में उर्दू कविता की पहली बोलियाँ सुनाई पड़ीं, और इसी युग में उर्दू के दो महाकवि 'मीर' और 'सौदा' ने ऐसी काव्य-रचना की जिसे रहती दुनिया तक हम भूल नहीं सकते।

दिल्ली में ऊँचे घराने के मुसलमानों की एक सभ्यता बन चुकी थी। इस सभ्यता के कई केन्द्र भारत के कई नगरों में बन चुके थे और बनते जा रहे थे। ऐसे हर केन्द्र में एक पाठशाला रही होगी, जहाँ अरबी और फ़ारसी की शिक्षा दी जाती होगी और उर्दू शायरी से सम्बन्धित वार्तालाप होते होंगे। हैदराबाद दकन, मुर्शिदाबाद, पटना, लखनऊ, मुरादाबाद, फर्रुखाबाद, काकोरी, मानिकपुर ऐसे सैकड़ों क़सबों में ज्ञान और साहित्य की साधना होती रही होगी और कविता की तूती बोलती रही होगी।

भारत में रहनेवाले मुसलमानों के जीवन के कतिपय तथ्यों को अवश्य जान लेना चाहिए। एक तो इनमें नागरिकता की स्पष्ट झलक मिलती है और ऊँचे और सभ्य घराने के लोग गाँव की बोली नहीं वरन् इनके बच्चे-बच्चियाँ, स्त्री-पुरुष, रिश्तेदार और इनसे मिलने-जुलनेवाले लोग तथा नौकर तक खड़ी बोली बोलते रहे होंगे। दूसरा सत्य इनके जीवन का यह होगा कि इन घरानों की स्त्रियाँ अनपढ़ और अशिक्षित नहीं रही होंगी। इन्हें अरबी में क़ुरान पढ़ना और इसे उर्दू में समझना था। दिल्ली और कई बड़े-बड़े शहरों में भटियारखाने स्थापित हो चुके थे। भटियारों की जबान कैंची की तरह चलती थी। प्रतिदिन के व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाले महावरों और टकसाली भाषा की वर्षा हो रही थी। मगर भटियारखानों और कारवाँ सरायों में तो लोग केवल यात्रा-काल में ही आते-जाते होंगे। दिल्ली और कई शहरों में नानबाइयों की इतनी दूकानें खुल चुकी होंगी कि बहुत से घरों में खाना पकाने की आवश्यकता ही नहीं रही होगी। घर की स्त्रियाँ और लड़कियाँ सीने-पिरोने, कढ़ाई के कामों

और बेल-बूटाकारी के कामों में अपना समय लगा रही होंगी। ऐसे घरों के पुरुष और लड़के अपना अधिकांश समय घर की स्त्रियों के साथ उठने-बैठने, बातचीत करने, भोजन और ब्यालू करने में व्यतीत करते होंगे। टकसाली उर्दू में बातें होती होंगी। कोई बात कहने में जहाँ भूल-चूक हुई, औरतें तुरंत टोक देती होंगी। उर्दू भाषा दिन प्रतिदिन साँचे में ढलती जा रही थी। जामा मस्जिद की सीढ़ियों पर सैकड़ों तरह के खोन्चे वाले बैठते थे और सब अपनी-अपनी बात दिल्ली की उस टकसाली बोली में कहते थे जो चार-पाँच सौ बरस पहले बन चुकी थी और बनती जा रही थी और जिसके साँचे 'मीर' और 'सौदा' के युग तक अस्सी-नब्बे प्रतिशत की सीमा तक तैयार हो चुके थे। यह बोली साँचे ढालती जा रही थी और साँचों में ढलती जा रही थी।

जब इस बोली की हैसियत एक कच्चे माल की थी तब यह बोली जाटों की बोली थी। कड़ी, खुरदरी, बेलचक, अनगढ़ और कर्णकटु। इस बोली में न तो ब्रजभाषा का माधुर्य था और न अवधी की कोमलता। इसमें अच्छे गीत तक न थे। उर्दू से पहले जो काव्य-रचना खड़ी बोली में की गयी थी, वह कुछ उन साधुओं और सन्तों की देन थी जो निर्गुण सम्प्रदाय के थे, जो राम और रहीम की एकता बताते थे। खड़ी बोली की इस कविता में एक्का-दुक्का अरबी-फ़ारसी शब्द भी आ गये थे। लेकिन सांसारिक जीवन के काव्य का प्रणयन इसमें बहुत अल्प हुआ था। प्रेम और सौन्दर्य की कथाएँ उर्दू से पूर्व खड़ी बोली में मिलना कठिन है। हाँ, नीति और धर्म सम्बन्धी काव्य-रचना अवश्य मिल सकती है। उर्दू के रूप में जब यह कविता आगे बढ़ी तो इसमें सभ्यता और संस्कृति अपने पूर्ण शृंगार के साथ परिलक्षित हुई। आये दिन की बातें, कोमल-कांत भावनाएँ, दर्शन और नीति, जीवन और सृष्टि पर दूर तक पहुँचने वाले अनुभव और विचार, वर्णन के सैकड़ों रूप और शैलियाँ इस भाषा में आविर्भूत हो गयीं।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। वह यह कि जब उर्दू कावता से सैकड़ों वर्ष पूर्व की हिन्दी कविता और भारतवर्ष की दूसरी भाषाओं की कविता में अरबी, फ़ारसी शब्द या तो नहीं थे या न होने के बराबर थे तो फिर उर्दू कविता में अरबी-फ़ारसी की विदेशी शब्दावली का इतना प्रयोग क्यों हुआ? इन विदेशी

शब्दों की आवश्यकता ही क्या थी ? यह सच है कि उर्दू को छोड़कर भारत की अन्य भाषाओं की कविता में विदेशी शब्द नहीं होते या न होने के बराबर हैं। लेकिन दक्षिणी भारत की भाषाओं को छोड़कर उत्तरी भारत की भाषाओं में कई हज़ार अरबी और फ़ारसी के शब्द मिलते हैं। उर्दू कविता का पंचानबे प्रतिशत भाग ऐसा है कि जिसमें वे ही अरबी और फ़ारसी के शब्द आते हैं जिन्हें अशिक्षित मुसलमान भी बोलते और समझते हैं। फिर ये शब्द विदेशी कहाँ रहे ? पहले बताया जा चुका है कि हजारों अरबी और फ़ारसी शब्द मुसलमानों के आने के पश्चात् ही हमारी बोली में घुल-मिल गये थे और सैकड़ों वर्ष तक उर्दू कविता के आविर्भाव से पूर्व करोड़ों आदमी इस घुली-मिली भाषा को बोलते रहे हैं। उर्दू कविता ने लगभग साठ-सत्तर हज़ार शुद्ध हिन्दी शब्दों में तीन हजार के लगभग अरबी-फ़ारसी शब्द जोड़ दिये हैं, जिन्हें पढ़कर सीखना पड़ता है। ऐसे शब्दों की पूर्ण संख्या तो नहीं, किन्तु एक बड़ी संख्या नीचे दी जाती है जिन्हें अनपढ़ बोलते हैं।

आदमी, मर्द, औरत, बच्चा, ज़मीन, काश्तकार, हवा, आस्मान, गरम, सर्द, हालत, हाल, ख़राब, नेकी, वर्दी, दुश्मनी, दोस्ती, शर्म, दौलत, माल, मकान, दुकान, दरवाज़ा, सहन, बरामदा, ज़िन्दगी, मौत, तूफ़ान, सवाल, जवाब, बहस, तरफ़, तरफ़दारी, तरह, हैरान, बेहोश, होशियार, चालाक, सुस्त, तेज़, सवार, राह, शेर, मुहल्ला, क़िस्सा, गुस्सा, ग़म, दर्द, खुशी, आराम, किताब, हिसाब, ख़बरदार, बीमार, दवा, शीशा, आईना, प्याला, गुलाब, बाग़, बहार, मुरव्वत, मुहब्बत, सूरत, आबरू, हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान, सादा, दिल, दिमाग़, चेहरा, ख़ून, रग, शरारत, सलाम, रईस, रियाया, मालगुज़ारी, शोर, गुल, जमा, बाक़ी, ख़ैरियत, ख़बर, तकलीफ़, तकाज़ा, फ़ायदा, फ़कीर, फ़ौरन, बहाना, जादू, कबूतर, कमर, गरदन, आवाज़, ज़बान, ख़र्च, मैदान, वकील, पेशकार, अमीन, कानूनगो, तहसीलदार, वसूल, ख़िदमत, ग़ुलाम, आज़ाद, रंगीन, नमक, मंज़ूर, नज़र, लगाम, चिराग़, चादर, तकिया, परदा, जगह, नज़दीक, दूर, क़रीब, ख़तरा, बयान, गुमान, दीवानख़ाना, मसनद, ज़ाहिर, कुश्ती, रोज़, ज़ोर, ताक़त, ख़ास, तूती, रोशनी, तरद्दुद, गिरानी, बुख़ार, हैज़ा, ताऊन, बदहज़्मी, हलवा, हलवाई, कागज़, लिफ़ाफ़ा, मोटर, नहर, शिकायत, ज़हर, वज़न, आस्तीन,

मालिक, जायदाद, महल, मुश्किल, मेहरबानी, ज़रा, कम, ज़ियादह, ताक़, हुक्म, अम्ल, फ़ुरसत, हिम्मत, बेहूदा, मंज़िल, अख़्तियार, ज़ुल्म, ज़िक्र, फ़िक्र, फ़साद, रज़ाई, रूमाल, बख़िया, रफ़ू, जहाज़, निशाना, तीर, कमान, सन्दूक़, बेवकूफ़, ख़ाली, ख़ारिज, क़ै, क़िस्म, पसन्द, क़र्ज़, क़ौल, फ़रार, फ़ौज, मुल्क, बादशाह, शहज़ादा, शादी, रोब, ख़ुलासा, दग़ाबाज़, हरामज़ादा, नमकहलाल, फ़लाँ, वापसी, रुख़सती, तबादला, किनारा, बन्दगी, बरफ़ी, तमाशा, ख़याल, याद, बारीक, शुरू, ख़त्म, अख़ीर, ख़ज़ाना, मेवा, शराब, अंगूर, बादाम, शगून, इनकार, राज़ी, मेहतर, दरज़ी, चीज़, तश्तरी, वर्क़, वादा, नक़द, मोहलत, पान, ज़र्दा, सफ़र, लाश, कफ़न, दफ़न, मेहराब, बदतमीज़, सुर्ख़, मज़ा, हजामत, ख़ाक, बिस्तर, कुर्सी, दाग़, दाख़िल, सितार, तबला, जुलूम, जलसा, ज़माना, गिरफ्तारी, इन्तज़ार, मुख़्तार, लेकिन, क़िस्मत, मतलब, अगर, दुनिया, ग़ैर, दीवार, परवरिश, क़ाफ़िला, जारी, बुज़ुर्ग, तमाम, कुल, मेहमान, मस्जिद, शौक़, बरकत, ग़रज़, बेकार, बला, आह, हाय, वाह, जहाँ, बेजा, हज़ार, तक-रार, ग़ज़ब, कीना, सीना, वाक़िफ़, हस्ती, बुलबुल, हैसियत, शाम, सुबह, इक़बाल, इम्तहान, चमन, चाक़ू, उस्तरा, इलाज, ख़ुद, असर, दौलत, इन्सान, क़दम, जर्राह, ख़ातिर, क़सूर, ख़फ़ा, माफ़ी, जान, शिकार, कमन्द, जुर्म, ख़िलाफ़, रहम, रस्म, क़ायदा, मज़दूर, बदन, नर्म, शौहर, बरात, बदहवास, नामुमकिन, देर, बरफ़, सरहद, नज़ला, पेशी, नुमाइश, हवाला, दरजा, साहब, ग़लत, सही, तबीयत, शायद, हमेशा, बराबर, ग़नीमत, शैतान, ताल्लुक़, दफ़्तर, अफ़सर, सिलसिला, बाज़ार, मसाला, परवाह, जहन्नम, रुत्बा, ख़ौफ़, शानदार, साल, फ़र्क़, लुत्फ़, सितारा, परी, देव, मौसम, दरया, वारदात, आराज़ी, क़दर, चैन, कमाल, क़ुरबानी, पंजाब, इन्साफ़, जोश, बग़ल, बे, दावत, आराज़ी, मर्ज़, मरीज़, बिस्तर, आबपाशी, आबकारी, सरकारी, हज़ूर, उज़रदारी, बन्दोबस्त, यार, रुक्क़ा, पर्चा, पुरज़ा, दारोग़ा, सदरी, बन्द, अख़बार, सिवा, बेशी, फ़ौजदारी, दीवानी, लिहाज़, ज़बरदस्ती, किराया, कद्दू, मुरब्बा, अचार, ख़रबूज़ा, तर-बूज़ा, सब्ज़ी, दाना, पेशवा, कारिन्दा, पैसा, पेच, बाज़ी, प्यादा, वज़ीर, पोलाव, प्याज़, सुराही, क़यामत, दीवाल, नोक, तारीख़, ताश, तालाब, जाहिल, लायक़, नेहायत, क़ाबिल, परहेज़, बनफ़्शा, बेअदबी, तजुरबा, तै, गुज़र-बसर, माहवारी,

मुर्दा, शरबत, राय, मज़बूत, कमज़ोर, कारवाई, खाना, परवाना, हाता, सुराग़, तनख़्वाह, तरक्क़ी, जुरमाना, अशरफ़ी, कैफ़ियत, फरेब, मल्लाह, नक़ल, बुरादा, मुलाक़ात, असली, नक़ली, बुरी, रेहन, शमा, शमादान, तसला, सुरमा, रस्म व रिवाज, रफ़ा-दफ़ा, रियायत, रसीद, जंजीर, सिफ़ारिश, ज़नाना, सायत, गज़, ख़ेमा, शामियाना, सायबान, सिपाही, सुपुर्द, शुतुरमुर्ग, शाल, दुशाला, क़तार, सजदा, बग़ावत, ग़द्दार, तूफ़ान, क़ीमा, रान, तैनात, मुसाफिर, करामात, मात, फज़ीअत, कसर, कसरत, कश्मीर, कुलकुल, जोश, कूच, दामन, तोशक, सलाह, अन्दर, जिगर, दम, नाराज़, देहात, माजून, हलाल, हलालखोर, दवात, जिन, मालूम, मरदुमशुमारी, ज़ारबन्द, तंग, दिक़, गोश्त, लानत, मलामत, पेबन्द, अमल, दस्तावेज़, मख़मल, क़ालीन, फ़र्श, नाश्ता, रेशम, मुलायम, काफ़ी, ताकीद, रंज, क़िला, अफ़सोस, साज़, मज़ाक, मुंशी, नीलाम, मुक़ाबला, मवक्किल, नीयत, अनार, इफ़रात, आतशबाज़ी, अमरूद, इनक़लाब, इन्तज़ाम, बारूद, ख़िलाफ़, गिलाफ़, बाक़ी, बक़ाया, इजलास, नवइयत, मुआइना, आबला, एहतियात, इजाज़त, दाख़िल ख़ारिज, जानवर, हैवान, जानदार, तोप, बन्दूक़, जालसाज़ी, अन्दाज़, रोज़गार, अलावा, जारी, मुज़रिम, मुलज़िम, मालिश, मजाल, नदारद, ऐब, खोंचा, ज़ुकाम, चासनी, बालाई, आमदनी, दस्तकारी, मीनाकारी, ख़ैरात, अजायबख़ाना, चरख़ा, जल्द, चौगान, मशहूर, ख़रगोश, तातील, वारिस, रियासत, हुक्क़ा, फ़रशी, जू, कबाब, शोरबा, तराज़ू, हर्ज, अस्तर, इत्र, शकर, आबादी, मुहकमा, मुहताज, पौदा, निहाल, अरमान, मुराद, डफ़, अंजीर, हम्माम, पहलवान, क़लाबाज़ी, पोशाक, गोशवारा, क़त्ल, क़ाबिल, जहन्नम, तबाही, शफ्तालू, शलजम, बेहतर, तौबा, नमाज़, ख़ैर, ख़ैरियत, दास्तान, अफ़साना, चोबदार, खिदमत, ख़िदमतगार, बुनियाद, आशिक़, माशूक़, महबूब, कमीना, ख़ौफ़, अदा, नाज़, पैमाना, वास्ता, सतर, निगाह, निगहबान, मामूली, एहसान, शुक्रिया, शामिल, जाहिल, सनद, साबित, सबूत, वजह, सबब, सुरख़ाब, खेज़ाब, अन्देशा, इनाम, ईमान, दीवान, फ़रियाद पलंगपोश, मंसूबा ।

विस्तार के भय से हम यही आठ-नौ सौ शब्दों की गणना कर रहे हैं। कितने अरबी-फ़ारसी शब्द हमारी बोली में आ चुके हैं, इसका अनुमान इसी बात

से किया जा सकता है कि बच्चों के लिए जो संक्षिप्त शब्द कोश "बाल शब्द-सागर" के नाम से कई वर्ष पूर्व हिन्दी के सुप्रसिद्ध साहित्यकार एवं समालोचक बाबू श्यामसुन्दर दास ने प्रकाशित किया था, उसमें लगभग चार-पाँच हज़ार अरबी-फ़ारसी शब्द सम्मिलित हैं। बाहर से आकर हिन्दुस्तान में बस जाने वाले मुसलमानों ने सत्तर-अस्सी हज़ार शुद्ध हिन्दी शब्द, हिन्दी मुहावरे, हिन्दी कहावतें, टकसाली हिन्दी के टुकड़े अपना लिये और टकसाली हिन्दी के व्याकरण को भी अपना लिया। हिन्दुओं ने भी ऐसे अरबी-फ़ारसी शब्दों को अपना लिया जो शताब्दियों के मेल-जोल से टकसाली हिन्दी का अंश बन चुके थे। इसी मिली-जुली हिन्दी का नाम बाद को उर्दू पड़ गया। उर्दू शब्द शाहजहाँ के काल में पहले-पहल फ़ौज के लिए प्रयोग किया गया था। मुग़ल फ़ौज का नाम था उर्दू-ए-मोअल्ला अर्थात् महान् सेना। इस फ़ौज के साथ बहुत बड़ा बाज़ार था जो उर्दू बाजार (फ़ौजी बाज़ार) कहलाता था। इस बाज़ार का अस्सी-नब्बे प्रतिशत व्यापार हिन्दुओं के हाथ में था। अधिकांश मंडियाँ, आढ़तें और दूकानें हिन्दू महाजनों की थीं। वस्तुओं के क्रय-विक्रय के साथ शब्दों का लेन-देन भी शुरू हो गया और इसी तरह मुसलमानों ने सत्तर-अस्सी हजार शुद्ध हिन्दी शब्द और हिन्दी भाषा के समस्त टुकड़े और नियमावली अंगीकार कर ली।

शहर की बोली की नोक-पलक दुरुस्त करने में धर्म और शिक्षित वर्ग का बड़ा हाथ होता है। चूँकि मिली-जुली हिन्दी अर्थात् उर्दू, अब दिल्ली शहर और बाद को दूसरे शहरों और कस्बों की बोली बन गयी और इस बोली को रचने और सँवारने में उन मुसलमान घरानों की सेवाएँ प्राप्त हुईं जिनमें पुरुष और स्त्री सभी पढ़े-लिखे होते थे और जो गँवारपन का भी शिकार नहीं हो सकते थे। केवल वे ही अरबी-फ़ारसी शब्द मिली-जुली हिन्दी में आये जिनसे कान के परदों को ठेस न लगे। इन घरानों ने उर्दू को न गँवारों की भाषा बनने दिया और न मौलवियों की ही भाषा। पढ़े-लिखे सभ्य मुसलमान घराने जनसाधारण से अलग या कटे-कटे नहीं रह सकते थे। बोली के विषय में जन-साधारण के समीप ही रहे होंगे। बोली के सम्बन्ध में दिल्ली की या जहाँ-जहाँ दिल्ली की बोली पहुँच चुकी है वहाँ की जिन्दगी को टुकड़े-टुकड़े नहीं होने दिया होगा। अवश्य ही यह ज़िन्दगी बोली के मामले में टुकड़े-टुकड़े हो

जाती अगर ये मुसलमान घराने एक ओर से देहातीपन या गँवारपन को न रोकते और दूसरी तरफ़ हिन्दी से ताल-मेल न खानेवाले बड़े-बड़े मोटे-मोटे उन अरबी-फ़ारसी शब्दों को हिन्दी में ठूँसते जो हिन्दी के गले में शुष्क निवाले की तरह अटक कर रह जाते। इन मुसलमान घरानों ने ज़बरदस्ती या धाँधली से अंधाधुंध अरबी-फ़ारसी शब्दों को अपनी हिन्दी में फटकने न दिया होगा। इन्हें उस भाषा को परवान चढ़ाना था जो जनसाधारण की भाषा थी। लीजिए, लगे हाथों इस बात का भी जवाब मिल गया कि उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य क्यों नहीं होता है। उर्दू का वह भाग जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों की बहुतायत होती है, उर्दू साहित्य का एक बटे सौ भाग है। बोल-चाल के रूप में उर्दू भाषा शताब्दियों तक साँचे में ढलती रही, तब कहीं जाकर उर्दू में पहला शेर कहा गया और उर्दू कविता में लोगों ने अपनी बोली की गूँज और झनकार सुनी। वातावरण और हृदयों का सन्नाटा दूर हो गया। घर-बार और बाज़ार की भाषा ने कविता की देवी का रूप धारण कर लिया।

हाँ, तो अरबी-फ़ारसी के वे ही दो-चार हज़ार शब्द उर्दू में सम्मिलित किये गये जिनकी बनावट और जिनका रूप-रंग और जिनकी आवाज़ पचासों हज़ार शुद्ध हिन्दी शब्दों से मिलती थी। शुद्ध हिन्दी का एक शब्द ऐसा नहीं होता जिसमें हर अक्षर की पूरी और अलग आवाज़ सुनाई दे। इसी तरह की ध्वनि वाले अरबी-फ़ारसी शब्द उर्दू में अपनाये गये।

दिल्ली में उर्दू साहित्य के जन्म लेने से पूर्व जो भाषा प्रचलित थी, उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द शुद्ध हिन्दी शब्दों से इस तरह घुल-मिलकर ज़बानों पर चढ़ गये थे कि उन्हें एक-दूसरे से अलग किया ही नहीं जा सकता था। बहुत-से अरबी-फ़ारसी शब्द तो ऐसे थे जिनके कई-कई मतलब होते थे। ये शब्द टकसाली बोली और महावरों की जान थे। उदाहरणस्वरूप "साफ़" शब्द ले लीजिए और इसके रंगारंग प्रयोग देखिए—

(१) तुमने बात समझा दी मेरा दिल साफ़ हो गया।
(२) उसने रुपया देने से साफ़ इनकार कर दिया।
(३) रामचन्द्र की लिखावट बहुत साफ़ है।
(४) तुम्हारा लिखा हुआ मुझसे साफ़ नहीं पढ़ा जाता।

(५) साफ़-साफ़ बताओ, तुम क्या चाहते हो।
(६) जादूगर के हाथ की सफ़ाई देखने के क़ाबिल है।
(७) मोटेमल पाँच सेर खाना साफ़ कर गय।
(८) सफ़ाई के गवाह कल पेश होंगे।
(९) मेरा हिसाब साफ़ हो गया।
(१०) दाग़ का मिसरा है "साफ़ छुपते भी नहीं, सामने आते भी नहीं।
(११) साफ़ बात तो यह है।
(१२) उनकी नीयत साफ़ नहीं है।
(१३) घोड़ा दो गज़ की टट्टी साफ़ कूद गया।
(१४) एक बार मैं अपने एक मुसलमान दोस्त की दावत में शरीक था। वे चमचे से खा रहे थे, मैं हाथ से। जब मिठाई आयी तो मुझे हाथ धोने के लिए उठना पड़ा और मैंने उनसे कहा, भाई तुम्हारे हाथ तो साफ़ हैं। उन्होंने कहा, हाथ भी साफ़ हैं और दिल भी साफ है। मैंने कहा, जी हाँ, हाथ भी साफ़ हैं, दिल भी साफ़ है और दिमाग़ भी साफ़ है।

"ख़राब" शब्द लीजिए और उसके भिन्न-भिन्न प्रयोग देखिए—

(१) बड़ा ख़राब आदमी है।
(२) सैकड़ों आदमियों की दावत थी और आये कुल दस-बारह आदमी। बहुत-सा खाना ख़राब हो गया।
(३) खाने के सजे-सजाये थाल में छिपकली गिर पड़ी। कुल खाना ख़राब हो गया।
(४) बुख़ार में मुँह का मज़ा ख़राब हो जाता है।
(५) वह कीचड़ में गिर पड़ा और उसके कुल कपड़े ख़राब हो गये।
(६) वह लड़कपन से ही ख़राब संगत में पड़ गया था।
(७) हमारा वक्त ख़राब न कीजिए।
(८) वकील की ग़लत बहस से हमारा मुकदमा ख़राब हो गया।
(९) हाकिम ने बड़ा ख़राब फ़ैसला दिया है।
(१०) उसके इम्तहान का नतीजा बड़ा ख़राब निकला।
(११) यहाँ का जलवायु ख़राब है।

(१२) तुम ख़ुद भी ख़राब हो और दूसरों को भी ख़राब करोगे।

(१३) उर्दू का प्रसिद्ध शेर है—

यह जो चश्म-पुरआब हैं दोनों,
एक ख़ाना ख़राब हैं दोनों।

"ग़ज़ब"—

(१) ग़ज़ब की तक़रीर थी।

(२) **ग़ज़ब की आँख तो है उल्फ़त की नज़र न सही।**

(३) आप क्या ग़ज़ब ढा रहे हैं।

(४) ऐसा कीजियेगा तो ग़ज़ब हो जायेगा।

(५) ख़ुदा का ग़ज़ब है।

(६) ग़ज़ब का सैलाब आया।

(७) यह क्या ग़ज़ब है!

"रंग"—(१) रंग लाना; (२) रंग उड़ाना; (३) रंग जमाना; (४) रंग बांधना; (५) रंग पकड़ना; (६) रंग बदलना; (७) रंग चमकाना; (८) रंग-तबीयत; (९) रंग-ए महफ़िल; (१०) यह शेर ग़ालिब के रंग में है; (११) रंग-ढंग; (१२) रंग मलना; (१३) रंग खेलना; (१४) रंग उछालना।

"नाम"—(यह शब्द संस्कृत भी है और फ़ारसी भी)

(१) नाम रखना; (२) नाम उछालना; (३) नाम कमाना; (४) नाम करना; (५) नाम लेना; (६) नामी गरामी; (६) नाम से काँपना; (७) क्या नाम कि; (८) नाम बनाम; (९) बराये नाम; (१०) नामवाला; (११) नाम चमकना; (१२) नाम तक न लेना; (१३) नाम-ए-ख़ुदा।

"दाम"—(१) दाम लगना, (२) दाम उठना; (३) दाम बढ़ना या घटना; (४) दाम चढ़ना; (५) दाम उतरना; (६) दाम के दाम; (७) दाम वसूलना; (८) मुनाफ़ा तो नहीं हुआ लेकिन दाम के दाम निकल आये; (९) दाम लिखा हुआ है; (१०) दाम बहुत देने पड़े; (११)

आम के आम गुठलियों के दाम; (१२) दाम गिरना; (१३) दाम मारना; (१४) बे-दामों मोल ले लेना।

यह हाल तो सिर्फ छः शब्दों का है जिनके इतने प्रयोग गिनवाये गये हैं। अगर इन अरबी-फ़ारसी शब्दों को हम अपनी बोली से निकाल दें तो इन थोड़े-से शब्दों के स्थान पर अनेक शब्द गढ़ने पड़ेंगे और हमारी बोली बिगड़ कर रह जायेगी। इसी तरह कई सौ और भी अरबी-फ़ारसी के शब्द हैं जो हमारी बोली में खप चुके हैं। अगर हम अरबी-फ़ारसी के ऐसे सब शब्द निकाल दें तो हमें हज़ारों शब्द गढ़ने पड़ेंगे और बोली का मज़ा भी जाता रहेगा। बात बनने के बदले बिगड़ जायेगी। हम ज़बान के कुछ ऐसे टुकड़ों की फिह-रिस्त नीचे दे रहे हैं जिनमें एक शब्द अरबी-फ़ारसी का है और दूसरा या तो शुद्ध हिन्दी का शब्द है या शुद्ध संस्कृत का। उर्दू कविता अभी आरम्भ नहीं हुई थी और उससे कई सौ बरस पहले से आजतक ये टुकड़े हिन्दी भाषाभाषियों की ज़बान पर चढ़े हुए हैं।

शादी-ब्याह, हँसी-खुशी, हित-मुद्दई, खोज-ख़बर, गाँठ-गिरह, रंग-रूप, रंग-पानी, रंग-ढंग, राग-रंग, धन-दौलत, गाली-गुफ्तार, हँसी-मज़ाक, इज्ज़त-पानी, बाल-बच्चे, क़िस्सा-कहानी, हल्वा-पूरी, देर-सवेर, सुबह-सवेरे, काग़ज़-पत्तर, जी-जान, नाक-नक़शा, नोक-झोंक, नोक-पलक, दंगा-फ़साद, हाट-बाज़ार, चोली-दामन, लाज-शरम, पट्टीदार-पहरेदार, थानेदार, जगत-उस्ताद, पूजा-नमाज़, दीन-धरम, बे-लाग, बे-धड़क, बे-सुध, बे-भाव, खुले-बन्दों, धोके-बाज़, मिठाई-नमकीन, सूद-ब्याज, पीक-दान, सिंगार-दान, चादर-दोपट्टा, चोर-बाज़ार, गिरह-कट, बैठक-बाज़, दम-भर, बे-धरम, दान-ख़ैरात, जोड़-जमा, नशा-पानी, राम-रहीम, साधू-फ़क़ीर, नाश्ता-पानी, तिड़ी-बाज़, छीना-झपट, मूल-दाम, रोब-दाब, नौकर-मालिक, नफ़ा-घाटा, खुले-आम, दरिया-पहाड़, साधू-बावा, बू-बास, बालबीका, चौराहा, बनिया-बक्काल, सादा कपड़ा, सीधा-सादा, बस-एख़्तियार, जोर-बस, राह-बाट, लालपरी, जोड़ा-जामा, सोहबत-संगत, शर्बत-पानी, दाना-पानी, हुसेर-सागर, अलीगढ़, मुज़फ्फ़रनगर, अलीनगर, मछलीशहर, छतरमंजिल, मोतीमहल, मरहम-पट्टी, पागलख़ाना, चिड़िया-ख़ाना, फटेहालों, अन्दर-बाहर, परमासा, खेल-तमाशा, हाल-चाल, ख़ासी-

ज़ुकाम, आदमी-जन, अच्छा-ख़राब, राज-महल, खुले-ख़जाने, मोम-बत्ती, आराइश, शुभ-सायत, नेक-महूरत, घोड़-सवार, पट्टे-बाज़, मोटा-महीन, बारीक-चावल, जूती-पैज़ार, सरपंच, तीन-चार, दलबंदी, हज़ार बरस।

निम्नलिखित फ़िकरों, मिसरों, मुहावरों, और शेरों में अरबी-फ़ारसी के साथ हिन्दी शब्दों का मेल ध्यान देने के योग्य है—

एड़ी-चोटी का ज़ोर लगाना, ख़ून-पसीना एक करना, ख़ून होना, ख़ून करना, ख़ूबी, दिल को दिल से राह होती है, दिल से उतर जाना, दिल में घर करना, दिल आ जाना, जान का जंजाल, दिल भर आना, बड़ी मुसीबत है, बड़ी मुश्किल है, शामत आयी हुई है, ख़ुदा ख़ैर करे, जवान-जहान, मान न मान मैं तेरा मेहमान, अब आप चलते-फिरते नज़र आइए, होश की दवा करो, जवानी दीवानी, जो शरारत करेगा उसकी खूब ख़बर ली जायेगी, ख़ाक में मिलाना, नयी जवानी मांझा ढोला।

मिसरे—ख़ाब था जो कुछ कि देखा, जो सुना अफ़साना था—

तबीयत उधर नहीं जाती, (ग़ालिब)

दो·चार शेर भी मुलाहिज़ा हो—

मिटा मिटा के मुझे ख़ाक में मिला दोगे।
ख़ुदा जो पूछेगा इसका जवाब क्या दोगे॥
सड़क पै सुरखी कुटती देखी।
मुफ़्त की दौलत लुटती देखी॥
हमारी तरफ़ अब वह कम देखते हैं।
वह नजरें नहीं जिनको हम देखते हैं॥
ज़माने के हाथों से चारा नहीं है।
ज़माना हमारा तुम्हारा नहीं है॥

इसी तरह के हज़ारों फ़िकरे और जुमले हमारी भाषा में ऐसे हैं जिनमें से हम अरबी-फ़ारसी शब्द निकालें तो हमारी बोली बिगड़ जायेगी। जैसे राह फ़ारसी का शब्द है, इसे अगर हम अपनी भाषा से निकाल दें तो हम यह नहीं बोल सकते–राह पर लगना, राह पर लाना, अपनी राह लगो, राह या रास्ता

लेना, राह कठिन है, राह चलते दिल में राह करना, राह में काँटे बिछाना, राह देखना, राह भूलना, राह न चलना, राह पाना, राह या रास्ता देना, राह छोड़ना, इधर राह कसे भूल बैठे ?

कुछ और वाक्यों में से अरबी-फ़ारसी शब्द अगर हम निकाल लेना चाहें तो हमारी बोली का बुरा हाल होगा।

(१) दिल ने दुनिया नयी बसा डाली, और हमें आजतक ख़बर न हुई; (२) तुम्हें कुछ ख़बर भी है; (३) भाई, खूब आये; (४) वह जो काबू में ही नहीं आये; (५) आज बाज़ार बंद है; (६) खुलता किसी पै क्यों मेरे दिल का मोआमला; (७) शेरों के इन्तख़ाब ने रुसवा किया मुझे; (८) मुझ पर रोब न जमाइए; (९) मैं उनके रोब में आ गया; (१०) मेरा बच्चा बीमार है; (११) होश की दवा करो; (१२) चुग़ली खाना बहुत बुरी बात है; (१३) जी जान से कोशिश करो; (१४) ख़ैर, देखा जायगा; (१५) आजकल वह मुझपर बहुत मेहरबान हैं; (१६) आप अजब आदमी हैं; (१७) हँसी-खुशी जिन्दगी काट दो; (१८) ख़रबूज़े से ख़रबूज़ा रंग पकड़ता है; (१९) किफ़ायत करना सीखो; (२०) तुम हज़ार मना करो, वह अपनी आदत से बाज़ नहीं आयगा; (२१) दीवार पर सफेदी फेरी जा रही है; (२२) यह आदमी सियाह-सफ़ेद का मालिक है; (२३) मैदान साफ़ है; (२४) यह लड़का हमारे घर का चिराग़ है; (२५) दवा पी लो; (२६) इलाज करवाओ; (२७) नाखून कटवा लो; (२८) मेरा बड़ा हर्ज हुआ; (२९) यह नया हुक्म जारी हुआ है; (३०) शोर मत मचाओ; (३१) मुझे मालूम नहीं; (३२) अब उसका ब्याह कर दो; (३३) बड़ी बदनामी हुई; (३४) ख़र्च कम करो; (३५) हैसियत बिगड़ गयी।

अब से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व दिल्ली और लखनऊ में जब उर्दू कविता बढ़ी तो बाढ़ की तरह बढ़ी क्योंकि इस कविता में जन-भाषा के हज़ारों ऐसे टुकड़े हैं जो करोड़ों व्यक्तियों की जिह्वा पर अकबर के समय से ही चढ़े हुए थे। उर्दू कविता ने हिन्दी के एक शब्द का भी परित्याग नहीं किया और अरबी-फ़ारसी के अधिक से अधिक ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जो ज़बानों पर चढ़ चुके थे। अपने जनम दिन से ही उर्दू कविता की लोक-प्रियता का यही कारण

है। दो-तीन सौ बरस तक यही अरबी-फ़ारसी शब्द सिर्फ हमारी बोली में काम आ चुके हैं। घर की बोली, बाज़ार की बोली, हिन्दू-मुसलमान के आपस की बोली, कारबार की बोली, हर प्रकार और हर भाँति की बोली में जब हिन्दी शब्दों और मुहावरों के साथ यह अरबी-फ़ारसी शब्द शेर के साँचों में ढलने लगते हैं तो सुननेवाले फड़क जाते हैं और ऐसा महसूस करते हैं कि ग़ालिब के शब्दों में —

वाह री तक़दीर की ख़ूबी कि जो उसने कहा,
मैंने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में है।

किन्तु यह समझना भ्रम होगा कि हिन्दी शब्दों में केवल अरबी और फ़ारसी शब्दों को मिला देन से उर्दू बनी है। शत-प्रतिशत हिन्दी शब्दों से भी बनी हुई उर्दू गद्य और कविता की किताबें मिलती हैं। इन किताबों में एक भी अरबी-फ़ारसी का शब्द नहीं है। वस्तुतः खड़ी बोली हिन्दी को एक विशेष ढंग से या एक विशेष शैली में प्रयोग करना उर्दू है जो निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जायेगा।

थमते थमते थमेंगे आँसू ·······रोना है ये कुछ हँसी नहीं है—(मुसहफ़ी)

तारा टूटते सबने देखा यह नहिं देखा एक ने भी।
किसकी आँख से आँसू टपका किसका सहारा टूट गया॥

(आरज़ू, लखनवी)

खिसियानी हँसी हँसना एक बात बनाना है।
टपके हुए आँसू को पलकों से उठाना है॥

(आरज़ू, लखनवी)

मेरे होते हुए औरों को इतना सताया जायगा।
यह तो मुझसे देखती आँखों न देखा जायगा॥

बदनचोर चितचोर तो थे ही क्या तुम समयचोर भी हो।
यह तो बताओ लिये जाते हो साथ अपने यह रात कहाँ॥

झिल-मिल, झिल-मिल तारों ने भी पायल की झनकार सुनी थी,
चली गयी कल छमछम करती पिया मिलन की रात कहाँ।
प्रेम पुजारी नेम धरम से जीना था,
तोड़ दिया हर संजम तुझको क्या सूझी।
छिड़ गयी उन आँखों की बात,
दुनिया में अब दिन है कि रात।

ये पाँचों शेर मेरे हैं।

बिगड़ें न बात बात पर क्यों जानते हैं वो,
हम वो नहीं कि जिसको मनाया न जायगा।—(हाली)

वह नहीं भूलता जहाँ जाऊँ—हाय मैं क्या करूँ कहाँ जाऊँ।—(नासिख़)

बात भी पूछी न जायेगी जहाँ जायेंगे हम,
तेरी चौखट से अगर उट्ठे कहाँ जायेंगे हम॥

(महशर लखनवी)

रात चली है जोगन होकर—ओस से अपने मुँह को धोकर,
लट, छिटकाये बाल सँवारे—मेरे काली-कमलीवाले।

(शाद, अज़ीमाबादी)

यह जो महंत बैठे हैं दुर्गा के कुण्ड पर,
अवतार बन के कूदेंगे परियों के झुण्ड पर।

(इंशा)

बोझ वो सर से गिरा है कि उठाये न उठे।
काम वह आन पड़ा है कि बनाये न बने॥—(ग़ालिब)

किस तरह बन में आँख के तारे को भेज दूँ।
जोगी बना के राजदुलारे को भेज दूँ॥—(चकबस्त)

तेरी चाल टेढ़ी तेरी बात उल्टी,
तुझे मीर समझा है यां कम कसू ने।

(मीरतक़ी 'मीर')

मुँह से निकली हुई पराई बात—(आतश)
हो गयी एक-एक घड़ी तुझ बिन पहाड़—(हाली)
क्या बने बात जहाँ बात बनाये न बने—(ग़ालिब)
रात गये सुला दिया रात रहे जगा दिया—(जिगर)
कभी कुछ रात गये और कभी कुछ रात रहे—(रियाज़ ख़ैराबादी)
सुहाग हिन्द का तेरी चिता में जलता है—(चकबस्त)
अंधे को अँधेरे में बड़ी दूर की सूझी—(इंशा)
उन्हें चाहा न पाया अब किसी को और क्या चाहें—(जगत मोहनलाल खाँ
झोंके खाने सँभलते रहने के सिवा—(यास भगाना)
कुछ तो कहिए कि लोग कहते हैं—(ग़ालिब)
ऐसा भी कोई है कि सब अच्छा कहें जिसे—(ग़ालिब)
इधर चमकी उधर सुलगी यहाँ फूँका वहाँ फूँका—(दाग़)
घर जला सामने पर मुझसे बुझाया न गया—(मीर)
भरे हैं आँख में आँसू उदास बैठे हो—(नातिफ़ लखनवी)
सब ठाट पड़ा रह जायेगा जब लाद चलेगा बंजारा—(नज़ीर)

मेरा एक मिसरा है—

थके-थके से ये तारे थकी-थकी-सी ये रात।

अब गद्य की ऐसी पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं जिनमें एक भी फ़ारसी शब्द नहीं है—

(१) चाँदनी खेत कर आयी; (२) लड़ाई में सैकड़ों लोग काम आये; (३) देखना भाई यह छेड़छाड़ अच्छी नहीं; (४) हाथ पर हाथ धरे बैठे हो; (५) बातें बनाने से बात नहीं बनेगी; (६) बात से बात निकलती है; (७) काम में काम किये जाओ; (८) दिन को दिन न समझो, रात को रात न समझो; (९) दिन डूब चला था; (१०) रातों रात धावा बोल दिया; (११) मुझे तुमने कहीं का न रक्खा; (१२) आज से मुझे कान हो गये; (१३) मैंने बड़े बड़ों की आँखें देखी हैं।

ये बहुत थोड़े से उदाहरण हैं और ऐसे बीसों हज़ार उदाहरण दिये जा सकते हैं जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दी शब्दों को एक विशेष ढंग से बोलने या लिखने का नाम उर्दू है। यह ढंग या शैली ही उर्दू भाषा की आधार-शिला है। यही वह ढंग है जिसे हम उर्दू का साँचा कह सकते हैं।

दिल्ली में जो खड़ी बोली शहंशाह अकबर के समय से बोली जा रही थी, उसे पढ़े-लिखे मुसलमान घरानों में सँवारा और रचाया जा रहा था और इन्हीं घरानों में उर्दू ने जन्म लिया और फिर औरंगज़ब के बाद यह बोली कविता के साँचे में ढलती शहरों-शहरों और कस्बों में फैल गयी और पिछले दो सौ बरसों में कई हज़ार हिन्दुओं और मुसलमानों ने उस ज़बान को रचाने और सँवारने में एक-दूसरे का हाथ बँटाया।

अब हम उन सांस्कृतिक मूल्यों पर दृष्टिपात करेंगे जो उर्दू कविता और गद्य ने हमें दिये।

साहित्य एक महान् कला है। कला का गुण यह है कि वह हमारी चेतना और मस्तिष्क को इस प्रकार जागरूक कर दे कि संसार की हर वस्तु, हर दृश्य, हर घटना सुन्दर दिखाई पड़ने लगे और हमें उससे प्रेम हो जाये। उर्दू कविता ने हमारे मस्तिष्क तथा हमारे चरित्र और हमारे विचार को सँवारने और रचाने में बड़ा हिस्सा लिया है। संकीर्ण विचार और कट्टरपन और वे सारी भावनाएँ जो मनुष्य और मनुष्य के बीच में एक खाई खोदती हैं— इनको हटाने और मिटाने में उर्दू साहित्य ने बड़ा काम किया। जिस तरह कबीर साहब ने राम और रहीम को एक बताया, उसी तरह उर्दू शायरी ने क़ुफ्र और इस्लाम के भेद को मिटाकर रख दिया। उर्दू कविता की दूसरी देन जीवन के प्रति आकर्षण पैदा करना है। मानव में जो निर्बलता है, उर्दू शायरी हमारे दिलों में उसके लिए दया और सहानुभूति की भावना पैदा करती है। वायज़, शेख़ और अन्य धार्मिक आडम्बरों का उर्दू कविता ने सदैव मज़ाक उड़ाया है। ऐसे बहुत-से धार्मिक कठमुल्ले शारीरिक सुखों और भोग-विलास को और मानव प्रकृति को समझे बिना ही गुनाह कह दिया करते हैं। उर्दू कविता हमें बताती है कि नेकी और शराफ़त का यह तकाज़ा नहीं है कि आदमी हर प्रकार का सुख अपने ऊपर हराम कर ले। इसीलिए हजारों

शेरों में यह कहा गया है कि जिन चीज़ों को क़ुफ्र व गुनाह कहा जाता है वे चीज़ें भी जीवन को सँवारती हैं क्योंकि उर्दू शायरी में क़ुफ्र व गुनाह का अर्थ है, दुनिया और जीवन से प्यार। माया को सत्य तक पहुँचने का साधन माना गया है। उर्दू काव्य में सबसे बड़ा स्थान प्रेम को दिया गया है। वासना को बहुत बुरा बताया गया है, लेकिन प्रेम को बहुत अच्छा बताया गया है। प्रेम प्रारंभ होता है किसी रंग-रूप या किसी व्यक्तित्व पर मोहित हो जाने से। अगर इस भाव में दृढ़ता और आत्म-शुद्धि नहीं है, तब यह भाव वासना है लेकिन अगर दृढ़ता और आत्म-शुद्धि है तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि शारीरिक सुख प्राप्त करने के बाद भी प्रिय से उदासीनता नहीं हुई। भौतिक सुख प्राप्त करने के बाद भी प्रिय की कल्पना हृदय और मस्तिष्क पर छायी रहेगी। धीरे-धीरे प्रिय की प्रिय कल्पना उन्नत होती जायगी। जीवन और सौन्दर्य सृष्टि की कल्पना में परिणत हो जायेंगे और इस तरह एक व्यक्ति से प्रेम करके हम सृष्टि से प्रेम करना समझते हैं। फिर यह भाव अस्तित्व की तल्लीनता और उस बुनियादी सत्य की चेतना को हमारे अन्दर पैदा कर देगा जिससे हम भौतिक संसार और भौतिक जीवन को दिल समझने लगते हैं। यह सब प्रेम का ही प्रभाव है। इस आखिरी मंजिल पर पहुँच कर हम तसव्वुफ़ के उस रहस्य का अनुभव करते हैं जिससे उर्दू कविता मालामाल है।

उर्दू कविता और भाषा हमें अपने जीवन में हृदय-ग्राहिता, रहन-सहन की सुन्दर शैली और सुरुचि उत्पन्न करती है। इस प्रकार हमारे जीवन में नागरिकता को स्थान मिलता है। जब तक मुद्रण-यंत्र का आविष्कार नहीं हुआ था, उर्दू कविता को सुनने-सुनाने की प्रथा बहुत थी। विशेषतया कसबों या शहरों में आये दिन मुशायरे या शादी की सोहबतें होती रहती थीं। इन मुशायरों में उठने-बैठने के अपने नियम और अपने ढंग होते थे, दाद देने के भी ढंग थे, कविता में दोष या अशुद्धि निकालने के भी ढंग थे। इस प्रकार मस्तिष्क इतना तेज़ हो जाता था कि हाज़िर जवाबी और नोंक-झोंक के फूल बरसने लगते थे। उर्दू शायरी ने हज़ारों लतीफ़ों को जनम दिया। फ़िकरा बनाने या चुस्त करने के सैकड़ों तरीक़े हमें बताये। बातचीत का वह गुर उर्दू कविता ने हमें बताया कि कहनेवाले और सुननेवाले दोनों

फड़क उठें। भाषा और वर्णन में रवानी, मौक़े के हिसाब से उचित शब्दों का चयन, इन सारी चीज़ों का वर्णन उर्दू शायरी में प्रचुर भाषा में मिलता है। साधारण से साधारण शब्दों में उर्दू का कवि जादू भर देता है। एक, ऐसे शब्द में जिसे हम एक बूँद के बराबर कह सकते हैं कवि उसमें अथाह और अपरम्पार सागर भर देता है। कबीर की उल्टवासियां प्रसिद्ध हैं। उर्दू कवियों ने भी उल्टवासियों की सहायता से परम सत्य तक पहुँचने का प्रयत्न किया है। उर्दू कविता ने हमारे नागरिक जीवन के सैकड़ों वर्षों की सभ्यता को सैकड़ों कोणों से आइना दिखाया है। उर्दू कविता अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के बाद तेज़ी से परिवर्तन होनेवाले समय का बराबर साथ देती रही। उर्दू काव्य सन् १८५७ के बाद से ही पाश्चात्य साहित्य से पर्याप्त प्रभावित होता रहा। उस प्रकार उर्दू का कार्य-क्षेत्र काफी बढ़ता रहा। कविता के नये विषयों का चुनाव हुआ। पुरानी उर्दू कविता में प्रकृति-वर्णन पर कम ध्यान दिया गया था। मगर इधर की साठ-सत्तर वर्ष की उर्दू कविता में प्रकृति-वर्णन पर विशेष ध्यान दिया गया। प्रकृति-वर्णन पर उर्दू में बहुत सराहनीय कार्य होता रहा। देश-प्रेम और स्वतंत्रता-प्रेम ने उर्दू कवियों से अमर कृतियाँ और अमर कविताएं कहला डालीं।

उर्दू में स्वतंत्र छंद और मुक्त छंद बीसवीं शताब्दी में प्रारंभ होते हैं और अब इस प्रकार की कविता बहुत आगे बढ़ गयी है। इसी युग में उर्दू रुबाई भी काफी आगे बढ़ गयी। इसी युग में एक और महान् कार्य यह हुआ कि आरज़ू, लखनवी और कुछ उनके समकालीनों ने कुछ नये प्रयोग किये। उन्होंने कविता में ठेठ हिन्दी के शब्दों और मुहावरों से ही काम लिया और एक भी अरबी-फ़ारसी शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ। व्यंग्य काव्य भी इसी युग में अच्छी तरह पनपा। इसी युग में अनुवाद का काम भी अधिक मात्रा में हुआ। संस्कृत और दूसरी भाषाओं की कविताओं और नाटकों का अनुवाद बड़े ही सुन्दर ढंग से उर्दू में हुआ।

भारतवर्ष की हर भाषा का गद्य साहित्य मुद्रण-यंत्र के आविष्कार होने के बाद बहुत उन्नत होता गया। संसार भर को गद्य का सबसे शानदार नमूना ग्रीक दार्शनिक प्लेटो ने दिया। यूनानी अन्य गद्य लेखकों ने भी बहुत सुन्दर

गद्य की रचना की। यूनानी भाषा के गद्य के पश्चात् लैटिन भाषा के लिखने वालों ने भी यूनानी गद्य से गद्य लिखना सीखा। जब अरब वालों ने यूनान और यूरोप के दूसरे देशों को जीता तो सैकड़ों यूनानी और लैटिन किताबों का अनुवाद अरबी जबान में किया और इस प्रकार अरबी भाषा में वहुत बड़े गद्य-साहित्य का आविर्भाव हुआ। ईरानवालों ने यूनानी, लैटिन और अरबी से गद्य की हज़ारों पुस्तकों का अनुवाद फ़ारसी गद्य में किया। इस तरह फ़ारसी गद्य भी बहुत समृद्धशाली हो गया। हिन्दुस्तान में संस्कृत भाषा में गद्य की पुस्तकें अवश्य हैं, लेकिन वे अधिक नहीं हैं। यही दशा पाली गद्य की भी है। साहित्यिक दृष्टिकोण से अबुलफ़जल की आईनेअकबरी बहुत महत्त्वपूर्ण किताब है। बावरनामा की गद्य-शैली भी बहुत सुन्दर है। इसके अतिरिक्त चूँकि मुसलमानों का सारा शासन-सम्बन्धी कार्य फ़ारसी में होता रहा, इसलिए फ़ारसी गद्य में बहुत काम हुआ और यह भाषा काफी फैलती रही।

प्रारंभ से लेकर आजतक की उर्दू कविता, गद्य की रामकहानी अव समाप्त होती है। यह न भूलना चाहिए कि समृद्धशाली और उन्नत देशों के समकक्ष में एशिया एक पिछड़ा हुआ महाद्वीप रहा है। यूरोप और अमरीका व्यापार और उद्योग में एशिया से बहुत आगे रहे हैं। इन देशों का साहित्य भी बड़ा समृद्धशाली रहा है। इंगलिस्तान के एक बहुत बड़े शायर ने लिखा था कि यूरोप के पचास साल चीन के एक पूरे युग से अधिक बेहतर, भरपूर और उन्नतिशील हैं। शताब्दियों के स्वप्न के वाद अब एशिया की नींद टूटी है और अब अफ्रीका की नींद भी टूट चुकी है। पराधीनता के बावजूद हिन्दुस्तान की भाषाएँ और उनका साहित्य काफी आगे बढ़ा है और अब तो बढ़ता ही जा रहा है। हिन्दुस्तान की अन्य भाषाएँ और उर्दू का महत्त्व तब दर्शनीय होगा जब भारत का जीवन हर दृष्टिकोण से समृद्धशाली हो जायेगा। हमारा सामाजिक, नागरिक और राजनीतिक जीवन भाषा की उन्नति पर ही अवलम्बित है। साहित्य न तो शून्य में तरक्क़ी करता है और न तो जीवन के अन्य अंगों के निर्बल होने से ही उन्नति करता है। ४३, ४४ करोड़ जनसमुदाय के जीवन के उन्नतिशील होने पर ही भारतीय भाषाएँ तरक्क़ी कर सकती हैं। यूरोप, अमरीका या संसार के अन्य देशों की पराधीनता हमारे लिए विष है। पाश्चात्य

देशों के साहित्य से घृणा करके हम बड़ा साहित्य पैदा नहीं कर सकते। भविष्य में तभी बड़ा साहित्य पैदा हो सकता है, जब हमारे चोटी के लेखक अधिक अंश तक पश्चिमी साहित्य का अध्ययन करें। एक ओर हमें वेदों से लेकर आजतक की सांस्कृतिक निधियों को अपनाना होगा और दूसरी ओर हमें पाश्चात्य देशों के साहित्य से भी भली प्रकार परिचय प्राप्त करना होगा। हमें अपने भूतकाल से बहुत कुछ सीखना है और यूरोप और अमरीका से भी बहुत कुछ सीखना है। ये ही वे दो पहिये हैं जिनके सहारे हमारे देश के जीवन और साहित्य का जलूस आगे बढ़ सकता है।

: १ :

दक्षिण देशीय काव्य

हिन्दी के पाठकों को यह बात कुछ विचित्र-सी लगेगी कि यद्यपि भाषा-शास्त्र की दृष्टि से उर्दू का आधार पश्चिमी उत्तरप्रदेश तथा पूर्वी पंजाब के हरियाना प्रदेश की प्राचीन भाषा शौरसेनी प्राकृत है और यद्यपि उर्दू साहित्य का मुख्य विकास उत्तर भारत में ही हुआ, तथापि इस भाषा में साहित्य-सर्जन के पहले नमूने हमें लगभग एक हज़ार मील दक्षिण में मिलते हैं। इस विरोधाभास की दो दृष्टियों से व्याख्या की जा सकती है।

दक्षिण में मुसलमान राज्यों की स्थापना सुल्तान अलाउद्दीन ख़िलजी की दक्षिण विजय से आरंभ होती है। उसके बाद मुहम्मद तुग़लक़ ने दिल्ली की बजाय दौलताबाद को राजधानी बनाकर उत्तर भारत का प्रभाव एकदम से दक्षिण में पहुँचा दिया। दिल्ली के सुल्तान तो फिर दिल्ली में आ बसे, लेकिन उनके साथ गये हुए लोग अधिकतर वहीं रह गये और उन्होंने दक्षिण में बहमनी राज्य की स्थापना की। इस प्रकार एक बार उत्तरी भारत की मुस्लिम संस्कृति का असर जो दक्षिण में पहुँचा तो वहाँ से फिर नहीं हटा और अब तक हैदराबाद उर्दू का एक प्रमुख केन्द्र है।

उत्तर से आनेवाले मुसलमानों की दरबारी तथा सांस्कृतिक भाषा यद्यपि फ़ारसी थी, किन्तु दक्षिण में आकर स्वभावतः ही उत्तर भारत के जन-साधारण की भाषा का महत्त्व अधिक हो गया; क्योंकि एक तो महत्त्वपूर्ण पदों के लिए उत्तर भारत की तरह फ़ारसी जाननेवाले लोग यहाँ उपलब्ध न हुए, दूसरे उत्तर भारत का ईरान से लगातार यातायात का जैसा सम्बन्ध था, वैसा दक्षिण भारत के लिए संभव न हुआ। फलतः जिस समय उर्दू भारत में बाज़ारी बोली से अधिक महत्त्व न रखती थी, उस समय दक्षिण में वह सांस्कृतिक माध्यम के रूप में प्रतिष्ठापित हो गयी।

दक्षिण में उर्दू के महत्त्व प्राप्त करने का एक और राजनीतिक कारण है। जिस समय उत्तर भारत में मुसलमान विजेता की हैसियत से सारा राज्यकाज अपने ही हाथों में लिये हुए थे, उसी समय से दक्षिण में तत्कालीन आवश्यकताओं से मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया जिसमे वे सफल भी हुए। दक्षिणी राज्यों में महत्त्वपूर्ण पदों पर अच्छी संख्या में हिन्दू—विशेषतः ब्राह्मण—रहे थे। (बहमनी राज्य का नामकरण भी गंगू ब्राह्मण के कारण हुआ।) दक्षिण के मुसलमान बादशाहों का अपने पड़ोसी हिन्दू राज्यों से भी अधिक मेल जोल रहा। फलतः दक्षिण के सुल्तानों ने हिन्दी को—जो उस समय की उर्दू से भिन्न न थी—अधिकाधिक महत्त्व देना शुरू किया।

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि कोई भाषा जब किसी अन्य प्रदेश में पनपती है तो अपने पूर्ववर्ती विशुद्ध रूप में नहीं रह पाती; उस पर स्थानीय भाषाओं और बोलियों का प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। दक्षिण की उर्दू पर तिलंगी (तेलुगु), कन्नड़ और महाराष्ट्रीय भाषाओं का भी कुछ प्रभाव पड़ा और दक्षिण की उर्दू में सर्वनामों, कारकों आदि की दृष्टि से उत्तर भारतीय उर्दू से कुछ अलगाव पैदा हो गया। उदाहरणार्थ, उसमें सकर्मक क्रिया के भूतकालीन रूप के पहले कर्ता कारक 'ने' का प्रयोग नहीं होता था। इसी प्रकार 'मुझ को' का दक्षिणी रूप 'मेरे को' है। 'हम' 'तुम' की बजाय वे लोग 'हमन' 'तुमन' का प्रयोग करते हैं। 'से' की बजाय दक्षिण में 'सेती' का प्रयोग मिलता है। उत्तर भारत की उन्नीसवीं शताब्दी की उर्दू तो बहुत ही फ़ारसीमुक्त हो गयी थी, किन्तु पुरानी हिन्दीमय उर्दू से भी अधिक संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों का प्रयोग दक्षिणी उर्दू में मिलता है। कुछ लोगों का यह विचार नितांत भ्रम-मूलक है कि दक्षिणी उर्दू, उर्दू भाषा का एक विकृत रूप है। दक्षिणी उर्दू अपने अंदर एक पूर्ण भाषा के गुण रखती है, उसे विकृत किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता।

दक्षिण में काव्य-सर्जन के प्रारंभिक रूप क्या थे, यह निश्चित रूप से नहीं जाना जा सका है, क्योंकि इसके लिए हमारे पास यथेष्ट सामग्री नहीं है। केवल अटकल के बल पर कहा जा सकता है कि प्रारंभिक कविता हिन्दी के दोहों

और छंदों में हुई होगी, जिसे फ़ारसी लिपि में लिखा जाता होगा और जिसमें फ़ारसी के शब्द कुछ अधिक रहते होंगे। किन्तु इस प्रकार की कविता उपलब्ध नहीं है। पुरानी से पुरानी पाण्डुलिपियों में भी जो कविता मिलती है, उसके बारे में कहा जा सकता है कि वह फ़ारसी लिपि और फ़ारसी छंदों में बँधी हुई हिन्दी कविता है। विषय के लिहाज़ से प्रारंभिक कविताएँ सूफ़ीवाद का प्रतिपादन दिखाई देती हैं और अधिकतर मसनवियों के रूप में मिलती हैं, यद्यपि बाद की दक्षिणी कविताओं में ग़ज़लों, मरसियों आदि का समावेश भी अच्छा ख़ासा हो गया था। सूफ़ी बुज़ुर्गों ने पद्य के अलावा गद्य में काफ़ी धार्मिक रचनाएँ कीं।

दक्षिण में बहमनी राज्य १३४८ ई० से लेकर १५२६ ई० तक रहा। इस अरसे में सूफ़ी संतों—गंजुल इस्लाम, ख्वाज़ा सैयद गेसूदराज़, शाह मीरानजी, मौलाना वजही आदि—की गद्य और पद्य की रचनाएँ मिलती हैं। कवि के रूप में शाह मीरानजी प्रसिद्ध हुए। शाह मीरानजी के पुत्र शाह बुरहानुद्दीन जानम भी अच्छे कवि थे और उन्होंने कई पुस्तकें लिखी हैं।

शाह मीरानजी का देहांत १४९७ ई० में हुआ। इन्होंने दो मसनवियाँ 'ख़ुशनामा' तथा 'ख़ुशनग़ज़िया' तथा एक अन्य पुस्तक 'शहादतुल-हक़ीक़त' लिखी है। इनके बारे में अधिक नहीं मालूम हो सका है। इनके पुत्र शाह बुरहानुद्दीन जानम (देहान्त १५८२ ई०) ने भी तीन-चार कविता-पुस्तकें लिखी हैं।

बहमनी राज्य के अंत के साथ दक्षिण में पाँच राज्य क़ायम हो गये। इनमें साहित्य और संस्कृति के उत्थान के विचार से बीज़ापुर का आदिलशाही वंश और गोलकुण्डा का कुतुबशाही वंश प्रसिद्ध रहा और इन्हीं दोनों राजवंशों के काल में दक्षिण में उर्दू की प्रारंभिक उन्नति हुई।

बीजापुर और गोलकुण्डा के दरबार

बीजापुर में इब्राहीम आदिलशाह १५८० ई० में शासनारूढ़ हुआ। यह राजा संगीत तथा कला का प्रेमी था। यह कवि न था, लेकिन इसके दरबार में मौलाना नुसरती तथा मुल्ला हाशिमी प्रसिद्ध कवि थे। नुसरती ने दो प्रसिद्ध

मसनवियाँ 'गुलशने-इश्क़' तथा 'अलीनामा' लिखीं। मुल्ला हाशिमी जन्मतः अंधे थे। इनकी एक मसनवी 'यूसुफ़ ज़ुलेख़ा' काफ़ी प्रसिद्ध है।

इब्राहीम आदिलशाह के पुत्र अली आदिलशाह के समय में भी बीजापुर में साहित्य की उन्नति होती रही। इसी के प्रताप के वर्णन में नुसरती ने फिरदौसी के शाहनामा की तर्ज़ पर मसनवी 'अलीनामा' लिखी और 'मलिकुश्शुअरा' की उपाधि प्राप्त की। अली आदिलशाह के दरबार में उस समय के अन्य प्रसिद्ध कवि भी प्रश्रय पाते रहे।

बीजापुर के दरबारों के समय में और गोलकुण्डा के क़ुतुबशाहियों के ज़माने में साहित्य की बहुत उन्नति हुई। गोलकुण्डा में बीजापुर से अधिक ही हुई। कारण यह था कि क़ुतुबशाही नरेश कवियों के प्रश्रयदाता होने के साथ ही ख़ुद भी कवि थे। सत्रहवीं शताब्दी में गोलकुण्डा का दरबार साहित्यिक उन्नति के लिए बराबर प्रसिद्ध रहा।

मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह—इस वंश में सबसे पहले दृष्टि सुल्तान मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह 'मआनी' पर पड़ती है, जिसने अपनी हिन्दू रानी भागमती के नाम पर भाग नगर (जिसे बाद में उसने हैदराबाद का नाम दे दिया) बसाया था। इसका शासनकाल १५८० ई० से १६११ ई० तक है। हाल में ही हैदराबाद से सुल्तान मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह का बृहत् काव्य-संग्रह प्रकाशित हुआ है। कविता के अतिरिक्त इसे संगीत, वास्तुकला आदि में भी गहरी रुचि थी। यह दकनी उर्दू, तेलुगु तथा फ़ारसी तीनों में कविता करता था। काव्य रूपों में मसनवियां, क़सीदे, तरजीबंद, मरसिए तथा रुबाइयां मिलती हैं। सरलता और माधुर्य क़ुली क़ुतुबशाह की कविताओं की विशेषताएँ हैं।

विषय के लिहाज़ से उर्दू काव्य के विकास में सुल्तान क़ुली क़ुतुबशाह की कविताओं का विशेष महत्त्व है। इससे पहले जो उर्दू कविताएँ मिलती हैं, वे सूफ़ी सिद्धान्तों का प्रतिपादन मात्र हैं, उनमें न स्वाधीन अभिव्यक्ति है, न विषय-बाहुल्य। इसीलिए उनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। इसके विपरीत सुल्तान मुहम्मद क़ुली क़ुतुबशाह की रचनाओं को वास्तविक अर्थों में साहित्यिक कोटि में रखा जा सकता है। इसके कारण निम्नलिखित हैं—

सबसे पहली बात तो यह है कि उन्होंने दकनी को फ़ारसी के प्रभाव से

बिलकुल मुक्त कर दिया। उन्होंने हिन्दी का बहुत प्रभाव लिया—हिन्दी के रूपकों और उपमाओं का प्रयोग किया, फ़ारसी शब्दों को भी हिन्दी रूप दे दिया और स्त्री की ओर से पुरुष के प्रति प्रेम-प्रदर्शन का आधार लिया, जो कि हिन्दी काव्य की विशेषता है। हिन्दी शब्दों का भी उन्होंने खुलकर प्रयोग किया है। ईश्वर की प्रशंसा भी ठेठ बोलचाल की भाषा में की है।

दूसरी बात यह है कि उन्होंने उर्दू काव्य को सूफ़ी आध्यात्मिक प्रेम के साथ ही भौतिक प्रेम के प्रदर्शन का भी माध्यम बनाया। उनके जीवन में भी शृंगार का तत्व काफ़ी था, इसलिए उनकी शारीरिक कविताओं में काफ़ी जान है।

उनकी तीसरी विशेषता स्थानीयता है, जिसके कारण उनके यहाँ विषय-बाहुल्य हो गया है और एकरसता पैदा नहीं होने पाती। उन्होंने भारतीय कथा साहित्य को भी पद्यबद्ध किया है, हिन्दू शूरवीरों का भी वर्णन किया है; हिन्दुओं के धार्मिक त्योहारों तथा रीत-रिवाजों का भी वर्णन किया है, हिन्दुस्तान के फलों, तरकारियों तथा शिकारी चिड़ियों पर भी मसनवियां लिखी हैं। लेकिन इस स्थानीयता के साथ उन्होंने अपने धर्म के सम्बन्ध में भी काफ़ी कविताएँ लिखी हैं।

साथ ही यह भी न भूलना चाहिए कि उनकी भाषा सत्रहवीं शताब्दी की दकनी उर्दू थी, जो अपने देश और काल में अत्यंत सरल समझी जाती थी, किन्तु आज हमारे लिए उसका समझना उतना सरल नहीं है। उदाहरणार्थ, उनके दो शेर दिये जाते हैं—

दिल माँग ख़ुदा किन कि ख़ुदा काम दिवेगा
तुमनन कि मुरादन के भरे जाम दिवेगा
करते हैं दावा शेर का सब अपनी तबअ सूँ
बख़्शा फ़सीह शेर 'मआनी' के तईं ख़ुदा

सुल्तान मुहम्मद क़ुतुबशाह—यह सुल्तान क़ुली क़ुतुबशाह के भतीजे और दामाद तथा उत्तराधिकारी थे। इनका शासनकाल १६११ ई० से १६२६ ई० तक है। इनकी समस्त रुचियाँ अपने चचा की भाँति थीं। इनके दो

दीवान हैं—एक फ़ारसी में और दूसरा दकनी उर्दू में। कविता का नमूना यह है—

सखी तू हर घड़ी मुझ पर न कर ग़ैज़
मुहब्बत पर नजर रखकर बिसर ग़ैज़

सुल्तान अब्दुल्ला क़ुतुबशाह—यह सुल्तान मुहम्मद क़ुतुबशाह के पुत्र तथा उत्तराधिकारी थे। यह स्वयं भी अपने पिता और पितामह की भाँति कवि तथा कलाप्रेमी थे और इनके दरबार में इब्न निशाती, ग़व्वासी, मुल्ला वजही आदि प्रसिद्ध कवि थे। अब्दुल्ला क़ुतुबशाह के नाम से अन्य विद्वानों ने भी कई विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें लिखी हैं और स्वयं उनके भी दो दीवान—एक फ़ारसी में और दूसरा दकनी उर्दू में—हैं। इनकी रचना का उदाहरण निम्नलिखित है—

तेरी पेशानी पर टीका झमकता
तमाशा है उजाले में उजाला

इब्ने-निशाती—यह सुल्तान अब्दुल्ला क़ुतुबशाह के दरबार में थे। इनकी मसनवी 'फूलबन' मशहूर है, जो दकनी भाषा में अच्छा प्रेम काव्य है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह एक फ़ारसी पुस्तक का उर्दू में पद्यबद्ध अनुवाद है। विशेष बात यह है कि इसमें मूल तथा कथा के साथ अलौकिक घटनाएँ भी बहुलता के साथ आती हैं। इस पुस्तक का रचना-काल १६६० ई० है।

ग़व्वासी—यह भी सुल्तान अब्दुल्ला क़ुतुबशाह के दरबारी शायर थे। इनकी दो मसनवियां—'सैफ़ुल मुलूक' तथा 'तूतीनामा' मशहूर हैं। सैफ़ुल मुलूक को अलिफ़ लैला के किसी फ़ारसी अनुवाद का भाषानुवाद कहा जाता है और 'तूतीनामा' का आधार संस्कृत की पुस्तक 'शुक सप्तति' को बताया जाता है। 'तूतीनामा' आधी फ़ारसी और आधी हिन्दी में की गयी रचना है।

वजही—अब्दुल्ला क़ुतुबशाह के ज़माने के सबसे प्रसिद्ध कवि मौलाना वजही थे। इनकी मसनवी 'क़ुतुब मुश्तरी' तथा गद्य पुस्तक 'सब रस' दकनी उर्दू के साहित्य में महत्त्वपूर्ण है। उस काल की शैली के अनुसार 'सब रस' का काफ़ी अंश पद्य में भी है। उर्दू की संभवतः यह सबसे पहली शृंखलाबद्ध कथा

है। इन दोनों रचनाओं के अतिरिक्त मुल्ला वजही का ही एक कुल्लियात (पद्य-संग्रह) भी है। मुल्ला वजही का देहांत १६४० ई० में हुआ।

इनके अलावा अब्दुल्ला क़ुतुब शाह के दरबार में मुल्ला क़ुतुबी, जुनैदी, तबई आदि कवि भी हुए हैं, जिन्होंने अधिकतर मसनवियाँ लिखी हैं।

सुल्तान अबुलहसन तानाशाह--तानाशाह गोलकुण्डा का अंतिम नरेश था। औरंगज़ेब ने १६८७ ई० में इसका राज्य जीत लिया और इसका शेष जीवन बंदीगृह में बीता। यह अब्दुल्ला क़ुतुब शाह का दामाद था और उसकी मृत्यु के बाद १६७४ ई० में गद्दी पर बैठा था। यह प्रकृति का विलासी था, किन्तु इसकी रुचि बड़ी परिष्कृत थी। इसके दरबार में भी विद्वानों का आदर था। मसनवी 'रूह-अफ़ज़ा' के रचयिता फ़ायज़ इसी के दरबार में थे।

बहरी--बीजापुर और गोलकुण्डा के राज्यों के अंतिम काल में सूफ़ी संत क़ाजी महमूद 'बहरी' भी प्रसिद्ध कवि हुए हैं। उन्होंने फ़ारसी और दकनी में मसनवियां, ग़ज़लें, कसीदे और रुबाइयाँ लिखीं। उनके शेरों की संख्या लगभग ५०,००० है। इनकी सब से प्रसिद्ध रचना 'मनलगन' है, जो सूफ़ी रंग की मसनवी है, किन्तु इसकी भाषा और भाव काफ़ी दुरूह हैं।

औरंगाबाद काल

औरंगज़ेब ने १६८० ई० में शिवाजी के मरने पर दकन पर चढ़ाई की और १६८६ ई० में बीजापुर तथा १६८७ ई० में गोलकुण्डा को मुग़ल साम्राज्य में मिला लिया और इस प्रकार इन दोनों स्थानों से साहित्य के केन्द्र उठ गये। फिर भी दकन से साहित्य का प्रस्थान कुछ देर से हुआ, क्योंकि अपने अंतिम समय में औरंगज़ेब ने अपना अधिकतर समय औरंगाबाद में ही बिताया। इसका कारण यह था कि उसे अंतिम समय में अधिकतर दक्षिण में ही लड़ाइयाँ करनी पड़ी थीं। औरंगाबाद में शाही सदर मुक़ाम होने के कारण वहाँ पर दक्षिण के समस्त गुणियों और विद्वानों का जमाव हो गया। इस प्रकार साहित्य के केन्द्र बीजापुर और गोलकुण्डा से हटकर औरंगाबाद आ गये। यही नहीं, दिल्ली के अमीर तथा विद्वज्जन भी आकर औरंगाबाद में बस गये।

औरंगाबाद थोड़े ही दिनों तक शाही सदर मुक़ाम रहा, क्योंकि औरंगज़ेब

ग बाद मुग़ल साम्राज्य संकुचित होने लगा था और राजधानी दिल्ली ही शाही सदर मुक़ाम हो गयी थी। किन्तु इस अल्पकाल में ही औरंगाबाद में कई कवि हुए, जिनका दो दृष्टियों से महत्त्व है। एक तो यह कि उनकी कविता में दकन के पुराने कवियों की अपेक्षा अधिक परिष्कार है और वे उर्दू काव्य के विकास की अगली कड़ी बनाते हैं। दूसरे यह कि शैली और भाषा के मामले में औरंगाबाद काल को दकनी उर्दू तथा उत्तरी भारत की उर्दू के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। इन कवियों की रचनाओं में दिल्ली के कवियों की अपेक्षा दकनीपन अधिक है और क़ुतुबशाही तथा आदिलशाही कवियों की अपेक्षा भाषा का सुथराव तथा फ़ारसीपन की प्रवृत्ति अधिक है। इस ज़माने के कवियों का विस्तृत वर्णन लक्ष्मीनारायण 'शफ़ीक़' की पुस्तक 'चमनिस्ताने-शुअरा' तथा एक अन्य पुस्तक 'तज़करे-ए-मूसुवीखां' में मिलता है। मीर हसन के 'तज़किरे' में भी इनका वर्णन है।

वली—वली को आधुनिक उर्दू का आदि कवि माना जा सकता है। मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' ने तो उन्हें उर्दू का पहला कवि माना है, लेकिन बाद की खोजों से उनकी धारणा ग़लत सिद्ध हो गयी। फिर भी केवल भाषा की ही नहीं, बल्कि भावों की दृष्टि से वली दकन की अपेक्षा आधुनिक उर्दू के अधिक समीप मालूम होते हैं। आज़ाद को वली के नाम में भी कुछ भ्रम हुआ है, क्योंकि उन्होंने इनका नाम शम्स वलीउल्ला लिखा है। शम्स वलीउल्ला नामक एक सूफ़ी बुज़ुर्ग इसी काल में अहमदाबाद में थे, परन्तु उर्दू कविता के प्रमुख स्तंभ 'वली' से उनका कोई संबंध नहीं था। यह भ्रम इस कारण भी हो सकता है कि 'वली' ने अपनी जवानी का ज़माना अहमदाबाद में बिताया था। कुछ लोगों का यह विचार भी भ्रम-पूर्ण है कि वली अहमदाबाद में उत्पन्न हुए थे और शाह वजीहुद्दीन अलवी के ख़ानदान से थे।

वली १६६८ ई० में औरंगाबाद में पैदा हुए थे। वे औरंगाबाद के कादरिया शेख़ों के वंशज थे। नाम शम्सुद्दीन था। बीस वर्ष की अवस्था तक औरंगाबाद में रह कर विद्योपार्जन किया, फिर उच्च धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए अहमदाबाद गये। अहमदाबाद में शाह वजीहुद्दीन अलवी का मदरसा प्रख्यात शिक्षा-केन्द्र था, जहाँ दूर-दूर से विद्यार्थी आते थे। शम्सुद्दीन ने भी कुछ वर्षों

तक शिक्षा ग्रहण की और शाह वजीहुद्दीन से इतने प्रभावित हुए कि खुद एक फ़क़ीर खानदान के रत्न होने के बावजूद शाह साहब के आध्यात्मिक शिष्य हो गये और जीवन का अधिकतर भाग उन्होंने अहमदाबाद में ही व्यतीत किया। यहाँ तक कि अंत समय में औरंगाबाद से फिर अहमदाबाद आ गये और अहमदाबाद में ही १७४४ ई० में उनका देहांत हो गया।

वली ने अपने जीवन में यात्राएँ खूब कीं। सूफ़ी फ़कीर जगह-जगह घूमकर सत्संग लाभ करना भी ज़रूरी समझते हैं। 'तज़किरों' से मालूम होता है कि वे दो बार दिल्ली गये। पहली बार १७०० ई० में औरंगज़ेब के शासन-काल में वे दिल्ली गये। उस समय तक वे अन्य सूफ़ी फ़क़ीरों की तरह फ़ारसी में कविता करते थे। दिल्ली में उनकी भेंट प्रसिद्ध सूफ़ी बुज़ुर्ग शाह गुलशन से हुई। शाह गुलशन के कहने पर ही उन्होंने उर्दू में काव्य-रचना आरंभ की और अंततः इसीमें चमके। कुछ लोगों का विचार है कि वे शाह गुलशन के शिष्य हो गये थे, किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। हाँ, यह ठीक है कि उनकी आस्था शाह गुलशन में थी।

पहली दिल्ली-यात्रा के बाद वे फिर अहमदाबाद चले गये और दूसरी बार १७२२ ई० में फिर एक अन्य सूफ़ी संत सय्यद अबुलमाली के साथ दिल्ली और सरहिन्द के सूफ़ी फ़क़ीरों की समाधियों के दर्शन के लिए निकल पड़े। इस समय तक उनका उर्दू का दीवान तय्यार हो चुका था। दिल्ली में उनकी कविता का बड़ा आदर हुआ और उनके शेर बच्चे-बच्चे की ज़बान पर जारी हो गये। अमीरों की महफ़िलों, सूफ़ियों के जमघटों और गली-कूचों में उनके शेर बहुत मशहूर हो गये। उनके शेरों से लोगों को उर्दू में काव्य-रचना करने की रुचि उत्पन्न हुई।

केवल यही नहीं कि दिल्लीवालों ने ही 'वली' की आवभगत की हो, खुद वली को भी दिल्ली बहुत पसंद आयी थी। उनका निम्नलिखित शेर काफ़ी मशहूर हो गया है—

दिल 'वली' का ले लिया दिल्ली ने छीन
जा कहो कोई मुहम्मद शाह सूँ

यूँ तो दिल्ली ही क्या, वली का दिल हर शहर छीन लेता था। अहमदाबाद की उन्होंने प्रशंसा की, सूरत का शहर उन्हें पसंद आया और फिर दिल्ली क्यों न पसंद आती ?

दूसरी बार दिल्ली और सरहिन्द की यात्राएँ करने के बाद वली औरंगाबाद आये और कई वर्षों तक वहाँ रहे। औरंगाबाद में उन्होंने करबला के शहीदों की प्रशंसा में एक मसनवी 'दह मजलिस' लिखी। उन्होंने इसमें इसका रचना-काल ११४१ हि० (१७२९ ई०) दिया है। इस मसनवी को फ़ज़ली ने गद्य के साँचे में ढाला, जो मूल से भी अधिक लोकप्रिय हुआ। 'गुलशने-हिन्द' के लेखक के कथनानुसार वली का हिन्दी कविता का भी एक संग्रह है। मौलाना आज़ाद तथा 'गुले-रअना' के लेखक मौ० अब्दुल हई के कथनानुसार वली ने सूफ़ीमत संबंधी एक गद्य पुस्तक 'नुरुल मअरिफ़त' भी लिखी थी। लेकिन ये दोनों पुस्तकें अब अप्राप्य हैं।

वली को अपने गुरु के निवासस्थान अहमदाबाद से अत्यधिक प्रेम था। औरंगाबाद में कुछ वर्षों तक रहने के बाद वे फिर अहमदाबाद चले गये। वहीं उनका देहांत हुआ। 'तज़्करए-शुअराए-दकन' के अनुसार उनका देहांत ११५५ हि० (१७४४ ई०) में हुआ।

वली के जीवनवृत्त के बारे में विस्तार से कुछ नहीं मालूम हो सका है। फिर भी इतना तो मालूम होता है कि उनमें फ़क़ीरों का सा मस्त मौलापन बहुत था। किसी दरबार में जाने की बात तो उन्होंने कभी नहीं सोची, किसी दरबार में गये भी नहीं, फिर भी जनसाधारण में उनकी मित्रता का क्षेत्र बहुत बढ़ा हुआ था। पूरे सूफ़ी थे, इसलिए धार्मिक भेदभाव भी न था। उनके दोस्तों में बहुत से हिन्दू भी थे। कई मित्रों—अमृतलाल, खेमदास, गौहर लाल, मुहम्मद यार ख़ां देहलवी आदि—से तो उनके मैत्री-सम्बन्ध प्रेम-सम्बन्धों की सीमा तक बढ़े हुए थे। उनके दीवान में जगह-जगह इन लोगों के नाम आते हैं, बल्कि उन्होंने कुछ के बारे में तो पूरी की पूरी ग़ज़लें भी लिख दी हैं। इसी प्रकार सुन्नी मुसलमान होते हुए भी उन्हें अन्य इस्लामी सम्प्रदायों से कोई विद्वेष न था।

वली की कविता का केवल प्रारंभिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व ही नहीं

था। अपने अंदर यूँ भी वली की ग़ज़लें यथेष्ट कोमल कल्पना तथा भाव-सौष्ठव लिये हुए हैं और वे साफ़ और सीधी, किन्तु प्रभावशाली काव्य का अच्छा नमूना हैं। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, इसमें संदेह नहीं कि उत्तर भारत की उर्दू की अपेक्षा वली की भाषा में काफ़ी दकनीपन मालूम होता है। 'तेरा' की बजाय 'तुझ', 'से' की बजाय 'सेती', 'तरह' की जगह 'नमन', 'हम' की जगह 'हमन' आदि का प्रयोग उनके यहाँ खूब मिलता है, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि क़ुतुबशाही और आदिलशाही कवियों की अपेक्षा दकनीपन उनकी भाषा में कम है। भाषा में प्रवाह उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों से कहीं अधिक पैदा कर दिया है। छोटी बह्रों (छंदों) में भी अच्छे शेर कहे हैं। नमूने के लिए उनकी तीन ग़ज़लें नीचे दी जा रही हैं—

तुझ लब की सिफ़त लाले बदख़शां से कहूँगा,
जादू है तेरे नैन ग़ज़ालां से कहूँगा।
दी हक़ ने तुझे बदशाही हुस्न नगर की,
यह किश्वरे-ईरां में सुलेमां से कहूँगा।
ज़ख़मी किया है मुझे तेरे पलकों की अनी ने,
यह ज़ख़म तेरा ख़ंजरे-भालां से कहूँगा।
बेसब्र न हो ऐ 'वली' इस दर्द से हरगाह,
जल्दी से तेरे दर्द की दरमां से कहूँगा।

बेवफ़ाई न कर ख़ुदा सूँ डर,
जगहँसाई न कर ख़ुदा सूँ डर।
है जुदाई में जिन्दगी मुश्किल,
आ जुदाई न कर ख़ुदा सूँ डर।
उससे जो आशनाई डर कर है,
आशनाई न कर ख़ुदा सूँ डर।
आरसी देखकर न हो मग़रूर,
ख़ुद नुमाई न कर ख़ुदा सूँ डर।

ऐ 'वली' ग़ैर आस्तान-ए-यार,
जब्ह-साई न कर ख़ुदा सूँ डर ।

जिस वक़्त ऐ सिरीजन तू बे-हिजाब होगा
हर जर्रा तुझ झलक सूँ ज्यूँ आफ़ताब होगा ।
मत जा चमन मूँ लाला बुलबुल पे मत सितम कर
गर्मी सूँ तुझ निगह की गुलगुल गुलाब होगा ।
मत आइने को दिखला अपना जमाले-रौशन
तुझ मुख की ताब देखे आईना आब होगा ।
निकला है वह सितमगर तेग़-अदा को लेकर
सीने पे आशिक़ां के अब फ़तेहयाब होगा ।
रखता है क्यों जफ़ा को मुझ पर रवा ऐ ज़ालिम
महशर में तुझ से आख़िर मेरा हिसाब होगा ।
मुझको हुआ है मालूम ऐ मस्ते-जामे-ख़ूनीं
तुझ अँखड़ियाँ के देखे आलम ख़राब होगा ।
हातिफ़ ने यूँ दिया है मुझको 'वली' बशारत
उसकी गली में जा तू मक़सद शिताब होगा ।

सिराज—औरंगाबाद काल के दूसरे महाकवि सिराजुद्दीन 'सिराज' हुए हैं, जिनकी ख्याति वली जैसी नहीं, तो उनसे दूसरे नम्बर पर ज़रूर थी। यह भी पूर्णतः फ़क़ीर थे । अपनी एक रचना 'मुतख़िब दीवानहा' में—जिसमें उन्होंने फ़ारसी के प्राचीन तथा अपने समकालीन कवियों की उत्कृष्ट रचनाओं का संकलन किया है—उन्होंने अपना जीवनवृत्त दिया है । अपने बारे में लिखते हैं कि बारह वर्ष की अवस्था से सात वर्ष तक फ़क़ीराना भावोन्माद रहा, जिसमें वे शाह बुरहानुद्दीन ग़रीब दौलताबादी नामक प्रख्यात सूफ़ी संत की समाधि के चक्कर लगाते रहे । इस अरसे में वहुत फ़ारसी शेर कहे, लेकिन उन्हें लेखनीबद्ध नहीं किया । लिखे गये होते तो उनका भारी-भरकम संग्रह तैयार हो जाता । उन्नीस् वर्ष की अवस्था में वे ख़्वाजा सय्यद शाह अब्दुर्रहमान चिश्ती के पास पहुँचे और उनके आध्यात्मिक शिष्य हो गये ।

अपने एक गुरुभाई अब्दुर्रसूल खां के कहने पर उन्होंने फ़ारसी की बजाय उर्दू में शेर कहना शुरू किया। कई वर्षों तक शेर-शायरी का सिलसिला चला। उनकी उर्दू तथा फ़ारसी रचनाओं का सम्पादन उनके गुरुभाई अब्दुर्रसूल खां ने ही किया और उसे काव्यप्रेमियों के पास भेजा। किन्तु काव्य-रचना का क्रम अधिक न चला, क्योंकि आपके गुरु ने आपको आदेश दिया कि काव्य-रचना छोड़कर पूरी तरह फ़क़ीर बन जाओ। इन्होंने ऐसा ही किया। इसीलिए इनका काव्य एक उर्दू तथा एक फ़ारसी दीवान से अधिक नहीं हुआ। हाँ, एक मसनवी 'बोस्ताने-खयाल' भी इन्होंने लिखी है।

फिर भी इनकी धाक कविता क्षेत्र मे जमी हुई थी। सप्ताह में इनके घर एक बार गोष्ठी हुआ करती थी, जिसमें कव्वाल और गवैया अपना कमाल दिखाते थे और नगर के समस्त विद्वान् एकत्र होते थे। खूब मुशायरे हुआ करते थे और लोगों के अत्यधिक आग्रह पर कभी-कभी शेर कह लेते थे। स्वभाव में संतपन कूट-कूटकर भरा था। अतिथि-सत्कार तथा दीनों, अनाथों की सहायता करने में विख्यात थे। अधिकतर अपना समय एकांत मे ईश्वर-चिन्तन मे बिताते थे तथा पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। इनका देहावसान १७६४ ई० मे पचास वर्ष की अवस्था में हुआ।

मीर ने अपने कवि-परिचयात्मक ग्रंथ 'निकातुश्शुअरा' में लिखा है कि सिराज कविता में सय्यद हमज़ा के शागिर्द थे। मीर हसन ने भी अपने 'तजकिरे' में यही कहा है। लेकिन दकन में सय्यद हमज़ा नामक किसी प्रख्यात कवि का उल्लेख नही मिलता। डा० सक्सेना के कथनानुसार वे किसी के शिष्य नहीं थे। यह भी हो सकता है कि आरंभ में सय्यद हमज़ा नामक किसी अप्रसिद्ध कवि को उन्होंने संशोधनार्थ अपनी कुछ रचनाएँ दिखायी हों। ऐसा हो तो भी उन्हें इस आधार पर सय्यद हमज़ा का शिष्य नहीं कहा जा सकता और डॉ० राम बाबू सक्सेना की राय को ही ठीक मानना चाहिए।

वली की भाँति सिराज की रचनाएँ भी साफ़ सुथरी और सरल हैं। उनमें न भारी भरकम शब्दजाल है, न द्वयर्थकों का आडम्बर, न अंधाधुंध अलंकारों का प्रयोग। सफ़ाई और सादगी ने वर्णन में ज़बर्दस्त प्रवाह पैदा कर दिया है। जहाँ तक विषय का सम्बन्ध है, वही आध्यात्मिक प्रेम की छटा उनके यहाँ

दिखाई देती है, लेकिन इस ख़ूबसूरती से इस विषय को निभाया है कि पढ़ने-वाले और सुननेवाले मस्ती में झूम उठते हैं। दकन में वली के लगाये हुए उर्दू काव्य के पौधे की सिंचाई और साज-सँवार करनेवाले सिराज ही हैं। सिराज की एक अति प्रसिद्ध ग़ज़ल निम्नलिखित है—

ख़बरे-तहय्युरे-इश्क़ सुन न जुनूँ न परी रही
न तो तू रहा न तो मैं रहा जो रही सो बेख़बरी रही।
शहे-बेख़ुदी ने अता किया मुझे अब लिबासे बरहनगी
न ख़िरद की बख़िया-गिरी रही न जुनूँ की परदादरी रही।
चली सिम्ते-ग़ैब से इक हवा कि चमन सुरूर का जल गया
मगर एक शाख़े-निहाले-ग़म जिसे दिल कहें सो हरी रही।
नज़रे-तग़ाफ़ुले-यार का गिला किस ज़बां से बयां करूँ
कि शराबे-सद-क़दा-आरज़ू ख़ुमे-दिल में थी सो भरी रही।
वो अजब घड़ी थी कि जिस घड़ी लिया दर्स नुस्ख़ए-इश्क़ का
कि किताब अक़्ल की ताक़ पर ज्यूँ धरी थी यूँ ही धरी रही।
तेरे जोशे-हैरते-हुस्न का असर इस क़दर से अयां हुआ
कि न आइने में जिला रही न परी की जल्वागरी रही।
किया ख़ाक आतशे इश्क़ ने दिले-बेनवाए-'सिराज' कूँ
न ख़तर रहा न हज़र रहा मगर एक बेख़तरी रही।

यूँ तो औरंगाबाद में इस काल में शेर शायरी का चरचा काफ़ी हो गया था, लेकिन वली और सिराज के अलावा दो-तीन नाम ही उल्लेखनीय हैं। मिर्ज़ा दाऊद खां 'दाऊद' वली के समकालीन थे। इन्होंने एक छोटा-सा दीवान यादगार छोड़ा है। इनकी मृत्यु १७५५ ई० में हुई। इनके अतिरिक्त आरिफ़ुद्दीन 'आजिज़' तथा सय्यद अब्दुल वली 'इज़लत' भी इस ज़माने के प्रसिद्ध कवि हुए हैं, जिनका उल्लेख मौलाना अब्दुल हई ने 'गुले-रअना' में किया है। 'आजिज़' का देहावसान १७६५ ई० तथा 'इज़लत' का १७७५ ई० में हुआ। इनकी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं।

मुहम्मद बाकर आगाह—उपर्युक्त कवि मध्य दक्षिण तक के कहे जाते हैं, किन्तु उर्दू की जड़ें दूर-दूर तक—कर्नाटक तथा अरकाट तक—फैली थीं। मौलवी मुहम्मद बाकर 'आगाह' कर्नाटक प्रांत के वेलूर नामक नगर में पैदा हुए थे। इनके पूर्वज बीजापुर के रहनेवाले थे। इन्होंने १७७१ ई० से लेखन-कार्य आरंभ किया और १८०५ ई० तक—अपनी मृत्यु के समय तक—लिखते रहे। उनकी उर्दू रचनाओं की लम्बी सूची निम्नलिखित है—हश्त-बिहिश्त, तुहफ़ तुल-अहबाब, तुहफ़तुन्निसा, फ़रायद दर अकायद, रियाज़ुल-जना, महबूबुल-क़ुलूब, रौज़तुल-इस्लाम, गुलज़ारे-इश्क़, क़िस्सा रिज़वांशाह, रूह-अफ़ज़ा, ख़मसा मुब्तहरा तथा मसनवी रूप सिंगार।

अरकाट के नवाब के दारुलमहाम शरफ़ुल मुल्क मौलाना मुहम्मद ग़ौस और उनके पुत्र मौलाना क़ाज़ी बदरुद्दीन ने भी इसी समय कई पुस्तकें उर्दू में लिखी हैं, जिनका उल्लेख 'उर्दू-ए-क़दीम' में मिलता है।

: २ :

दिल्ली में उर्दू काव्य का विकास

वली के प्रादुर्भाव से दिल्लीवालों में उर्दू कविता के प्रति रुचि पैदा हुई। इसके पहले साहित्यिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में फ़ारसी का बोलबाला था और उर्दू को साधारण बोलचाल की भाषा से अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था। यूँ तो शाहजहाँ के समय में चन्द्र भान 'बरहमन' नामक एक राज्याधिकारी की उर्दू ग़ज़लें आदि मिलती हैं और हाशिम, रामराव, सेवा, काज़िम अली आदि मरसिया-गो हुए हैं। लेकिन ये प्रारंभिक प्रयत्न या तो केवल मनोरंजन के लिए होते थे या परलोक सुधारने के लिए। साहित्य-सर्जन के लिए गंभीरतापूर्वक उर्दू को माध्यम बनाने की रुचि दिल्ली में अट्ठारहवीं शताब्दी से पहले नहीं दिखाई देती।

वली के दूसरी बार दिल्ली आने के बाद दिल्लीवालों में से भी उर्दू के कवि पैदा हुए और उनमें से शाह मुबारक 'आबरू' (मृत्यु १७५० ई०), मुहम्मद शाकिर 'नाजी', शरफ़ुद्दीन 'मज़मून' (मृत्यु १७४५) तथा ग़ुलाम मुस्तफ़ा ख़ां 'यकरंग' आदि प्रसिद्ध हुए। इस प्रारंभिक काल की चार विशेषताएँ हैं— (१) दकनी शब्दों का बहिष्कार, (२) सूफ़ियाना विषयों की कमी और ठोस भौतिक प्रेम का प्रदर्शन, (३) वर्णन में पहले से अधिक सफाई और प्रवाह तथा (४) शाब्दिक अनुरूपता तथा द्व्यर्थक शब्दों का अत्यधिक प्रयोग। फिर भी इस समय तक दकनी भाषा का कुछ-कुछ असर बना रहा था। इस ज़माने की कविता का नमूना निम्नलिखित है—

ज़बाने शिकवा है मेंहदी का हर पात
कि ख़ूबां ने लगाये हैं मुझे हात (यकरंग)
उस रुख़े-रौशन की जो कोई याद में मशग़ूल है
मेहृ उसके रूबरू सूरजमुखी का फूल है (नाजी)

मुझ नातवां की हालत व्हां तक कहे है उड़कर
मेरा ये रंगे-रुख़ है गोया मुखी कबूतर (आबरू)

किन्तु शीघ्र ही इस रंग से लोग ऊबने लगे और इनके बाद आनेवाले कवियों ने शाब्दिक अनुरूपता और द्व्यर्थियों का ज़ोर कम करके भाषा को सरल, प्रवाहमय और प्राञ्जल बना दिया। उर्दू काव्य के विकास की दृष्टि से इन कवियों का काम अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने उर्दू भाषा को ऐसा नरम और लचीला कर दिया कि इनके बाद आनेवाली पीढ़ी ने--जिसमें मीर तकी 'मीर', मिर्ज़ा 'सौदा', मीर 'हसन' आदि चोटी के कवि हुए हैं--उर्दू काव्य को ऐसी ऊँचाइयों पर ला खड़ा किया जहाँ से उर्दूभाषी व्यक्ति ही नहीं, अन्य भाषा-भाषी भी उसे अच्छी तरह देख सकें।

इस युग के प्रमुख कवियों में ख़ान सिराजुद्दीन अली ख़ां 'आरज़ू', अशरफ़ अली ख़ां 'फ़ुग़ां', शाह हातिम तथा मज़हर जानजानां हैं। इन चारों का कुछ विस्तृत वर्णन भी आवश्यक है।

ख़ान सिराजुद्दीन अली ख़ाँ 'आरज़ू'--ख़ान आरज़ू को दरअस्ल 'आबरू', 'नाज़ी', 'मज़मून' आदि के साथ भी रखा जा सकता है और बादवाले कवियों 'हातिम', 'जानजानां' आदि के साथ भी। एक ओर तो इन्होंने अपने सम-कालीनों की भाँति द्व्यर्थियों आदि में भी बहुत रुचि दिखायी है, दूसरी ओर इन्होंने भाषा तथा वर्णन में ऐसा निखार पैदा किया है जो बादवाले कवियों में ही दिखाई देता है। अधिकतर आलोचकों ने इन्हें अपने समकालीनों की कोटि में ही रखा है।

फिर भी दो बातें याद रखनी चाहिए। एक तो यह कि ख़ान आरज़ू ने अधिकतर काव्य-रचना फ़ारसी में की है, उनका उर्दू काव्य बहुत कम है। इस लिहाज़ से कहा नहीं जा सकता कि वे यदि उर्दू में ही अधिक काव्य-रचना करते तो उनकी रचनाएँ कौन-सा मोड़ लेतीं। दूसरे यह कि उनका महत्त्व कवि से अधिक आलोचक की हैसियत से है और उन्होंने अपनी आलोचना और शोधकार्य से शब्दों और मुहावरों की साज-सँवार की और बाद के कवियों ने उनके शोधकार्य से लाभ उठाया। इन्होंने लगभग पन्द्रह पुस्तकें लिखी हैं।

'मीर' ने अपने व्यक्तिगत कटु सम्बन्धों की उपेक्षा करके अपने कविवृत्तांत निकातुश्शुअरा में इनकी बड़ी प्रशंसा की है, मीर 'हसन' इन्हें अमीर ख़ुसरो के बाद भारत का सबसे बड़ा शायर मानते हैं, मौलाना मुहम्मद हुसेन आज़ाद कहते हैं, "ख़ान आरज़ू को उर्दू ज़बान पर वही दावा पहुँचता है जो अरस्तू को फ़लसफ़ए-मंतिक (तर्कशास्त्र) पर है।" इस लिहाज़ से ख़ान आरज़ू को उर्दू कविता में एक नये युग का जन्मदाता कहा जा सकता है।

ख़ान आरज़ू आगरे के निवासी शाह मुहम्मद ग़ौस गवालियरी के वंश में से थे। उनके पिता का नाम शैख़ हिसामुद्दीन 'हिसाम' था। ख़ान आरज़ू की पैदायश १६८९ ई० में दिल्ली में हुई थी। बचपन में अन्य विद्याओं और कलाओं के साथ ही उन्होंने काव्यशास्त्र का भी अध्ययन किया। जवानी में गवालियर में मनसबदार नियुक्त हुए, किन्तु फ़र्रुख़सियर के राज्यकाल १७१८ ई० में दिल्ली वापस आये और यहीं रहकर दरबारदारी और साहित्य-चरचा करने लगे। नादिरशाह के आक्रमण के पश्चात् नवाब सालार जंग की सलाह से वे दिल्ली छोड़कर लखनऊ जा बसे और वहीं १७५६ ई० में उनका देहावसान हुआ। किन्तु उनकी इच्छा के अनुसार नवाब सालार जंग उनके शव को दिल्ली ले गये और वहीं पर उन्हें दफ़्न किया गया।

ख़ान आरज़ू में सामंतों के सभी गुण थे। उनमें गुण-ग्राहकता भी थी (मिर्ज़ा सौदा को उनसे बहुत प्रोत्साहन मिला था), अपनी योग्यता का गर्व भी था और स्वभाव में कुछ क्रोध भी था। गर्व का यह हाल था कि प्रसिद्ध विद्वान् शैख़ अली हज़ीं जब १७३४ ई० में ईरान से भारत वापस हुए तो केवल ख़ान आरज़ू ही थे जो उनसे मिलने न गये। जब संयोग से उनकी मुलाक़ात शैख़ साहब से हो गयी तो भी उन्हें शैख़ साहब की गर्वोक्तियाँ पसन्द न आयीं और उन्होंने शैख़ साहब की रचनाओं पर आपत्तियाँ करते हुए 'तम्बीहुल-ग़ाफ़लीन' नामक एक पुस्तिका लिख डाली। क्रोध का यह हाल था कि अपने भानजे मीर तक़ी 'मीर' को खाने पर ही इतनी कड़ी बातें सुनायीं कि वे बग़ैर खाना खाये ही उठ गये और उनके घर से, जहाँ वे रहने लगे थे, हमेशा के लिए चले आये।

ख़ान आरज़ू की उर्दू कविता का नमूना निम्नलिखित है—

आता है हर सहर उठ तेरी बराबरी को
क्या दिन लगे हैं देखो ख़ुर्शीदे-ख़ावरी को।
उस तुन्द-ख़ू सनम से जब से लगा हूँ मिलने
हर कोई मानता है मेरी दिलावरी को।

अशरफ़ अली ख़ां 'फ़ुग़ां'—इन सज्जन ने तख़ल्लुस तो बड़ा मातमी रखा था, किन्तु इनका स्वभाव इसके बिलकुल विपरीत था। अपने ज़माने में यह अत्यंत हास्य-प्रेमी और विनोदी समझे जाते थे। यह दिल्ली के बादशाह अहमद शाह के कोका (पोष्य भाई) थे। इसी कारण इन्हें 'ज़रीफ़ुल-मुल्क कोका ख़ां बहादुर' की उपाधि दिल्ली दरबार से मिली हुई थी। अहमदशाह अब्दाली का हमला होने के बाद वे दिल्ली से मुर्शिदाबाद चले आये, जहाँ उनके चाचा ईरज ख़ां प्रभावशाली व्यक्तियों में से थे। मुर्शिदाबाद से वे अवध के दरबार में पहुँचे और नवाब शुजाउद्दौला ने उनकी बहुत क़द्रदानी की। किन्तु यह नाज़ुक मिज़ाज़ भी बहुत थे। एक रोज़ नवाब ने हँसी-हँसी में कोई हरकत ऐसी की कि इन्होंने फ़ैजाबाद छोड़ ही दिया। आज़ाद का कहना है कि नवाब के हाथ से इनका कपड़ा जल गया था। मुसहफ़ी कहते हैं कि नवाब ने गर्म पैसे से उनका हाथ दाग़ दिया था। जो कुछ भी हो, यह फ़ैजाबाद छोड़कर पटना चले आये और वहाँ राजा शिताब राय के दरबार में दाख़िल हो गये। राजा साहब इनके उच्च वंश तथा प्रतिभा के कारण उनका बहुत सम्मान करते थे। लेकिन सारी हँसने-हँसाने की आदत के बावजूद इनकी नाज़ुक मिज़ाजी पटने में भी रंग लायी और किसी बात पर राजासाहब से भी नाराज़ हो गये और उनके दरबार में जाना छोड़ दिया। इसके बाद वे घर बैठ रहे, लेकिन अँगरेज़ हाकिमों से उनके संबंध अच्छे रहे और इस कारण उन्हें कोई आर्थिक कठिनाई अंत समय तक नहीं हुई। इनकी मृत्यु पटने में ही १७७२ ई० में हुई और वहीं दफ़्न किये गये।

इनकी तबीयत में रवानी और ज़ोर बहुत था। द्व्यर्थियों तथा अश्लीलता से इन्होंने अपना दामन बचा लिया था। हिन्दी और फ़ारसी मुहावरों और वर्णन का सौंदर्य इनके यहाँ ख़ूब देखने को मिलता है। एक दीवान उर्दू का प्राप्य है, जिसमें हर तरह की कविताएँ हैं। 'मीर' और 'हसन' दोनों के कथना-

नुसार इनका एक फ़ारसी का दीवान भी था। इनकी रचनाओं का नमूना निम्नलिखित है—

> **मुफ़्त सौदा है, अरे यार कहाँ जाता है**
> **आ मेरे दिल के ख़रीदार कहाँ जाता है।**
> **लिये जाती है अजल जाने 'फ़ुग़ां' को ऐ यार**
> **लीजियो तेरा गिरफ़्तार कहाँ जाता है।**

शाह हातिम—इनका नाम ज़हूरुद्दीन था और इनके पिता का शेख़ फ़तेहुद्दीन। दिल्ली में १७०० ई० में इनका जन्म हुआ। पहले सिपाही पेशा थे और उम्दतुल-मुल्क अमीर ख़ां के मुसाहिब थे। जवानी का ज़माना आर्थिक समृद्धि में बीता। उन्हीं दिनों दिल्ली में क़दम शरीफ़ के पास मीर बादल अलीशाह नामक सूफ़ी संत का 'तकिया' था, जहाँ साधारणतः सभ्य घरानों के नवयुवक आध्यात्मिक लाभ के लिए जाया करते थे। यह भी वहाँ जाने लगे और जाते-जाते वहाँ का रंग ऐसा चढ़ा कि दुनियादारी छोड़कर फ़क़ीर हो गये। इनका देहांत १७९१ ई० के लगभग हुआ। मुसहफ़ी के कथनानुसार ये १७८२ ई० में मरे।

फ़क़ीर होने के बाद भी इनका विनोदी स्वभाव ज्यों का त्यों क़ायम रहा था। किसीसे नाराज़ न होते थे, अपने शागिर्दों तक की गुस्ताख़ियों का बुरा नहीं मानते थे। वेश-भूषा में बाँकपन आख़िर तक रहा।

उर्दू के विकास में शाह हातिम का बहुत महत्त्व है। इन्होंने बड़ी मेहनत से उर्दू में से ऐसे प्रयोगों को निकाला जो कि उसके कलेवर को दूषित करते थे और उसे साफ़-सुथरा बना दिया। इनके बाद नासिख़ को छोड़कर किसी ने भाषा की इतनी साज-सँवार नहीं की। पहले पुराने रंग में द्व्यर्थियों तथा शाब्दिक अनुरूपता के प्रेमी थे, किन्तु बाद में इन्होंने आग्रहपूर्वक इन बातों को छोड़ दिया। यहाँ तक कि अपने कुल्लियात (काव्यसंग्रह) से, जो बहुत बड़ा था, लगभग पाँच हजार साफ़-सुथरे और सरल शेर छाँटकर उसे 'दीवानज़ादा' का नाम दिया। पहले 'राज़' तख़ल्लुस करते थे, बाद में 'हातिम' किया। दीवानज़ादा की भूमिका में इन्होंने नये कवियों के पथ-प्रदर्शन के लिए अच्छी

सामग्री दी है। अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु स्वाभाविक काव्य-प्रतिभा के कारण अपने युग के पथ-प्रदर्शकों में से हो गये थे। काव्य का विषय मुख्यतः शाङ्गारिक है।

इनके शागिर्दों में मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा', सआदत यार खां 'रंगी', 'ताँबा' आदि थे, जो प्रसिद्ध कवि हुए हैं। शाह हातिम अपने शागिर्दों से बड़ा स्नेह रखते थे। अपने 'दीवानज़ादा' की भूमिका में उन्होंने अपने पैंतालिस शागिर्दों का नाम दिया है, जिसमें मिर्ज़ा रफ़ी 'सौदा' का नाम सबसे पहले है। हातिम की रचना का नमूना यह है—

आबे-हयात जाके किसू ने पिया तो क्या
मानिन्दे-ख़िज्र जग में अकेला जिया तो क्या!
मुहताजगी सूं मुझको नहीं एकदम फ़राग़
हक़ ने जहाँ में नाम को 'हातिम' किया तो क्या!

मिर्ज़ा जानजानां 'मज़हर'—मिर्ज़ा जानजानां एक प्रतिष्ठित सामंत घराने के रत्न थे। इनके पिता औरंगज़ेब के दरबारी अमीर थे। इनकी पैदायश १६९९ ई० में हुई और स्वयं औरंगज़ेब ने इनका नाम जानजानां रखा। 'मज़हर' इन्होंने अपना तख़ल्लुस रखा था। सोलह वर्ष के थे कि पिता का देहांत हो गया। मिर्ज़ा जानजानां ने धार्मिक शिक्षा प्राप्त की और तत्कालीन रुचि के अनुसार सूफ़ी मत की ओर अग्रसर हुए। ख़ानदानी सय्यद थे ही, अब पूरे फ़क़ीर हो गये। हज़ारों मुसलमान और हिन्दू इनके मुरीदों में से थे।

फ़क़ीर होने के बावजूद इनकी रुचि में बड़ा परिष्कार तथा सौंदर्य-प्रेम था। खुद कहते थे कि बचपन में किसी कुरूप व्यक्ति की गोद में नहीं जाते थे, ख़राब काट की टोपी लगाते थे तो सिर में दर्द होने लगता था, रास्ते में भी किसी की चारपायी में कान निकला होता था तो उसे सीधा करवा कर आगे बढ़ते थे। यहाँ तक कि एक साहब को तब तक मुरीद बनाने से इनकार कर दिया, जब तक उन्होंने अपनी घनी दाढ़ी न तरशवा ली। जानजानां मीर अब्दुल हई 'ताबां' नामक एक नवयुवक और अमीर कवि को—जिसके सौंदर्य की चरचा तत्कालीन रुचि के अनुसार दूर-दूर तक था—अत्यंत प्रिय मानते

थे। 'ताबां' भी अच्छे कवि थे और आगे और अच्छे निकलते, किन्तु दुर्भाग्य से इनका देहावसान भरी जवानी में ही हो गया।

मिर्ज़ा जानजानां को किसीने बिगड़कर धोखे से मार दिया। उनकी हत्या १७८१ ई० में हुई। अजीब बात यह है कि हत्या का कारण धार्मिक बताया जाता है और शिया-सुन्नी दोनों एक-दूसरे को इसके लिए दोषी ठहराते हैं।

मिर्ज़ा जानजानां की कविता दरअस्ल अपने युग से आगे बढ़कर 'मीर' और 'सौदा' की परिष्कृत कविता से टक्कर लेती है। भाषा में प्राञ्जलता भी है और प्रभाव भी बहुत है। कविता उर्दू और फ़ारसी दोनों में करते थे। फ़ारसी में पहले २०,००० शेरों का दीवान था जिसमें १००० शेर चुनकर बाक़ी शेर काट दिये थे। उर्दू का दीवान अपूर्ण है। इनके अलावा अन्य कवियों के फ़ारसी शेरों का संकलन 'ख़रीतए-जवाहर' के नाम से किया था। रचनाओं का नमूना निम्नलिखित शेरों में मिलेगा—

ख़ुदा के वासते इसको न टोको
यही इक शहर में क़ातिल रहा है।

ये हसरत रह गयी क्या क्या मज़े से ज़िन्दगी करते
अगर होता चमन अपना गुल अपना बाग़बां अपना।

'हातिम' और जानजानां 'मज़हर' के तुरंत बाद ही उर्दू कविता का वह युग प्रारंभ हुआ, जिसकी अभी तक धूम मची हुई है, बल्कि जो उर्दू साहित्य में सदैव प्रमुख स्थान पायेगा। इस युग में 'मीर' जैसे ग़ज़ल-गो, 'सौदा' जैसे कसीदा-रचयिता और मीर हसन जैसे मसनवी-गो हुए, जिनके अपने क्षेत्रों में उनका प्रतिस्पर्धी आज तक पैदा नहीं हो सका है। उनके बाद आनेवाले सभी कवियों ने एक स्वर में उनकी प्रशंसा की है।

इस काल की विशेषताएँ

इस काल की कविता में संक्षिप्ततः निम्नलिखित विशेषताएँ थीं—
(१) कविता की भाषा और भावों में पहले से कहीं अधिक ओज पैदा हो

गया, (२) फ़ारसी भाव-व्यंजना को अधिक अपनाया गया, हिन्दी की भाव-व्यंजना ही नहीं, बहुत-से हिन्दी शब्द भी छोड़ दिये गये, यद्यपि बाद के कवियों की अपेक्षा इस युग में हिन्दी शब्दों का प्रचलन काफ़ी रहा, (३) भाषा में वाक्यविन्यास और व्याकरण सम्बन्धी नियम और सख़्ती से बरते गये, (४) कई नये काव्यांगों—जैसे क़सीदा, वासोख़्त आदि—का समावेश उर्दू कविता में किया गया, (५) उपर्युक्त सारी उन्नति के साथ ही इस काल की कविता की विशेषता यह है कि वह समतल नहीं है—यद्यपि 'दर्द' और 'हसन' की कविता में समतलता का अभाव नहीं है, इस काल में कवि-वृत्तांत (तज़किरे) भी काफ़ी लिखे गये।

इस काल की एक अन्य विशेषता यह है कि उर्दू काव्य का केन्द्र दिल्ली से उठकर लखनऊ आ गया। ख़्वाजा मीर 'दर्द' को छोड़कर सारे प्रमुख कविगण विध्वस्त दिल्ली को छोड़कर लखनऊ में जा बसे।

इस काल के प्रमुख कवियों का वृत्तांत निम्नलिखित है—

मीर तक़ी 'मीर'—'मीर' उचित रूप से उर्दू के ग़ज़लगोयों में सबसे प्रमुख समझे जाते हैं। करुणा का जो माधुर्य उनके यहाँ मिलता है, वह अन्य कवियों के यहाँ कम ही मिलता है। उन्नीसवीं शताब्दी में उनके बारे में कुछ अधिकृत रूप से ज्ञात नहीं था, किन्तु बीसवीं शताब्दी में उनका फ़ारसी आत्म-चरित्र 'ज़िक्रे मीर' प्रकाशित हो जाने के बाद से उनके सम्बन्ध में बनायी गयी कई भ्रामक धारणाओं का अंत हो गया और उनकी जीवनी आधिकारिक रूप में हमारे सामने आ गयी। 'मीर' के बुज़ुर्ग हिजाज़ (अरब का एक प्रदेश) से सीधे भारत आये थे। पहले वे हैदराबाद और अहमदाबाद में रहे, फिर 'मीर' के प्रपितामह आगरे में बस गये। 'मीर' के पितामह आगरे में फ़ौजदार हो गये। इनके दो बेटे थे। बड़े का मस्तिष्क विकृत था और वह जवानी में ही मर गया। छोटे, यानी 'मीर' के पिता, मीर अली मुत्तक़ी दुनियादारी छोड़ कर सूफ़ी फ़क़ीर हो गये। मीर मुत्तक़ी के तीन पुत्र थे—पहली पत्नी से मुहम्मद हसन तथा दूसरी से मुहम्मद तक़ी और मुहम्मद रज़ी। यही मँझले पुत्र मुहम्मद तक़ी बाद में उर्दू काव्य-गगन के सूर्य बन कर चमक उठे।

जन्म-काल के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जाता। 'ज़िक्रे-मीर'

में इसका कोई उल्लेख नहीं है। उसमें दी गयी विशेष घटनाओं के समय 'मीर' ने अपनी जो अवस्था बतायी है, उससे हिसाब लगाने पर उनकी जन्म-तिथि ११३७ हि० या १७२४ ई० निकलती है। दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में वे पितृविहीन हो गये। उनके सौतेले भाई मुहम्मद हसन उनसे जलते थे। उन्होंने पिता की सम्पत्ति पर तो अधिकार कर लिया, लेकिन उनका कर्ज़ 'मीर' को ही चुकाने के लिए छोड़ दिया। भाग्यवश 'मीर' के पिता के एक श्रद्धालु सय्यद मुकम्मल ख़ाँ ने—जो 'मीर' के पिता के एक अभिन्न मित्र के शिष्य थे—'मीर' के नाम ५०० रुपये की एक हुंडी भेज दी। इन्होंने उसमें से ३०० रुपये से क़र्ज़ अदा किया और छोटे भाई को लेकर नौकरी की तलाश में दिल्ली चले गये। वहाँ कुछ दिनों इधर-उधर भटकने के बाद नवाब समसामुद्दौला के दरबार में पहुँचा दिये गये।

लेकिन 'मीर' के भाग्य में तो चैन लिखा ही नहीं था। चार-पाँच वर्ष बाद समसामुद्दौला नादिरशाह के आक्रमण के समय लड़ाई में मारे गये। मीर कुछ दिन के लिए आगरे चले आये, किन्तु फिर अपने सौतेले भाई के मामू ख़ान सिराजुद्दीन अली ख़ां 'आरज़ू' (जिनका उल्लेख पहले हो चुका है) के पास दिल्ली चले गये। किन्तु ख़ान आरज़ू से उनकी नहीं पटी। मीर का कहना है कि ख़ान आरज़ू मीर के सौतेले भाई के भड़काने से उन पर बिगड़ गये थे। कुछ इतिहासकारों के विचार से ख़ान आरज़ू मीर से इसलिए बिगड़े थे कि 'मीर' उनकी पुत्री से प्रेम करने लगे थे। कारण कुछ भी हो, ऐसी हालत में 'मीर' को उन्माद रोग हो गया। एक अन्य सज्जन फ़ख़रुद्दीन की सहायता से इनका इलाज हुआ, फिर भी ख़ान आरज़ू का इनके प्रति दुर्व्यवहार बढ़ता गया और एक दिन उन्होंने खाने के समय ही इनसे इतनी कड़ी बातें कहीं कि यह खाना छोड़कर उठ गये और उसी समय ख़ान आरज़ू का घर हमेशा के लिए छोड़ दिया।

ख़ान आरज़ू के यहाँ रहते समय ही इन्होंने काव्यसाधना आरंभ कर दी थी और मुशायरों में चमकने लगे थे। ख़ान आरज़ू के यहाँ से निकले तो एक रईस रियायत ख़ां के नौकर हो गये। इसके बाद नवाब बहादुर, दीवान महानारायण, अमीर ख़ाँ अंजाम, राजा जुगलकिशोर आदि रईसों के यहाँ

थोड़े-थोड़े दिन रहे। राजा जुगलकिशोर ने राजा नागरमल के यहाँ इन्हें रखवा दिया। यहाँ 'मीर' कुछ अधिक दिन रहे, लेकिन रोज़ाना की लूटमार से परेशान होकर कुंभेर के सूरजमल जाट के दरबार में रहे। फिर कुछ दिन आगरा रह कर फिर दिल्ली में राजा नागरमल के पास ही रहने लगे और उनके कामां प्रवास में भी उनके साथ रहे। नागरमल की नौकरी छोड़ने के बाद वे तत्कालीन मुग़ल सम्राट् आलमगीर द्वितीय के दरबार में प्रवेश पा गये, किन्तु फिर रोज़ाना की लूटपाट और अस्थिर जीवन से ऊबकर घर बैठ रहे। बादशाह के कई बार बुलाने पर भी उसके दरबार में नहीं गये।

शाही दरबार छोड़कर मीर साहब की इच्छा हुई कि कहीं अवसर मिले तो दिल्ली के बाहर चले जायँ। इनकी ख्याति चारों ओर फैल ही गयी थी। इनके दिल्ली-त्याग के इरादे को सुनकर अवध के नवाब आसफ़ुद्दौला ने नवाब सालारजंग की मध्यस्थता से इन्हें बुलवा भेजा। यह तुरन्त दिल्ली से चल दिये। रास्ते में फ़र्रुखाबाद के रईस मुज़फ्फ़रजंग ने इन्हें रोकना चाहा, किन्तु यह सीधे लखनऊ आकर सालारजंग के मेहमान हुए। आठ-दस रोज बाद नवाब आसफ़ुद्दौला के दरबार में प्रविष्ट हो गये और उनके मुसाहिब बन गये।

नवाब आसफ़ुद्दौला के साथ 'मीर' का ज़माना बड़े आराम मे बीता। वे नवाब के साथ दो बार शिकार के लिए हिमालय की तराई तक गये और दोनों बार शिकार के वर्णन में शिकारनामे लिखे, जिनकी नवाब ने बड़ी क़द्र की। इसी अरसे में 'मीर' ने लगभग साठ वर्ष की अवस्था में अपना जीवन-चरित्र 'ज़िक्रे मीर' लिखा, जिसमें उनके जीवन-चरित्र के अतिरिक्त उस ज़माने की राजनीतिक उथल-पुथल (बल्कि अराजकता की स्थिति) का विस्तार-पूर्वक उल्लेख किया गया है।

आसफ़ुद्दौला की मृत्यु के उपरांत वे कुछ दिनों तक घर बैठे रहे। फिर उन्हें नवाब सआदत अली ख़ाँ ने अपने दरबार में बुलाया। पहले इन्होंने दरबार जाने के निमन्त्रण के साथ ही नवाब का भेजा हुआ ख़िलअत (सम्मानसूचक वस्त्र) और एक हज़ार रुपया भी वापस कर दिया, क्योंकि नवाब ने उसे एक चोबदार के हाथ भेजा था, जिसे इन्होंने अपना अपमान समझा। बाद मे नवाब के प्रमुख दरबारी कवि सय्यद इंशा के समझाने-बुझाने से नवाब सआदत

अली के दरबार में चले गये। नवाब ने इनके अंत समय तक इनका बड़ा सम्मान किया। अंत में १२२५ हि० (१८१० ई०) में ईस्वी सन् के हिसाब से ८६ और हिजरी सन् के हिसाब से ८८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने परलोक-यात्रा की।

'मीर' के स्वभाव के बारे में कहा जाता है कि उनकी नाज़ुक मिज़ाजी बढ़कर घमण्ड बल्कि अभद्रता की सीमा छूने लगी थी। ख़ुद 'मीर' को भी इस बात का बोध था कि लोग उन्हें बद-दिमाग़ (अभद्र) कहते हैं। उन्होंने इसका प्रतिवाद नहीं किया, बल्कि अपने स्वभाव की उग्रता के बारे में अपनी सफ़ाई इस तरह से दी है—

हालत ये है कि मुझको ग़मों से नहीं फ़राग़
दिल सोज़िशे-दूरूनी से जलता है ज्यूँ चिराग़।
सीना तमाम चाक है सारा जिगर है दाग़
है मजलिसों में नाम मेरा मीरे-बेदिमाग़।

फिर भी हम यह कहने को विवश हैं कि मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने उनके क्रोधी स्वभाव के जो किस्से दिये हैं, वे बिलकुल ग़लत नहीं तो बढ़ा-चढ़ाकर ज़रूर कहे गये हैं। मौलाना आज़ाद ख़ुद उनके नख-शिख का वर्णन इन शब्दों में करते हैं—"मीर साहब मियाना (मँझोला) क़द, लाग़र-अंदाम (दुबले), गंदुमी (गेहुएँ) रंग के थे। हर काम मतानत (धैर्य) और आहिस्तगी के साथ। बात बहुत कम, वह भी आहिस्ता। आवाज़ में नरमी और मुलाइमियत। ज़ईफ़ी ने इन सब सिफ़तों (गुणों) को और क़वी किया (बढ़ाया) था।"

सोचने की बात है कि यह चित्र किसी क्रोधी और उजड्ड व्यक्ति का है या सुसंस्कृत तथा गंभीर व्यक्ति का!

हाँ, यह बात ज़रूर है कि उनके स्वभाव में वैयक्तिकता, स्वाभिमान और परिष्कृत साहित्यिक तथा सांस्कृतिक रुचि कम से कम अपने समय के मान-दंडों के हिसाब से ज़रूरत से ज़्यादा थी। उन्होंने न अधिक मित्र बनाने की कोशिश की, न दूसरे लोगों को इस मामले में प्रोत्साहित किया। एक साहब

उनसे मिलने गये, सलाम करके बैठ गये, बहुत देर बैठकर चले भी आये, लेकिन 'मीर' साहब उस समय काव्य-रचना के 'मूड' में थे। उन्हें ख़बर तक न हुई कि कौन आया था, कब आया था और क्यों आया था। स्पष्ट है कि वे हरएक की परवा न करते थे।

उनके साहित्यिक मानदंड इतने ऊँचे थे कि उन्होंने रेख़्ती के जन्मदाता सआदत यार ख़ाँ 'रगीं' तथा उर्दू के सबसे बड़े परिष्कारकर्त्ता शैख़ इमाम बख़्श नासिख़ को अपना शिष्य बनाने से इनकार कर दिया था। उनके अपने मानदंड पर जनरुचि का कोई प्रभाव न पड़ता था। उनके अंतकाल में उस समय के प्रख्यात उच्छृंखलतावादी कवि 'जुरअत' मुशायरे में काफ़ी वाहवाही लूटने के बाद जब 'मीर' से अपनी ग़ज़ल की प्रशंसा करवाने पहुँचे तो 'मीर' पहले तो टाल गये, लेकिन शामत के मारे 'जुरअत' पीछे पड़े तो 'मीर' साहब ने त्योरी चढ़ाकर कहा, "कैफ़ियत इसकी यह है कि तुम शेर तो कहना नहीं जानते हो, अपनी चूमाचाटी कह लिया करो।"

फिर भी वे सुपात्र से खुलकर मिलते थे। 'शाद' अज़ीमाबादी 'नवाए-वतन' में लिखते हैं—

"जब शैख़ रासिख़ (उस समय के एक होनहार कवि जो बाद में काफ़ी प्रसिद्ध हुए) उनसे मिलने गये तो 'मीर' ने कहला भेजा, 'मियाँ, क्यों सताने आये हो ?' शैख़ साहब ने ठीकरी पर यह शेर लिख कर भेजा—

ख़ाक हूँ पर तूतिया हूँ चश्मे-मेह्रो-माह का
आँखवाला रुत्बा समझे मुझ ग़ुबारे-राह का।

मीर साहब फ़ौरन घर से निकल आये, गले लगाया और कहा, 'मिज़ाज मुबारक ! कहाँ से आये हो ? क्यों मुझ ग़रीब को सरफ़राज़ किया ?' "

हाँ, उनमें आत्मसम्मान इतना अधिक बढ़ा हुआ था कि कभी-कभी शिष्टाचार की सीमा का उल्लंघन कर जाता था। नवाब आसफ़ुद्दौला ने एक किताब उठाकर देने को कहा तो मीर ने फ़ौरन चोबदार से कहा, "देखो, तुम्हारे आक़ा क्या कहते हैं ?" नवाब साहब बेचारे इतने हतप्रभ हुए कि ख़ुद ही बढ़कर किताब उठा ली।

नवाब सआदत अली ख़ाँ ने पहले इनकी ख़बर न ली। एक दिन जब मीर एक मसजिद में बैठे थे तो नवाब की सवारी उधर से निकली। और सब उठ खड़े हुए, लेकिन यह बैठे ही रहे। नवाब ने अपने मुसाहिबों से पूछा कि यह कौन आदमी है, तो मालूम हुआ कि 'मीर' हैं। नवाब ने दूसरे दिन एक चोबदार के हाथ एक हज़ार रुपया और ख़िलअत भेजा तो इन्होंने वापस कर दिया। अब नवाब ने अपने दरबारी कवि 'इंशा' को भेजा कि देखें क्या बात है। 'मीर' ने उनसे कहा, 'एक तो नवाब मुझे इतने दिनों तक भूले रहे। अब याद भी किया तो इस तरह से कि दस रुपये के नौकर के हाथ ख़िलअत भेजा। वह अपने मुल्क के बादशाह हैं तो मैं अपने मुल्क का। मुझे भूखों मर जाना मंजूर है, लेकिन यह बेइज्ज़ती मंजूर नहीं।' बहरहाल 'इंशा' उन्हें समझा-बुझाकर दरबार में ले गये।

अँगरेज़ हाकिम, गवर्नर जनरल तक, लखनऊ आने पर इन्हें बुलाते थे, लेकिन यह उनसे मिलने कभी न जाते थे। कहते थे "मुझसे जो कोई मिलता है तो या मुझ फ़क़ीर के ख़ानदान के ख़याल से या मेरे कलाम के सबब से मिलता है। साहब को ख़ानदान से ग़रज़ नहीं, मेरा कलाम समझते नहीं। अलबत्ता कुछ इनाम देंगे। ऐसी मुलाक़ात में ज़िल्लत के सिवा क्या हासिल ?" काश ! वर्तमान साहित्यकारों में भी ऐसा आत्मसम्मान होता।

'मीर' ने लम्बी ज़िन्दगी पायी और सारी ज़िन्दगी काव्यरचना के अतिरिक्त और कुछ न किया। फलस्वरूप उनकी रचनाओं की संख्या और मात्रा बहुत अधिक है। नीचे इनका कुछ परिचय दिया जाता है--

(१) 'मीर' के कुल्लियात (काव्यसंग्रह) में छः बड़े-बड़े दीवान ग़ज़लों के हैं। इनमें कुल मिलाकर १८३९ ग़ज़लें (लगभग चौदह हज़ार शेर) और ८३ फुटकर शेर हैं। इनके अलावा आठ कसीदे, ३१ मसनवियाँ, कई हजवें (निंदात्मक पद्य), १०३ रुबाइयाँ, तीन शिकारनामे आदि बहुत-सी कविताएँ हैं। कुछ वासोख्त (उपालंभ काव्य) हैं, जिनका प्रवर्त्तन उर्दू में 'मीर' ने ही किया। इस काव्य-संग्रह का आकार बहुत बड़ा है।

(२) इसके अतिरिक्त फ़ारसी ग़ज़लों का भी एक दीवान है, जो दुर्भाग्यवश अभी तक अप्रकाशित है।

(३) 'मीर' ने कई मरसिये भी लिखे हैं जो अपने ढंग के अनूठे हैं।

(४) एक पुस्तक फ़ारसी में 'फ़ैजे-मीर' के नाम से लिखी है। इसमें अंत में कुछ हास्यप्रसंग और कुछ कहानियाँ हैं, जिनमें से कुछ काफ़ी अश्लील हैं और उनसे तत्कालीन समाज की रुचि का अनुमान किया जा सकता है।

(५) फ़ारसी में ही उर्दू कवियों का वृत्तांत 'नुकातुश्शुअरा' के नाम से लिखा है, जिसमें 'मीर' के समकालीन तथा पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख है।

(६) फ़ारसी में उन्होंने अपना आत्म-चरित्र 'ज़िक्रे-मीर' के नाम से लिखा है। इसमें उन्होंने अपने साहित्य पर प्रकाश नहीं डाला है, बल्कि अपने व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं के साथ ही तत्कालीन राजनीतिक उथल-पुथल और लड़ाइयों का उल्लेख किया है। इस पुस्तक का इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्व है।

'मीर' की काव्य-रचना लगभग दो हज़ार विस्तृत पृष्ठों पर फैली हुई है। अभी दिल्ली की जनता की वह बोली, जिसे उर्दू भाषा बन जाना था और जिससे उर्दू साहित्य की रचना होनेवाली थी, बहुत तरल अवस्था में थीं। जैसे अभी-अभी साँचे में ढाली हुई मिट्टी की ईंट। यह ईंट समय के भट्ठे में पड़कर पक्की ईंट बन जायेगी, फिर भी 'मीर' के समय में एक-आध ताव यह ईंट खा चुकी थी। 'मीर' के दस प्रतिशत ऐसे शेर होंगे, जिनकी भाषा आज कुछ बदल गयी है। 'मीर' ने लगभग सात हज़ार ऐसे शेर छोड़े हैं, जो कहे तो गये थ अब से पौने दो सौ वर्ष पहले, लेकिन प्रतीत होता है कि अभी-अभी कहे गये हैं। जहाँ त्यक्त शैली का 'मीर' ने प्रयोग किया है, वहा तो उन्होंने जादू ही कर दिया है। जैसे, इस शेर में—

वह सूरतें इलाही किस देस बस्तियाँ हैं
अब जिनके देखने को आँखें तरसतियाँ हैं!

कहा गया है कि मीर के उत्कृष्ट शेर उत्कृष्टतम हैं और निकृष्ट शेर निकृष्टतम हैं। 'मीर' के उत्तम शेर जादू का असर रखते हैं। ऐसी रचनाओं में उनका स्वर जीवन का स्वर बन जाता है। इन रचनाओं में जैसी घुलावट है, जैसी चमकार है, जो करुणा है, जो मानवता है, जो विनम्रता है, जो स्वाभा-

विकता है, और जो हृदय विदीर्ण करनेवाली मृदुलता और तीव्रता का संगम है, उसका उदाहरण कहीं और नहीं मिलता। 'मीर' की ये रचनाएँ 'सूर' और 'रसखान' की याद दिलाती हैं। हम भारतीय संस्कृति का विश्वविद्यालय 'मीर' की इन रचनाओं को कह सकते हैं। ऐसी रचनाओं का हर शेर उर्दू शायरी की निधि का बहुमूल्य रत्न है।

'मीर' की रचनाओं का नमूना निम्नलिखित है—

जिस सर को ग़रूर आज है यां ताजवरी का
कल उस पे यहीं शोर है फिर नौहागरी का।
आफ़ाक़ की मंज़िल से गया कौन सलामत
असबाब लुटा राह में यां हर सफ़री का।
ले साँस भी आहिस्ता कि नाज़ुक है बहुत काम
आफ़ाक़ के इस कारगहे-शीशागरी का।
टुक 'मीर'-जिगर-सोख़्तः की जल्द ख़बर ले
क्या यार भरोसा है चिराग़े-सहरी का।

जिनके लिए अपने तो यूँ जान निकलते हैं
इस राह में वे जैसे अनजान निकलते हैं।
मत सहल हमें जानो फिरता है फ़लक बरसों
तब ख़ाक के परदे से इंसान निकलते हैं।
किसका है क़िमाश ऐसा गूदड़ भरे हैं सारे
देखो न जो लोगों के दीवान निकलते हैं।
इन आइना-रूयों के क्या 'मीर' भी आशिक़ हैं
जब घर से निकलते हैं हैरान निकलते हैं।

इधर से अब्र उठकर जो गया है
हमारी ख़ाक पर भी रो गया है।
मुसाइब और थे पर दिल का जाना
अजब इक सानहा सा हो गया है।

सिरहाने 'मीर' के कोई न बोलो
अभी टुक रोते-रोते सो गया है।

जाये है जी नजात के ग़म में
ऐसी जन्नत गयी जहन्नम में।
बेख़ुदी पर न 'मीर' की जाओ
तुमने देखा है और आलम में।

आगे किसू के क्या करें दस्ते-तमा दराज़
वह हाथ सो गया है सिरहाने धरे-धरे।

तेरी जुल्फ़े-सियह की याद में आँसू झमकते हैं
अँधेरी रात है, बरसात है, जुगनू चमकते हैं।

अब तो जाते हैं बुतकदे से 'मीर'
फिर मिलेंगे अगर ख़ुदा लाया!

मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी 'सौदा'—मिर्ज़ा 'सौदा' 'मीर' के समकालीन ही नहीं हैं, उनके समकक्ष भी रखे जाते हैं और उचित रूप से रखे जाते हैं। 'मीर' करुणा के सम्राट् हैं तो 'सौदा' उमंग और उल्लास के। हजो (निन्दा काव्य) और कसीदे में उनका स्थान सर्वप्रथम है। इसके अलावा मरसिये और ग़ज़ल के क्षेत्र में भी वे प्रमुख कवि समझे जाते हैं। भाषा के परिमार्जन में भी 'सौदा' की देन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी के पूर्वज काबुल के रहनेवाले और सिपाही पेशा थे। उनका कुटुम्ब सम्मानित था। किन्तु उनके पिता मुहम्मद शफ़ी ने व्यापार आरंभ किया और इसी सिलसिले में दिल्ली आ बसे। उनका विवाह निअमत ख़ाँ आली की पुत्री से हुआ। इन्हीं के पेट से मिर्ज़ा मुहम्मद रफ़ी का जन्म हुआ। जन्म काल के बारे में संदेह है। 'आबे-हयात' तथा 'गुले-रअना' में उनके जन्म की तिथि ११२५ हि० (१७१४ ई०) लिखी है। डॉ० सक्सेना को इसमें संदेह है। बहरहाल, उनकी जन्मतिथि १७०९ ई० तथा १७१४ ई० के बीच में ही हो सकती है। मिर्ज़ा का लालन-पालन अमीराना ढंग से हुआ। जवानी काफ़ी सुखपूर्वक काटी। कविता में पहले सुलेमान क़ुली ख़ाँ 'विदाद' और

बाद में शाह 'हातिम' के शिष्य हुए। इनके अलावा ख़ान आरज़ू की संगति से बहुत लाभ उठाया। पहले फ़ारसी में शेर कहते थे, लेकिन ख़ान आरज़ू की सलाह से उर्दू में कहने लगे। उर्दू कविता में शीघ्र ही मिर्ज़ा 'सौदा' की ख्याति फैल गयी। तत्कालीन बादशाह शाह आलम ने भी उन्हें बुलाकर अपनी ग़ज़लों के संशोधन का काम उनके सुपुर्द किया। लेकिन बादशाह से उनकी अधिक नहीं पट सकी। उन्होंने दरबार में जाना छोड़ दिया, लेकिन फिर भी दिल्ली में उनके काफ़ी पृष्ठपोषक रईस थे। उनकी ख्याति फ़ैज़ाबाद भी पहुँची और नवाब शुजाउद्दौला ने उन्हें फ़ैज़ाबाद आने का निमन्त्रण दिया, लेकिन वे न गये। निमन्त्रण के उत्तर में उन्होंने यह रुबाई लिखकर नवाब शुजाउद्दौला के पास भिजवा दी—

'सौदा' पए-दुनिया तू बहर-सू कब तक?
आवारा अज़ीं-कूचा ब-आं-कू कब तक?
हासिल यही इससे न, कि दुनिया होवे?
बिल्फ़र्ज़ हुआ यूँ भी तो फिर तू कब तक?

लेकिन गुणग्राहक मर गये तो इन्होंने दिल्ली को भी छोड़ दिया। मरहठों के आक्रमण भी होने लगे थे, दिल्ली की दुर्दशा आरंभ हो गयी थी। इसलिए 'सौदा' ने फ़र्रुख़ाबाद में शरण ली। वहाँ नवाब अहमद ख़ां बंगश का राज्य था और मेह्रबान ख़ाँ 'रिन्द' उनके प्रधान मंत्री थे। मेह्रबान ख़ाँ स्वयं अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु गुण-ग्राहकता उनमें प्रचुर मात्रा में थी। उसी समय तत्कालीन महाकवि 'सोज़' भी वहीं थे। मेह्रबान ख़ां अपनी कविताओं पर 'सौदा' और 'सोज़' दोनों से संशोधन कराने लगे। 'सौदा' ने कई वर्ष फ़र्रुख़ाबाद में सुखचैन से व्यतीत किये। कई कसीदे उन्होंने नवाब अहमद ख़ां तथा मेह्र-बान ख़ां की प्रशंसा में लिखे।

१७७१ ई० में नवाब अहमद ख़ां का देहांत हो गया तो 'सौदा' फ़ैज़ाबाद आकर नवाब शुजाउद्दौला के दरबार में रहने लगे। मौलाना आज़ाद ने लिखा है कि लखनऊ पहुँचने पर नवाब ने 'सौदा' को उनकी रुबाई की याद दिलायी तो वे बुरा मानकर घर बैठ गये और शुजाउद्दौला के मरने पर

आसफ़ुद्दौला के राज्य में ही लखनऊ के दरबार में गये। किन्तु इतिहास इस बात को ग़लत प्रमाणित करता है। 'सौदा' की नवाब शुजाउद्दौला से कभी नहीं बिगड़ी। उन्होंने शुजाउद्दौला की प्रशंसा में कई कसीदे भी कहे। नवाब शुजाउद्दौला लखनऊ में रहते भी नहीं थे।

शुजाउद्दौला के देहांत के पश्चात् नवाब आसफ़ुद्दौला का राज्य हुआ। उन्होंने अपनी माँ बहू-बेगम के नियन्त्रण से घबराकर अपनी राजधानी फ़ैज़ाबाद की बजाय लखनऊ को बना लिया। 'सौदा' भी उनके साथ लखनऊ आ गये, किन्तु यहाँ उनकी कविता का उत्कर्ष काल होते हुए भी उनके जीवन ने अधिक साथ नहीं दिया। ११९५ हि० (१७८१ ई०) में लगभग सत्तर वर्ष की अवस्था में उनका देहांत हो गया।

मिर्ज़ा 'सौदा' के स्वभाव में सामंती तत्त्व कूट-कूट कर भरे थे। उनमें आत्म-सम्मान की कमी नहीं थी (शाह आलम का दरबार छोड़कर ही चले आये थे), लेकिन 'मीर' जैसी ऐंठ भी नहीं थी। नवाबों और रईसों से उनकी हमेशा अच्छी तरह पटी। दुनियादार आदमी थे—जहाँ भी जीवन-यापन के साधनों की कमी देखते थे, वहाँ से फौरन चल देते थे। दिल्ली 'मीर' ने भी छोड़ी, लेकिन काफ़ी मुसीबतें उठाने के बाद, किन्तु 'सौदा' ने दिल्ली पर तबाही आने की शुरुआत के साथ ही उसे छोड़ दिया। इसके अतिरिक्त अपने क्रोध के आवेग में वे किसीको क्षमा न करते थे। उनके द्वारा रचित अनेक हजवें (निन्दा पद्य) इसकी साक्षी हैं। साथ ही यह बात भी है कि जी भरकर निन्दा कर लेने के बाद उनका दिल साफ़ हो जाता था। मीर हसन के पिता मीर ज़ाहक से उनकी चोटें अंत समय तक चलती रहीं, किन्तु मीर ज़ाहक के मरने पर उन्होंने मीर हसन के सामने समस्त निन्दा पद्य फाड़ दिये थे (यह दूसरी बात है कि तत्कालीन जनरुचि ने उन्हें सँजोये रखा)। इसी तरह उनके बौद्धिक प्रतिद्वंद्वी फ़ाखिर मकीं के चेले-चपाटों ने जब उनका घोर अपमान किया और नवाब आसफ़ुद्दौला ने उन लोगों को दंड देना चाहा तो मिर्ज़ा 'सौदा' ने यह कहकर उन्हें माफ़ करवा दिया कि 'यह हम लोगों की कलमी लड़ाई है, इसे हमीं लोगों तक सीमित रहने दीजिए।' इस तरह यह रंजिश हमेशा को दूर हो गयी।

'सौदा' को नवाब आसफ़ुद्दौला ने 'मलिकुश्शुअरा' (कवि सम्राट्) की उपाधि

दी थी, जिसके वे सर्वथा योग्य थे। उनकी हजवें और क़सीदे सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए हैं, क्योंकि भाषा का ओज जितना उनके यहाँ है, और कहीं नहीं मिलता और इन दोनों काव्यांगों के लिए प्रमुखतः यही गुण आवश्यक है। उन्होंने मसनवियां, मरसिये तथा अन्य पद्य भी लिखे हैं, लेकिन इनमें कोई ख़ास बात नहीं दिखाई देती, बिलकुल साधारण कोटि के हैं। ग़ज़लों में एक फ़ारसी और एक उर्दू का दीवान है। ग़ज़लों में 'सौदा' 'मीर' से हमेशा पिछड़े रहे, क्योंकि ग़ज़लों के लिए करुणात्मक भाव अपेक्षित है जो 'सौदा' के यहाँ औसत से भी कम है और 'मीर' के यहाँ अत्यधिक। फिर भी विषयों तथा अभिव्यक्ति की नवीनता, भाषा के प्रवाह तथा शब्दों और उनकी गठन के सौंदर्य ने मिलकर 'सौदा' की ग़ज़लों को भी अत्यंत उत्कृष्ट बना दिया है। सूफ़ीवादी भाव-भूमि का 'सौदा' के काव्य में अभाव है, किन्तु ओज तथा उत्फुल्लता उनके काव्य की ऐसी विशेषताएँ हैं कि उनके सामने और कोई नहीं ठहरता।

'सौदा' कवि होने के अतिरिक्त उत्कृष्ट आलोचक भी थे। इसका पता उन साहित्यिक बहसों से चलता है, जिनके सिलसिले में उन्होंने कई पुस्तिकाएँ लिखी हैं। उनका फ़ारसी काव्य प्रथम श्रेणी में रखने के योग्य नहीं है, फिर भी उसके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह बिलकुल रद्दी है।

दो शब्द 'सौदा' की निन्दात्मक कविताओं के बारे में भी कहना आवश्यक मालूम होता है। उनकी ख्याति कसीदों और निन्दात्मक पद्यों के ही कारण हुई है। कसीदे में प्रशंसा होती है और हजवों में निन्दा, किन्तु दोनों के लिए मूलतः एक सी ही सर्जनात्मक मनोदशा अपेक्षित होती है, क्योंकि काव्य-सर्जन के समय स्थिति मानसिक आवेग की होती है और ध्यान का केन्द्र-बिन्दु एक व्यक्ति-विशेष होता है। उर्दू तथा फ़ारसी में क़सीदा एक रस्मी-सी चीज़ हो गयी थी, जिसमें भावोद्रेक की आवश्यकता नहीं थी, फिर भी परम्परा के अनुसार उसमें ओज, प्रवाह तथा तीव्रता तो आवश्यक थी ही; और यही गुण किसी निन्दात्मक पद्य को भी प्रभावशाली बनाने में समर्थ होते हैं। इसके विपरीत ग़ज़ल या मसनवी में शृंगार और करुण रस का परिपाक होता है, जो शांति रस की सीमा छूते हैं। 'सौदा' की सर्जनात्मक प्रतिभा का उद्वेग एक अनिवार्य अंग था, इसीलिए वे क़सीदों और हजवों में अपना नाम अमर कर गये। इस समय

तो ये काव्यांग समाप्त ही हो गये हैं और उनके फिर से उभरने के कोई लक्षण भी नहीं दिखाई देते। इसलिए कहा जा सकता है कि इन काव्यांगों के इतिहास में सर्वोच्च आसन पर 'सौदा' ही बैठे दिखाई देते हैं।

क़सीदा और हजो स्पष्टतः एक ही चित्र के दो पहलू हैं—किन्तु एक रचनात्मक है और दूसरा ध्वंसात्मक। क़सीदा पढ़कर हमें शब्दों तथा वाक्य-विन्यासों का आनंद मिलता है और हमें बोध होता है कि हम किसी बाग़ की सैर कर रहे हैं, या फ्रांस के फूलों के त्योहार को देख रहे हैं, जिसमें लोग एक-दूसरे पर फूलों की बौछार करते हैं। हजवें पढ़ते समय मालूम होता है कि पश्चिमी उत्तर प्रदेश के देहात की होली देख रहे हैं, जिसमें चारों ओर से कीचड़, गोबर, कालिख बल्कि भीगे जूतों की वर्षा हो रही है। कुछ लोगों को इस थुक्का-फ़ज़ीहत में भी आनन्द आ सकता है, किन्तु किसी भी परिष्कृत रुचिवाले व्यक्ति के लिए इनमें रस लेना असंभव-सा ही है। फिर 'सौदा' की हजवें! —जिनके बारे में मौलाना आज़ाद ने लिखा है :······"फिर शर्म की आँखें बन्द (करके) और बेहयाई का मुँह खोलकर वह बेनुक़्त सुनाते थे कि शैतान भी अमां मांगे।" औरत, मर्द, बूढ़ा, बुढ़िया, लड़का, लड़की किसीके कपड़े उतारने में नहीं चूकते थे। निन्दापात्र के साथ ही उसकी निरपराध पत्नी और पुत्री को भी ले डालते थ। बेज़बान जानवरों—-हाथी, घोड़े आदि को भी नहीं छोड़ा। स्पष्ट है कि ऐसे काव्य का केवल ऐतिहासिक महत्त्व हो सकता है। आज की स्थिति में उसकी प्रशंसा असंभव है।

फिर भी मिर्ज़ा 'सौदा' की कम-से-कम कुछ हजवों का एक रचनात्मक पहलू भी है। जिन पद्यों में उन्होंने तत्कालीन शासन-व्यवस्था का वर्णन किया है, उनसे एक तो तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था पर यथेष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है, दूसरे उनमें अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक जोनाथन स्विफ़्ट की भाँति व्यंग्यात्मक सुधारवादी पहलू भी निकाले जा सकते हैं। फिर भी याद रखना चाहिए कि ऐसी रचनात्मक निन्दात्मक कविताएँ बहुत कम हैं।

ठीक तो यह होता कि 'सौदा' के क़सीदों और हजवों का नमूना भी दिया जाता, किन्तु उनका पूरा रस तभी मिल सकता है जब पूरी कविताएँ

दी जायें। स्थानाभाव से यहाँ ऐसा करना संभव नहीं है। इसलिए निम्न-लिखित पंक्तियों में उनकी ग़ज़लों का ही नमूना दिया जा रहा है—

टूटे तेरी निगह से अगर दिल हुबाब का
पानी भी फिर पियें तो मज़ा हो शराब का।
दोज़ख़ मुझे क़बूल है ऐ मुनकिरो नकीर
लेकिन नहीं दिमाग़ सवालो जवाब का।
या किसके दिल को कशमकशे इश्क़ का दिमाग़
यारब ! बुरा हो दीदए - ख़ाना - ख़राब का।
'सौदा' निगाहे-दीदए-तहक़ीक़ के हुज़ूर
जल्वा हर एक ज़र्रे में है आफ़ताब का।

दिल में तेरे जो कोई घर कर गया
सख़्त मुहिम थी कि वो सर कर गया।
नफ़ा को पहुँचा ये तुझे दे के दिल
जान का मैं अपनी ज़रर कर गया।
देख ली साक़ी की भी दरिया-दिली
लब न हमारे कभू तर कर गया।

ऐ लाला गो फ़लक़ ने दिये तुझको चार दाग़
छाती मेरी सराह कि इक दिल हज़ार दाग़।
सीने से सोज़े-इश्क़ तेरा हाथ कब उठाये
ता फूट कर जिगर से न हो जाये पार दाग़।

इस क़द्र सादा-ओ-पुरकार कहीं देखा है ?
बेनमूद इतना नमूदार कहीं देखा है ?

ख्वाजा मीर 'दर्द'—हज़रत ख्वाजा मीर 'दर्द' ने बहुत थोड़ी काव्य-रचना की है, किन्तु निष्पक्ष रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने गागर में सागर

भर दिया है या मौलाना मुहम्मद हुसेन आज़ाद के शब्दों में "तलवारों की आब-दारी निश्तर में भर देते थे।" वे अपने युग के काव्य के प्रमुख स्तंभों में थे। यही नहीं, सूफ़ीवाद का जैसा सहजतापूर्ण चमत्कारी वर्णन उन्होंने किया है, वह किसी और से नहीं बना।

ख्वाजा मीर 'दर्द' सूफ़ी संतों के एक प्रमुख वंश में ११३३ हि० (१७२१ ई०) में पैदा हुए थे। उनकी वंश-परम्परा पिता की ओर से ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंद से मिलती है और माता की ओर से हज़रत ग़ौस आज़म तक पहुँचती है। ख्वाजा मीर के बुज़ुर्ग बुख़ारा से भारत में आये थे, लेकिन उनके पिता ख्वाजा मुहम्मद नासिर भारत में ही पैदा हुए थे। ख्वाजा मुहम्मद नासिर जवान होने पर शाही मनसबदार नियुक्त हो गये। लेकिन कुछ समय के बाद ही उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और आध्यात्मिकता की ओर झुक गये और हज़रत शाह ख्वाजा मुहम्मद ज़ुबैर के, जो उस समय की दिल्ली के एक प्रख्यात सूफ़ी संत थे, शिष्य हो गये। बाद में प्रसिद्ध सूफ़ी बुज़ुर्ग शाह गुलशन से भी उन्होंने सत्संग लाभ किया था।

काव्य-प्रतिभा ख्वाजा मीर 'दर्द' को अपनी वंश-परम्परा से ही मिली थी। सूफ़ी संत स्वभावतः ही काव्य तथा संगीत की ओर झुके होते हैं। 'दर्द' के पूर्वज भी कई पीढ़ियों से फ़ारसी में काव्यरचना करते थे। उनके पिता भी शायर थे और 'अंदलीब' तख़ल्लुस करते थे। 'दर्द' की शिक्षा-दीक्षा पिता द्वारा ही सम्पन्न हुई और काव्यसर्जन भी उन्होंने पिता के ही प्रभाव से किया। उनकी युवा-वस्था साधारण सामन्ती ढंग से बीती। मुसहफ़ी के कथनानुसार वे सिपाही पेशा थे, किन्तु २२ वर्ष की अवस्था में पिता के कहने से फ़क़ीरी ले ली। ३९ वर्ष की अवस्था में उन्होंने पिता के देहावसान पर उनकी धार्मिक गद्दी सँभाली। अपनी ख़ानदानी फ़क़ीरी तथा व्यक्तिगत स्वच्छ जीवन तथा संतस्वभाव के कारण वे जीवनभर सारे समाज के आदर तथा श्रद्धा के पात्र रहे। सन् ११९९ हिजरी (१७८५ ईसवी) में उनका देहावसान हुआ।

जहाँ तक स्वभाव का सम्बन्ध है 'दर्द' में संतों के समस्त गुण विद्यमान थे। उनका जीवन निष्कलंक था, बात करने की अधिक आदत नहीं थी, शांति और संतोष उनमें कूट-कूटकर भरे थे, गांभीर्य उन जैसा किसी समकालीन में नहीं

दिखाई देता और निर्भीकता तथा आत्मसम्मान भी किसी से कम न था। फ़क़ीर होने के बाद किसी दरबार में न गये। शाह आलम ने दो बार बुलाया, तब भी न गये। अंत में शाह आलम स्वयं ही उनकी आध्यात्मिक काव्य-संगीत सभा में जा पहुँचे। पाँव में कुछ कष्ट था, इसलिए बादशाह पाँव फैलाकर बैठे। 'दर्द' की त्योरियाँ चढ़ गयीं। बादशाह ने यह लक्ष्य करके कहा कि मेरे पाँव में तकलीफ़ है, इसलिए ऐसा किया है। 'दर्द' बोले कि फिर आने की ज़रूरत ही क्या थी ?

दिल्ली पर उस ज़माने में बड़ी-बड़ी मुसीबतें आयीं। सारे अमीरों तथा गुणीजनों ने दिल्ली छोड़-छोड़ कर बाहर जाना आरंभ कर दिया। ख़्वाजा साहब को इन सामयिक परिवर्तनों ने बिलकुल प्रभावित न किया। अपने पूर्वजों की जिस गद्दी को उन्होंने सँभाला था, उसे अंत तक सँभाले रहे। ऐसी निर्भीकता से ही मालूम होता है कि किसीको ईश्वर पर सही अर्थ में विश्वास है या नहीं।

'दर्द' के ज़माने की एक विशेषता काव्य-क्षेत्र में परस्पर निन्दा भी थी। 'मीर', 'सौदा' आदि सभी इस रंग में रँगे दिखाई देते हैं। केवल 'दर्द' ही ऐसे एक मात्र कवि दिखाई देते हैं, जिन पर कभी किसी ने चोट नहीं की। इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि उन्होंने स्वयं अपनी जिह्वा को किसी की निन्दा से कलुषित नहीं किया। सारी उम्र किसी बहस में नहीं पड़े, किसीके साथ स्पर्धा का उन्हें विचार तक नहीं हुआ। उनके दीवान में फूल ही फूल भरे हैं, काँटों का कहीं नाम-निशान नहीं।

'दर्द' को संगीत का अच्छा ज्ञान था और उससे रुचि भी बहुत थी। महीने में दो बार उनके यहाँ महफ़िले–समाअ (सूफ़ी संगीत सभा) होती थीं, जिनमें शहर के बड़े-बड़े कव्वाल आया करते थे। मुहर्रम के अवसर पर मजलिसें होती थीं, जिनमें मरसिये पढ़े जाते थे।

'दर्द' में काव्य-प्रतिभा के अतिरिक्त विद्वत्ता भी उच्च कोटि की थी। उनकी काव्य-रचनाएँ तो थोड़ी ही हैं—एक छोटा-सा दीवान उर्दू में और एक फ़ारसी में है। क़सीदा, मसनवी आदि कुछ नहीं लिखा—किन्तु सूफ़ीमत सम्बन्धी लगभग एक दर्जन पुस्तकें उन्होंने फ़ारसी में लिखी हैं, जिनमें सूफ़ीमत के गूढ़ तत्त्वों की बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या की गयी है।

'दर्द' के काव्य की पहली विशेषता तो यही है कि वे गागर में सागर भर देते हैं। थोड़े-से शब्दों में जो बात कहते हैं, उसका प्रभाव असीमित होता है। इस लिहाज़ से उनकी रचनाएँ बहुत ही परिपक्व कही जा सकती हैं। साथ ही सरलता ऐसी है कि बात दिल में उतरती चली जाती है। उनकी रचनाओं में कहीं ऐसा नहीं होता कि मस्तिष्क पर ज़ोर डालना पड़े। सूफ़ीमत के गूढ़ तत्त्वों को उन्होंने अत्यंत सरल भाषा में कहकर चमत्कार ही कर दिया है। तीसरी विशेषता यह है कि उनकी कविता में माधुर्य तथा गीतात्मकता के तत्त्व बहुत अधिक पाये जाते हैं। इसका कारण केवल यह हो सकता है कि वे स्वयं संगीतज्ञ थे और संगीत-मर्मज्ञ भी। ध्वन्यात्मक सौंदर्य से उनका कोई शेर ख़ाली नहीं। चौथी बात यह है कि उनमें 'मीर' के बाद सबसे अधिक करुणा दिखाई देती है। इसका कारण उनका सूफ़ी दर्शन में रम जाना है। यह ज़रूर है कि 'मीर' जैसी तड़पने, तड़पानेवाली करुणा उनके यहाँ नहीं है, बल्कि प्रेम का मीठा-मीठा दर्द है, जिसमें 'आह-आह' करने में मज़ा आता है।

दो शब्द उनकी भाषा के बारे में भी। 'दर्द' की भाषा यूँ तो दो सौ वर्ष पहले की है और इस लिहाज़ से उसमें कुछ प्रयोग आज से अलग दिखाई ही देते हैं, फिर भी 'मीर' और 'सौदा' से उनकी भाषा हमारी वर्तमान उर्दू के कहीं अधिक समीप है। इसका कारण यह है कि उन्होंने भाषा को सरलतम रखते हुए भी हल्के या बाज़ारू शब्दों और मुहावरों का प्रयोग नहीं किया। नीचे उनकी ग़ज़लों के कुछ शेर दिये जाते हैं, जिनसे उपर्युक्त बातों का अंदाज़ा हो जायेगा—

तुहमते चन्द अपने ज़िम्मे धर चले
जिस लिए आये थे हम सो कर चले।
ज़िन्दगी है या कोई तूफ़ान है
हम तो इस जीने के हाथों मर चले।
शमअ के मानिन्द हम इस बज़्म में
चश्म-नम आये थे, दामन-तर चले।

साक़िया यां लग रहा है चल चलाव
जब तलक बस चल सके साग़र चले।

है ग़लत गर गुमान में कुछ है
तुझ सिवा भी जहान में कुछ है?
दिल भी तेरे ही ढंग सीखा है
आन में कुछ है आन में कुछ है।
इन दिनों कुछ अजब है दिल का हाल
देखता कुछ है ध्यान में कुछ है।

जग में आकर इधर-उधर देखा
तू ही आया नज़र जिधर देखा।
जान से हो गये बदन ख़ाली
जिस तरफ़ तूने आँख भर देखा।

सय्यद मुहम्मद मीर 'सोज़'—'सोज़' भी तत्कालीन उर्दू काव्य के स्तंभों में से हैं। यह शाहक़ुतुब आलम गुजराती के वंशज थे। पूर्वज बुख़ारा के निवासी थे। 'सोज़' के पिता सय्यद ज़ियाउद्दीन बड़े सम्मानित व्यक्ति थे और अपने काल में धनुष-विद्या में प्रसिद्ध थे। मीर 'सोज़' का जन्म दिल्ली में ११३३ हि० (१७२१ ई०) में हुआ। वह निशानेबाज़ी, घुड़सवारी, पहलवानी आदि में निपुण थे और सुलेखन कला में भी दक्ष थे। दिल्ली पर जब शाह आलम के समय में तबाही आयी तो मीर 'सोज़' भी १७७७ ई० में वहाँ से निकल पड़े और कुछ वर्ष फ़र्रुख़ाबाद में नवाब अहमद ख़ां बंगश के मन्त्री मेह्रबान खाँ 'रिन्द' के उस्ताद की हैसियत से रहे। इसके बाद लखनऊ पहुँचे। नवाब आसफ़ुद्दौला ने इनका स्वागत किया, किन्तु इन्हें जो आशा थी वह शायद पूरी न हुई। १२१२ हिजरी (१७९८ ई०) में यह मुर्शिदाबाद के दरबार में पहुँचे, किन्तु उसी वर्ष फिर वापस लखनऊ चले आये। अब नवाब आसफ़ुद्दौला ने इनका शिष्यत्व स्वीकार किया, किन्तु जीवन ने इनका साथ न दिया और कुछ दिनों बाद ही १२१३ हि० (१७९८ ई०) में इनका देहावसान हो गया।

यद्यपि 'सोज़' कवित्व में 'मीर' और 'सौदा' के समकक्ष नहीं ठहर पाते, तथापि उनकी ग़ज़लों की—उन्होंने अधिकतर ग़ज़लें ही लिखी हैं, क़सीदा आदि कुछ नहीं लिखा—कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। वे अधिकतर शृंगार-रस के कवि हैं और उनकी ग़ज़लों में आध्यात्मिकता का पुट भी नहीं होता, केवल भौतिक प्रेम की बातें करते हैं। उनके शब्द अत्यंत कोमल और मधुर होते हैं, यद्यपि कुछ पुराने ढंग के शब्द भी आ गये हैं, और भाव अत्यंत सरल तथा करुणापूर्ण। नये-नये मज़मून पैदा करने की उन्हें 'सौदा' की भाँति चिन्ता नहीं होती, प्रेम-व्यापार में जो भावनाएँ साधारणतः सभी के हृदय में उठती हैं, उन्हींको प्रभावशाली ढंग से पेश कर देते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी प्रियतम को भी बुरा-भला कहने लगते हैं। दरअस्ल उच्छृंखल प्रेम की परम्परा जो बाद में स्थापित हुई उसके बीज 'सोज़' की कविता में ही मिलते हैं, यद्यपि स्वयं उसमें उच्छृंखल प्रेम नहीं दिखाई देता।

'सोज़' पहले अपने नाम की अनुरूपता से 'मीर' तख़ल्लुस करते थे, लेकिन जब मीर मुहम्मद तक़ी ने अपना तख़ल्लुस 'मीर' किया तो उन्होंने उसे बदलकर 'सोज़' कर दिया। उनकी किसीसे लेखनी-युद्ध करने की आदत नहीं थी। 'सौदा' ने उनके मुहावरों पर आपत्ति की तो वे हँसकर रह गये। 'मीर' तो उन्हें किसी ख़ातिर में ही न लाते थे। किन्तु 'सोज़' को इसकी कुछ चिन्ता न थी। उन्होंने किसीके लिए हजो (निंदा पद्य) भी नहीं कही। वे अपने काम से काम रखते थे।

उनकी एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि वे अपनी कविता पढ़ने के साथ ऐसे भाव बताते थे, जैसे 'एक्टिंग' कर रहे हों। उनकी इस पठनशैली की नक़ल कई लोगों ने की, किन्तु उन जैसी बात कोई और न पैदा कर सका। नीचे 'सोज़' की कविता के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

हुआ दिल को मैं कहता-कहता दिवाना
पर उस बेख़बर ने कहा कुछ न माना।
मुझे तो तुम्हारी ख़ुशी चाहिए है
तुम्हें गो हो मंज़ूर मेरा कुढ़ाना।

कहाँ ढूँढूँ है है कहाँ जाऊँ यारब
कहीं जां का पाता नहीं मैं ठिकाना।

आशिक़ हुआ, असीर हुआ मुब्तला हुआ
क्या जानिये कि देखते ही दिल को क्या हुआ!
सुनते ही सोज की ख़बरे-मर्ग ख़ुश हुआ
कहने लगा कि पिंड तो छूटा, भला हुआ!

बुलबुल कहीं न जाइयो ज़िनहार देखना
अपने ही मन में फूलेगी गुलज़ार देखना।
नाज़ुक है दिल न ठेस लगाना इसे कहीं
ग़म से भरा है ऐ मेरे ग़मख़्वार देखना!

मीर ग़ुलाम हसन 'हसन'—मीर हसन अपनी मसनवी 'सहरुल-बयान' के कारण उर्दू काव्य में अमर हो गये हैं। उनके पिता मीर 'ज़ाहक' बड़े विनोदी स्वभाव के बुज़ुर्ग थे जिनकी 'सौदा' से चोटें चला करती थीं। मीर 'हसन' के पुत्र मीर 'ख़लीक़' तथा मीर 'ख़ुल्क' और मीर 'ख़लीक़' के पुत्र मीर 'अनीस' ने मरसिये में वही स्थान प्राप्त किया जो मीर 'हसन' ने मसनवी के क्षेत्र में। इनका वंश हिरात के मशहूर सय्यदों का था। मीर 'हसन' के प्रपितामह मीर इमामी भारत आकर दिल्ली में सय्यदवाड़ा मुहल्ले में रहने लगे। वहीं ११४० हि० (१७२४ ई०) में इनका जन्म हुआ। आरंभ में उन्होंने अपनी काव्य-साधना पिता के ही चरणों में बैठकर की। बाद में ख़्वाजा मीर 'दर्द' से कविता में संशोधन कराया। दिल्ली की तबाही के बाद अपने पिता के साथ अवध की राजधानी फ़ैज़ाबाद आकर रहे। रास्ते में कुछ समय तक डीग में रहे। एक बार शाहमदार की छड़ियों के साथ यात्रा की, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी एक मसनवी 'गुलज़ारे-अरम' में किया है, जिसमें फ़ैज़ाबाद की प्रशंसा तथा लखनऊ की निन्दा है। फ़ैज़ाबाद में नवाब आसफ़ुद्दौला की माँ बहूबेगम के भाई नवाब सालार जंग के यहाँ नौकरी की। १७७५ ई० में नवाब आसफ़ुद्दौला गद्दी पर

बैठे और उन्होंने राजधानी फ़ैज़ाबाद से बदलकर लखनऊ कर दी। मीर 'हसन' भी लखनऊ आ गये, लेकिन उनका मकान फ़ैज़ाबाद में भी रहा और वे बराबर वहाँ आते-जाते रहे। लखनऊ में ही १२०१ हि० (१७८७ ई०) के मुहर्रम मास में उनका देहावसान हुआ।

मीर 'हसन' का हुलिया 'आबे-हयात' में यूँ लिखा है—"मियाना (मंझोला) क़द, खुशअंदाम (सुडौल शरीर), गोरा रंग, जुमला (समस्त) क़वानीने-शराफ़त (भद्रता के नियमों) और आईने-ख़ानदान (वंश के तौर तरीक़ों) में अपने वालिद के पाबंद थे; इतना था कि दाढ़ी मुँडवाते थे।......सर पर बाँकी टोपी, तन में तनज़ेब का अँगरखा, फँसी हुई आस्तीनें, कमर से दुपट्टा बँधा।" शौकीन मिज़ाज और प्रेमी जीव थे। पिता की विनोद-प्रियता उत्तराधिकार में मिली थी, किन्तु किसी अवसर पर शिष्टता तथा सभ्यता का दामन नहीं छूटता था। कुछ हजवें भी लिखी हैं, किन्तु अत्यंत शिष्ट भाषा में हैं। उनकी रचनाएँ प्रसाद गुण से परिपूर्ण और सरल होती हैं। मालूम होता है कि फूल झड़ रहे हैं। ग़ज़ल, रुबाई, मरसिया सभी अच्छा कहते थे, किन्तु दुर्भाग्य से इस समय उनकी मसनवी और दो-चार ग़ज़लें ही उपलब्ध हैं। उनकी ग़ज़लों की शैली मीर 'सोज़' से मिलती है और उनमें कुछ-कुछ मीर तक़ी 'मीर' की ग़ज़लों का भी आनन्द आता है, यद्यपि उन्होंने लखनऊ में 'सौदा' से अपनी कविताओं का सशोधन कराया था। इसके पहले वे ज़ियाउद्दीन 'ज़िया' के भी शागिर्द रहे थे।

डा० रामबाबू सक्सेना के कथनानुसार मीरहसन की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) एक ग़ज़लों का दीवान जिसमें कुछ अन्य काव्यरूप—तरकीब बंद, मुख़म्मस, मुसल्लस आदि भी हैं।

(२) ग्यारह मसनवियां, जिनमें 'सहरुल्बयान', 'गुलज़ारे-अरम' और 'मूज़ुल-आरफ़ीन' प्रसिद्ध हैं। मसनवी 'सहरुल-बयान' या 'किस्सा बेनज़ीर व बद्रे-मुनीर' उर्दू काव्य का अनुपम रत्न है और उर्दू की सबसे अच्छी मसनवी है। यह ११९९ हि० (१७८५ ई०) में लिखी गयी। जैसा कि क़तील और मुसहफ़ी के इतिहासों से सिद्ध है, यह नवाब आसफ़ुद्दौला के नाम समर्पित हुई

है। इसमें शाहज़ादा बेनज़ीर और शाहज़ादी बद्रे-मुनीर के प्रेम का वृत्तांत है, जिसमें प्रसंगवश अन्य रोचक वर्णन भी आ गये हैं, जैसे प्राचीन समय की वेश-भूषा, आभूषण, विवाह की रस्में, बरात का सामान आदि बड़े सुंदर ढंग से वर्णित हैं। भाषा ऐसी साफ़ और मुहावरेदार है कि सैकड़ों शेर मुहावरे के रूप में लोगों की ज़बान पर चढ़ गये हैं। इसका हर मिसरा सुंदर और हर शेर चुना हुआ है। वर्णन शैली, भाषा, विषय-प्रतिपादन और कथनोपकथन, सभी प्रशंसनीय हैं। विशेषता यह है कि पुस्तक को लिखे लगभग दो सौ वर्ष हो गये, किन्तु भाषा वही है जिसे हम आप बोलते हैं। भाव-चित्रण अत्यंत स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक है और सरलता न उसमें जान डाल दी है। इन्हीं समस्त गुणों के कारण इसे उर्दू की सबसे अच्छी मसनवी समझा जाता है और ऐसा समझना उचित भी है। मसनवी 'गुलज़ारे-अरम' का उल्लेख पहले ही हो चुका है। 'रमूज़ुल-आरफ़ीन' का उल्लेख स्वयं मीर हसन द्वारा लिखित 'तज़किरे' के अलावा और कहीं नहीं मिलता।

(३) मीर 'हसन' के कई क़सीदे और कई हजवें भी हैं। हजवें शिष्ट और पठनीय हैं, लेकिन क़सीदों में कोई ख़ास जोर नहीं मालूम होता, बहुत मामूली क़िस्म के क़सीदे हैं।

(४) उन्होंने कुछ मरसिये और सलाम भी लिखे हैं, किन्तु उनका केवल ऐतिहासिक महत्त्व है।

(५) फ़ारसी में, लिखा हुआ मीर हसन का 'तज़किरतुश्शुअरा' भी 'मीर' और मुसहफ़ी के तज़किरों की भाँति प्रसिद्ध है और अब तक उसका हवाला दिया जाता है। इसमें लगभग ३०० कवियों का वर्णन है। अनुमानतः यह ११९२ हि० (१७७८ ई०) के आस-पास लिखा गया है। लेखक ने इसे तीन कालों में विभाजित किया है। पहला काल उन कवियों का है जो फ़र्रुखसियर से पूर्व हुए हैं, दूसरा फ़र्रुखसियर से लेकर मुहम्मदशाह तक के ज़माने के कवियों का और तीसरा स्वयं अपने समकालीन कवियों का।

मीर 'हसन' की काव्य शैली का नमूना दिखाने के लिए उनकी एक ग़ज़ल देखिए—

वो जब तक कि ज़ुल्फ़ें सँवारा किया
खड़ा उस पे मैं जान वारा किया!
अभी दिल को लेकर गया मेरे आह
वो चलता रहा मैं पुकारा किया!
क़िमारे मुहब्बत में बाज़ी सदा
वो जीता किया और मैं हारा किया
किया क़त्ल और जान बख़्शी भी की
'हसन' उसने अहसां दोबारा किया!

: ३ :

नज़ीर अकबराबादी

'नज़ीर' अकबराबादी उर्दू के ऐसे निराले कवि हैं जो वास्तव में अपने समय के बहुत पहले पैदा हो गये या यूँ कह लीजिए कि उन्होंने इस ढंग से कविता की जिसका मूल्यांकन डेढ़-दो सौ वर्ष के बाद ही किया जा सकता था। इसीलिए वे उर्दू काव्य के विकास की शृंखला की कोई कड़ी नहीं बनाते, बल्कि दूरस्थ नक्षत्र की भाँति सबसे अलग जा पड़े हैं और घोर अँधेरे में अपनी टिमटिमाहट से हमेशा उजाला करते रहते हैं। इसीलिए हमने उन्हें किसी विशेष युग के साथ नहीं बाँधा है, बल्कि उन्हें अलग से ही जगह दी है, जिसके वे अधिकारी भी हैं।

'नज़ीर' का जीवनवृत्त भी प्रो० ग़फ़ूर 'शहबाज़' के प्रयत्नों के फलस्वरूप पहले-पहल १९०० ई० में प्रकाश में आया। उन्नीसवीं शताब्दी के आलोचकों ने या तो 'नज़ीर' की पूर्णतः उपेक्षा ही कर दी या उन्हें याद भी किया तो निन्दा करते हुए। प्रो० शहबाज़ की "ज़िन्दगानी-ए-बे नज़ीर" से मालूम होता है कि उनका जन्म दिल्ली में १७३५ ई० में हुआ, यद्यपि डा० रामबाबू सक्सेना कहते हैं कि उनका जन्मकाल नादिरशाह के हमले (१७३७ ई०) का है। इनका नाम वली मुहम्मद था और पिता का मुहम्मद फ़ारूक़। उनकी माँ आगरे के क़िलेदार नवाब सुलतान ख़ाँ की बेटी थीं। 'नज़ीर' की पैदायश के बाद ही दिल्ली पर लगातार मुसीबतें आने लगीं। १७३९ ई० में नादिर शाह का हमला हुआ। उसने दिल्ली को ख़ूब लूटा और भयानक नरवध किया। दिल्ली की गलियों में ख़ून की नदियाँ बह गयीं। इसके बाद भी बहुत दिनों तक दिल्ली में अशांति रही। अहमद शाह अब्दाली ने भी पैदर पै तीन बार १७४८, १७५१ और १७५६ ई० में दिल्ली पर हमले किये। मराठों के भी आक्रमण हो रहे थे। अतएव 'नज़ीर' भी अपनी माँ और नानी को साथ लेकर बाईस-तेईस

साल की अवस्था में दिल्ली से आगरे (अकबराबाद) चले आये और वहीं ताजगंज में नूरी दरवाज़े पर मकान लेकर रहने लगे। 'नज़ीर' आगरे में बसे तो ऐसे बसे कि मर कर भी वहीं दफ़्न हुए। आगरे में उन्होंने तहव्वरुन्निसा बेगम से विवाह किया। यह अहदी अब्दुर्रहमान ख़ाँ चग़ताई की नवासी और मुहम्मद रहमान ख़ाँ की बेटी थीं। 'नज़ीर' के दो संतानें थीं—एक लड़का गुलज़ार अली और एक लड़की इमामी बेगम। इमामी बेगम के एक लड़की हुई, जिसका नाम विलायती बेगम था। विलायती बेगम प्रो० शहबाज़ के समय में जीवित थीं और 'ज़िन्दगानी-ए-बेनज़ीर' के लिए उन्होंने बहुत-सी आवश्यक सामग्री दी थी।

'नज़ीर' संतोषी प्रकृति के मस्त जीव थे। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत मामूली रही—यद्यपि फ़ाक़ों की नौबत कभी नहीं आयी—लेकिन रुपया उन्हें कभी आकृष्ट न कर सका। नवाब सआदत अली ख़ाँ ने उन्हें लखनऊ बुलाया, लेकिन उन्होंने जाने से इनकार कर दिया। इसी प्रकार भरतपुर के नवाब ने उन्हें बुलाया, किन्तु वे न गये। अध्यापन-कार्य के सिलसिले में वे कुछ दिन मथुरा में भी रहे, लेकिन उन्हें आगरा छोड़ना पसंद न था। आगरे की रंगरलियाँ उन्हें कहीं नहीं मिल सकती थीं, इसलिए वे आगरे लौट आये और लाला विलास राम के लड़कों को पढ़ाने के लिए सत्रह रुपये मासिक पर नौकर हो गये। उनकी जीविका का सहारा केवल यही नौकरी रही।

संतोष के साथ ही जीवन का पूरा आनन्द लेना वे जानते थे। जवानी के दिनों में उन्होंने रंगरलियाँ भी कीं। उनकी रचनाओं से मालूम होता है कि उन्हें वेश्याओं का काफ़ी अनुभव था। विशेषतः एक वेश्या मोती बाई से उन्हें बड़ा प्रेम था। इसके अलावा उन्हें पक्षियों के पालने का भी शौक़ रहा होगा। अपनी रचनाओं में उन्होंने पक्षियों की जितनी जानकारी दिखायी है, उतनी किसी और ने नहीं दिखायी, यहाँ तक कि उनके द्वारा वर्णित कुछ पक्षियों के नाम भी आज लोग नहीं जानते। इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है। पक्षियों के पालने का शौक़ जितना उन्नीसवीं शताब्दी में लोगों को था, उतना आज के व्यस्त जीवन में संभव नहीं। इसलिए आज उनके ज़माने के कई पक्षियों का पालना छोड़ ही दिया गया है और लोग उनका नाम भी भूल गये हैं।

मेले-ठेलों आदि से भी 'नज़ीर' को दिलचस्पी थी। तैराकी में भी उन्हें

रुचि थी। कुश्ती का भी उन्हें शौक़ मालूम होता है। संक्षेप में कोई ऐसा शौक़ न था, जो 'नज़ीर' ने पूरा न किया हो।

अंत में पच्चानवे वर्ष की अवस्था में १६ अगस्त, १८३० ई० को उनका देहावसान हो गया। यह सन् उनके एक शिष्य द्वारा कही गयी 'तारीख़' से मालूम होता है। लायल साहब उनकी मृत्यु का समय १८३२ ई० बताते हैं, लेकिन इसका कोई प्रमाण नहीं देते। यह अटकल शायद उन्होंने इस आधार पर लगायी होगी कि 'नज़ीर' के बारे में मशहूर था कि वे सौ वर्ष जिये। उनका जन्म संवत् ११४७ हि० (१७३५ ई०) माना गया है। इसी आधार पर उनके देहांत का समय १२४७ हि० (१८३२ ई०) लायल साहब ने मान लिया। लेकिन किम्वदंती और अटकल की बजाय स्पष्ट 'तारीख़' का आधार ही मानना चाहिए, जो १८३० ई० में उनका देहांत बताती है। इस प्रकार ईसवी हिसाब से पचानवे और हिजरी हिसाब से अट्ठानवे वर्ष की अवस्था में 'नज़ीर' का देहांत हुआ। मृत्यु का तात्कालिक कारण पक्षाघात था।

'नज़ीर' ने बहुत लिखा। उनके द्वारा रचित शेर सबके सब प्राप्य होते तो उनकी संख्या दो लाख से अधिक होती। लेकिन उन्होंने ख़ुद कुछ सुरक्षित नहीं किया। जो कुछ भी आज प्राप्य है (और वह भी कम नहीं है—लगभग छः हज़ार शेर हैं) वह उनके प्रिय शिष्यों—लाला विलास राम के पुत्रों ने अपनी कापियों में लिख लिया था। इन्हीं शिष्यों द्वारा सुरक्षित निम्नलिखित सामग्री मिलती है—

(१) एक कुल्लियात (काव्य-संग्रह) उर्दू का जिसमें नज़्में और ग़ज़लें शामिल हैं।

(२) एक दीवान फ़ारसी नज़्मों का।

(३) फ़ारसी गद्य में नौ पुस्तकें, जिनके नाम हैं नग़मए-गुज़ीं, क़द्रे-मतीं, फ़ह्मे-करीं, बज़्मे-ऐश, रअनाए-ज़ेबा, हुस्ने-बाज़ार, तर्ज़े-तक़रीर तथा दो और जिनके नाम मालूम नहीं हो सके।

'नज़ीर' अपने ज़माने में और उसके बहुत दिनों बाद भी जन-साधारण में तो प्रिय रहे, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी भर में साहित्यिक मान्यता प्राप्त नहीं कर सके। तत्कालीन समालोचकों ने या तो उनकी पूरी उपेक्षा कर दी या फिर उन्हें

याद भी किया तो निकृष्ट बाज़ारू कवि के रूप में, जो बहुधा अश्लील काव्य-रचना करता है। किन्तु बीसवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थ में 'नज़ीर' की गिनती महाकवियों में होने लगी और यह भी संभव है कि पचास या सौ वर्ष बाद उन्हें सर्वश्रेष्ठ उर्दू कवि कह दिया जाय। इस तर्क विरुद्ध समालोचना के विकास का रहस्य इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि 'नज़ीर' की चेतना अपने समय से बहुत आगे बढ़ी हुई थी, जिसे उनके समकालीनों ने बहुत पीछे की चीज़ समझा और उसको कोई महत्त्व नहीं दिया। 'नज़ीर' के समय का भारत सामंतवादी भारत था, जिसमें या तो धर्म और दर्शन के आधार पर साहित्य-सर्जन किया जाता था, या फिर सौंदर्य के बोध का ऐसा आधार ढूंढा जाता था, जो सामंत वर्ग के जीवन में मिल सके। इसके विरुद्ध 'नज़ीर' बिलकुल जन-साधारण के कवि थे, जो सारे जीवन को जनसाधारण की दृष्टि से देखा करते थे। उन्होंने जीवन की प्रत्येक अनुभूति का चित्रण किया है, किन्तु उनकी चेतना जन-साधारण के जीवन के परिप्रेक्ष्य में ही देखी जा सकती है। वे प्रेम की बात करेंगे तो भी उसमें राज-कुमारों और राजकुमारियों के विरहाग्नि में जलने का वर्णन न होगा, बल्कि साधारण जन का तूफ़ानी प्रेम होगा, भक्ति की बातें करेंगे तो भी उस साधारण जन की भावना का चित्रण करेंगे जो कृष्ण और मुहम्मद दोनों के आगे नतमस्तक हो जाता है। महलों और दरबारों की सजावट की चकाचौंध और शाही सवा-रियों या शिकार के वर्णन की बजाय उनके यहाँ तैराकी, बलदेवजी का मेला, आगरे की ककड़ी, ताजमहल और रीछ का तमाशा दिखाई देगा। इसके अलावा वे कुछ ऐसी भी बातें कह जायेंगे, जो सामंती युग के सभ्य समाज में वर्जित थीं—जैसे ग़रीबी का रोना, मौत का डर और रोटियों का महत्त्व। स्पष्ट है कि साधा-रण, किन्तु सम्पूर्ण जीवन के ऐसे यथार्थवादी कवि को सँभालना उस समय की सामंती दरबारी चेतना के वश की बात नहीं थी। इसीलिए तत्कालीन आलो-चकों ने बाज़ारूपन के नाम पर उनकी लोकप्रियता से छुट्टी पा ली।

'नज़ीर' की कला का महत्त्व भी तत्कालीन साहित्यिक रुचि के लिए जो परिष्कृत होते-होते कृत्रिमता और अवास्तविकता की सीमा छूने लगी थी, समझ के बाहर की चीज़ है। 'नज़ीर' की कला में टेढ़ी-मेढ़ी नदी का बहाव है, बाग़ की नहरों की रवानी नहीं। 'नज़ीर' ने काव्य नियमों की अक्सर उपेक्षा कर दी

है, फिर भी उनकी कविताओं में अजीब ताज़गी है। उनका ध्वनि-सौंदर्य स्पष्टतः रुबाब की कोमल तानों का नहीं है, लेकिन खुले मैदान में गूँजती हुई बंशी की ध्वनि का ज़रूर है।

'नज़ीर' के काव्य में अपने समकालीनों और बाद के कवियों से एक चीज़ स्पष्टतः अधिक दिखाई देती है। 'नज़ीर' ने रूपकों का प्रयोग उर्दू में शायद सबसे अधिक किया है। उर्दू में फ़ारसी के प्रभाव से सूफ़ी दर्शन में प्रयुक्त कुछ प्रेम विषयक रूपक—जैसे ईश्वर का प्रियतम तथा साधक का प्रेमी के रूप में चित्रण—बहुत दिनों से प्रयुक्त होते आ रहे थे और अब भी हो रहे हैं। किन्तु 'नज़ीर' ने इस विषय में काफ़ी विस्तार किया है। 'हंसनामा' 'बंजारा नामा' आदि इसके उदाहरण हैं, जिनमें मनुष्य के क्षण-भंगुर जीवन को हंस, बंजारा आदि के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह प्रभाव उनमें फ़क़ीरों की संगत से आया है और तत्सम्बन्धी उनकी कविताओं में ही इस शैली का प्रयोग अधिकाधिक हुआ है। उनकी नज़्म 'रीछ का बच्चा' के बारे में भी कुछ आलोचकों का मत है कि रीछ के रूपक में मन के साथ होने वाले संघर्षों का वर्णन है।

भाषा के क्षेत्र में 'नज़ीर' से अधिक उदार कोई उर्दू कवि नहीं हुआ है। उन्होंने जन-संस्कृति का (जिसमें हिन्दू-संस्कृति भी शामिल थी) दिग्दर्शन कराया है। इसलिए चलताऊ और हिन्दी के शब्द भी बहुतायत से प्रयोग किये हैं। व्याकरण सम्बन्धी नियमों की दृष्टि से 'नज़ीर' की भाषा 'मीर' और 'सौदा' के ज़माने की उर्दू है, जिसमें आज जैसी व्याकरण की कठोरता नहीं है। इसलिए उनकी भाषा आज से कुछ अलग मालूम हो सकती है। किन्तु व्याकरण के नियमों पर ध्यान न दिया जाय तो कुछ पुराने मुहावरों के बावजूद नज़ीर की रचनाएँ जनसाधारण की समझ में अन्य उर्दू कवियों की रचनाओं से कहीं अधिक आ सकती हैं।

'नज़ीर' की कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

क्या क़ह्र है यारो जिसे आ जाय बुढ़ापा
और ऐशे जवानी के तईं खाय बुढ़ापा।
इशरत को मिला ख़ाक में ग़म लाय बुढ़ापा
हर काम को हर बात को तरसाय बुढ़ापा।

सब चीज़ को होता है बुरा हाय बुढ़ापा
आशिक़ को तो अल्लाह न दिखलाय बुढ़ापा ।

फल पात कहीं शाख़ कहीं फूल कहीं बेल
नरगिस कहीं, सौसन कहीं, बेला कहीं राबेल।
आज़ाद कोई सबसे, किसी का है कहीं मेल
मलता है कोई राख, चमेली का कोई तेल।
करता है कोई ज़ुल्म को, लेता है कोई झेल
बाँधे कहीं तलवार, उठाता है कोई सेल।
अदना कोई, आला कोई, सूखा कोई डंडपेल
जब ग़ौर से देखा तो उसी के हैं ये सब खेल।

हर आन में हर बात में हर ढंग में पहचान
आशिक़ है तो दिलबर को हरएक रंग में पहचान।

तारीफ़ करूं अब मैं क्या क्या उस मुरली अधर बजय्या की
नित सेवा कुंज फिरय्या की और बन बन गऊ चरय्या की।
गोपाल, बिहारी, बनवारी, दुख हरना, मेह्र करय्या की
गिरधारी, सुन्दर, श्याम-बरन और हलधर जू के भय्या की।

यह लीला है उस नन्द ललन, मनमोहन, जसुमति छय्या की
रख ध्यान सुनो, दंडौत करो, जै बोलो किशन कन्हय्या की।

: ४ :

लखनवी कविता

दिल्ली की तबाही के बाद लखनऊ उर्दू कविता का केन्द्र हो गया। पहली लहर में वे ही कवि प्रमुख हुए जो दिल्ली से आये थे। उनका कुछ अपना रंग था, कुछ अपनी विशेषताएँ थीं। उनके बाद आनेवाले कवियों ने, जो मूल रूप से दिल्ली या उसके आसपास के निवासी थे, अपनी जवानी की आँखें लखनऊ में ही खोलीं, जहाँ के दरबार में उस समय हँसने-हँसाने और विलास-प्रियता के अतिरिक्त अन्य कोई वातावरण न था। इसलिए इन बाद वाले कवियों में गंभीरता के तत्त्व ग़ायब हो गये और उच्छृंखल, तथा सतही प्रेम की ही आधार-भूमि पर कविता की जाने लगी। भाषा तथा अभिव्यक्ति-शैली के क्षेत्र में इस काल में अवश्य पहले से विकास हुआ और दिल्ली के कवियों द्वारा व्यवहृत बहुत-से शब्द तथा वाक्य-विन्यास छोड़ दिये गये। यद्यपि इन लोगों ने भी कुछ-कुछ पुराने शब्द—यथा नित, टुक, अंखड़ियाँ, भल्ला रे, झमकड़ा आदि—कायम रखे, जिन्हें बाद में उस्ताद 'नासिख़' ने छोड़ कर परिष्कृत उर्दू भाषा का नमूना पेश कर दिया, फिर भी प्रारंभिक लखनवी कवियों की भाषा में पुराने ज़माने को देखते हुए बहुत कुछ सुथराव है। जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है, उसमें भी गंभीरता की बजाय उत्फुल्लता का बोलबाला दिखाई देता है और शब्द-व्यंजना भी विषय और शैली के अनुरूप दिखाई देती है। इस युग के प्रमुख कवियों में 'मुसहफ़ी', 'इंशा', 'जुरअत', तथा 'रंगी' का नाम लिया जा सकता है, जिनका संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

शेख़ ग़ुलाम हमदानी 'मुसहफ़ी'—यह अमरोहा, ज़िला मुरादाबाद के समीप अकबरपुर गाँव में एक कुलीन वंश में १७५० ई० में पैदा हुए। पिता का नाम शैख़ वली मुहम्मद था। शैख़ ग़ुलाम हमदानी युवा होने पर दिल्ली चले गये। उन्हें पढ़ने का बड़ा शौक था, किताबें मांग-मांग कर पढ़ा करते थे। मीर 'हसन'

के तज़किरे के अनुसार उनकी कविता की ख्याति १७८१ ई० में आरंभ हुई। वे अपने घर पर मुशायरे करते और उनमें दिल्ली के नवोदित कवि 'इंशा' 'जुरअत' आदि सम्मिलित होते थे। दिल्ली में बारह वर्ष रहकर वे नवाब आसफ़ुद्दौला के ज़माने में लखनऊ चले आये और दिल्ली के राजवंश के मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के यहाँ नौकर हो गये। इसके पहले वे कुछ दिनों तक टांडा में नवाब मुहंम्मद यार के यहाँ भी रहे थे। एक तज़किरे के अनुसार उन्होंने कुछ दिनों व्यापार से भी जीवन निर्वाह किया था। सन् १२४० हिजरी (१८२४ ई०) में हिजरी हिसाब से ७६ वर्ष और ईसवी हिसाब से ७४ वर्ष की अवस्था में 'मुसहफ़ी' का देहांत हो गया।

'मुसहफ़ी' ने बहुत कविता की है। कहा जाता है कि उन्होंने फ़ारसी के चार दीवान लिखे थे, जिनमें से अब एक ही उपलब्ध है। उर्दू में आठ दीवान हैं, जिनमें हज़ारों ग़ज़लें, क़सीदे, तारीखें, रूबाइयां आदि हैं।

उनकी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना मुहम्मद शाह के ज़माने से लेकर अपने समय तक के लगभग साढ़े तीन सौ उर्दू कवियों का जीवन-वृत्त है, जो 'मुसहफ़ी' का 'तज़किरा' कहलाता है। इस पुस्तक का रचना-काल १७९४ ई० है। यह पुस्तक बड़े काम की है। इसमें उन्होंने अपने समकालीनों की ओर अधिक ध्यान दिया है और उनके जीवन-वृत्त के अतिरिक्त उनकी रचनाओं के नमूने भी दिये हैं। यह पुस्तक उन्होंने मीर हसन के पुत्र मीर मुस्तहसन 'खलीक़' की प्रेरणा से लिखी थी।

'मुसहफ़ी' बड़े प्रतिभाशाली कवि थे, इतनी तेज़ी से कविता करते थे जैसे गद्य लिख रहे हों। उनका उपलब्ध संग्रह भी किसी से कम नहीं है। इसके अलावा भी उन्होंने असंख्य शेर लिखे, जिनमें कुछ बिक गये और कुछ उनके मित्र और रिश्तेदार ले गये। उनके शागिर्द मीर 'ख़लीक़', ख्वाजा 'आतश', मीर 'ज़मीर', 'असीरे', 'शहीदी' जैसे प्रतिभावान कवि थे, जिन्होंने अपने कृत्यों से उर्दू काव्य को चमका दिया। काव्यशास्त्र की दृष्टि से उनकी रचनाएँ त्रुटिहीन होती थीं, जो कम से कम उस प्रारंभिक काल में बहुत बड़ी बात थी।

दुर्भाग्य से ऐसा प्रतिभाशाली कवि ऐसे ज़माने में पैदा हुआ, जिसने न केवल उसकी क़द्रदानी नहीं की, बल्कि उसे अपनी रचनाओं को इस तरह बिखरा दे

के लिए मजबूर कर दिया कि बाद वालों के लिए भी उसकी कविता की श्रेष्ठता का सही अनुमान करना अत्यंत कठिन ही नहीं, असंभव तक हो गया। वह ज़माना उछल-कूद और हँसी-ठिठोली का था, इसीलिए 'इंशा' जैसे फक्कड़ तबीयत के आदमी उस ज़माने पर छा गये (यद्यपि अंत उनका भी अच्छा नहीं हुआ)। मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह की सरकार में पहले मुसहफ़ी को पच्चीस रुपया महीना मिलता था, 'इंशा' के पहुँचने के बाद इनके पाँच रुपये कर दिये गये जो कि रो-पीटकर सात रुपये करवा लिये गये। 'मुसहफ़ी' ने एक ग़लती यह की कि ज़माने की रफ्तार को देखकर चुप्पी साधने की बजाय निन्दा के क्षेत्र में भी 'इंशा' से भिड़ गये। किन्तु 'इंशा' से कौन पार पा सकता था? दोनों ओर से थुक्का-फ़ज़ीहत हुई, स्वांग और जुलूस निकाले गये, लेकिन पल्ला 'इंशा' ही का भारी रहा। नवाब अवध सआदत अलीखां ने भी 'इंशा' का साथ दिया। इससे 'मुसहफ़ी' के दिल पर बड़ी चोट लगी। फिर उन्होंने बुढ़ापे में शादी भी कर ली थी। इससे एक ओर तो इनके विरोधियों को चिढ़ाने का मौक़ा भी मिला और दूसरी ओर इनकी कविता की भी दुर्गति हो गयी। इनका साला इनकी अच्छी-अच्छी ग़ज़लें ले जाता, कुछ तो अपने लिए रख लेता, कुछ बेच देता। 'मुसहफ़ी' बेचारे के लिए रद्दी शेर ही रह जाते थे। इसीलिए अक्सर रचनाएँ फीकी मालूम होती हैं। एक मुशायरे में यह दाद (प्रशंसा) न मिलने पर झुंझलाकर काग़ज़ पटक कर चले आये थे। 'मीर' ने इनके एक शेर को दुबारा पढ़वाया तो इतने ख़ुश हुए कि कई बार उठ-उठ कर सलाम किया।

इनके कविता-संग्रह में बहुत-से शेर इसी तरह के बचे-बचाये रद्दी हैं, जिनमें कोई मज़ा नहीं। जो अच्छे भी हैं उनमें भी कोई एक रंग नहीं है। मालूम होता है कि वे अपनी उस्तादी इसी में समझते थे कि यह सिद्ध कर दें कि वे हर प्रकार की काव्य-रचना कर सकते हैं। उनकी ग़ज़लों के शेरों में कहीं 'मीर' की तरह करुणा मिलेगी, कहीं 'सौदा' का ओज, कहीं 'सोज़' की सी सरलता, कहीं 'जुरअत' जैसी उच्छृंखलता और कहीं 'इंशा' जैसा फक्कड़पन। उनकी ग़ज़लों की भाँति उनके क़सीदों में भी काव्य शास्त्र के नियमों का निर्वाह तो पूरी तरह से किया गया है, लेकिन उनके यहाँ 'सौदा' के क़सीदों का ज़ोर देखने को नहीं मिलता। एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि वे हुए 'जुरअत'

'इंशा' के काल में हैं, किन्तु भाषा 'मीर' और 'सौदा' के ज़माने की ही प्रयोग में लाते हैं, इसी कारण उनके यहाँ परित्यक्त शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है।

मुसहफ़ी की कविता का नमूना निम्नलिखित है—

निगाहे-लुत्फ़ के करते ही रंगे-अंजुमन बिगड़ा
मुहब्बत में तेरी हमसे हर इक अहले-वतन बिगड़ा
जिसे सब बाँके और टेढ़े करें थे दूर से मुजरा
वही रस्ते में आख़िर करके हमसे बाँकपन बिगड़ा
हमेशा शेर कहना काम था वाला-नजादों का
सफ़ीहों ने दिया है दख़्ल जब से बस ये फ़न बिगड़ा
नहीं तक़सीर कुछ दरज़ी की इसमें 'मुसहफ़ी' हरगिज़
हमारी ना-दुरुस्ती से बदन की पैरहन बिगड़ा

यार बिन बाग़ से हम आते हैं दुख पाये हुए
अश्क आँखों में भरे हाथ में गुल खाये हुए
किसके आने की ख़बर है जो चमन में गुलचीं
ज्यूं सबा चार तरफ़ फिरते हैं घबराये हुए
उसके कूचे से जो उठ आते हैं हम दीवाने
फिर इन्हीं पाँव चले जाते हैं बौराये हुए
'मुसहफ़ी' क्योंकि अनाँ-गारी हो उसका ज्यूं बर्क़
तौलने नाज़ को जब जाय वो चमकाये हुए

सय्यद इंशा अल्ला खाँ 'इंशा'—यह उच्च वंशीय थे। इनके पूर्वज अरब के प्रसिद्ध क्षेत्र नजफ़ से भारत आये थे। कुछ लोगों के विचार से इनके पूर्वज समरकन्द से कश्मीर आकर रहे थे, फिर दिल्ली में आ बसे। इनके पिता मीर माशा अल्ला ख़ाँ थे जो शाही दरबार के हकीम थे। इनके घराने की शराफ़त का चरचा दूर-दूर तक था। ख़ानदानी प्रतिष्ठा का हाल यह था कि घर की स्त्रियों के कपड़े घर में धुलते थे या जला दिये जाते थे, धोबी के यहाँ न डाले जाते

थे क्योंकि अपरिचित व्यक्तियों के हाथ में पड़ेंगे। सय्यद इंशा की पैदायश दिल्ली में हुई। उनके पिता कुछ दिनों के लिए मुर्शिदाबाद के दरबार में चले गये, किन्तु शाह आलम के काल में फिर दिल्ली आ बसे। सय्यद 'इंशा' उस समय तक जवान हो चुके थे। शिक्षा-दीक्षा अच्छी हुई, किन्तु जी इनका काव्य-सर्जन में ही लगा। किसी को अपना काव्य-गुरु नहीं बनाया। अपनी काव्य-प्रतिभा तथा विनोद-प्रियता के कारण शाह आलम के दरबार में प्रविष्ट हो गये और उनके अत्यंत प्रिय मुसाहब हो गये। बादशाह को एक दम के लिए भी इनका अलग होना अच्छा नहीं लगता था। 'इंशा' को अपनी कविता पर बड़ा गर्व था। इसीलिए शायद इन्हें ख़्याल हुआ कि दिल्ली के पुराने कवि मेरी कविता की क़द्र नहीं करते हैं। इन्होंने एक ओर तो उन लोगों से कलमी लड़ाई छेड़ दी, दूसरी ओर बादशाह से कह दिया कि आप अपनी ग़ज़ल मुशायरे में भेजते हैं तो उसका लोग मज़ाक़ उड़ाते हैं। बादशाह ने इस पर क्रोध तो न किया, लेकिन मुशायरों में ग़ज़ल भेजना बंद कर दिया। अन्य कवियों को इंशा की यह हरकत बुरी लगी। वे लोग फिर भी कुछ कर नहीं सके, लेकिन इंशा के मुँह ख़ून लग गया था और उन्होंने लखनऊ में भी यही हरकतें जारी रखीं, जिसका हाल आगे आयेगा।

दिल्ली में शाह आलम नाम के ही बादशाह थे। उनकी आर्थिक दशा ख़राब थी। इंशा अपनी लच्छेदार बातों से उनसे रोज़ाना कुछ पैसा झटक लिया करते थे, लेकिन इस तरह कबतक काम चलता? आख़िर लखनऊ में आसफ़ुद्दौला का नाम सुनकर आये और मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के दरबार में पहुँच गये। पहले मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह 'मुसहफ़ी' से अपनी कविताओं में संशोधन कराया करते थे, किन्तु इनके पहुँचते ही उनका रंग उखड़ गया। 'मुसहफ़ी' ने कविता में अपने मन की भड़ास निकाली तो 'इंशा' उनके पीछे बुरी तरह पड़ गये और नौबत इस पर आ गयी कि दोनों एक दूसरे के विरुद्ध स्वांग बना-बनाकर जुलूसों में निकालने लगे। सुलेमान शिकोह के दरबार के एक सम्मानित विद्वान् तफ़ज़्ज़ुल हुसेन ख़ाँ थे। इंशा उनके पास भी जाया करते थे। उन्होंने तत्कालीन नवाब सआदत अली ख़ाँ के दरबार में इन्हें पहुँचा दिया।

सआदत अली ख़ाँ से पहले इनकी बहुत पटी। इनकी चुहलें नवाब के

मनोरंजन की सामग्री होती थीं। दोनों में बेतकल्लुफ़ी भी बहुत बढ़ गयी थी। इसी बेतकल्लुफ़ी में इनके मुँह से एक दिन ऐसी बात निकल गयी, जिससे नवाब के दासी-पुत्र होने की ओर भी इशारा होता था। नवाब नाराज़ हो गये और एक दिन बहाना मिलने पर उन्हें दरबार के अलावा और कहीं न जाने का आदेश दे दिया। इससे यह बहुत कुढ़े। इसी अरसे में इनका जवान बेटा मर गया, जिससे इनका दिमाग़ क़रीव-क़रीब ख़राब हो गया और इसी दशा में इन्होंने नवाब सआदत अली खाँ को, जिनकी सवारी इनके घर के सामने से निकल रही थी, उनके मुँह पर ही भला-बुरा कहा। नवाब ने महल वापस जाकर इनका वेतन बंद करवा दिया। अंत समय बड़े कष्ट से बीता। इसी उन्माद की दशा में कई बरस बिताने के बाद १८१७ ई० में इनका देहांत हो गया।

सय्यद इंशा बड़े विद्वान् पुरुष थे। विनोद-प्रियता आवश्यकता से अधिक न बढ़ी होती तो उर्दू कविता के नाम को चमका जाते। फ़ारसी और अरबी के प्रकाण्ड विद्वान् थे और भारत की कई भाषाओं पर भी उन्हें अधिकार प्राप्त था। यही नहीं, भाषा पर ऐसा अधिकार था कि देशज शब्दों में ही एक पूरी पुस्तक 'रानी केतकी की कहानी' लिख गये, जिसका हिन्दी तथा उर्दू दोनों में ऐतिहासिक महत्त्व है। इस कहानी में संस्कृत, अरबी या फ़ारसी एक भी शब्द नहीं है। नयी-नयी तरह की चीज़ें लिखना उनका प्रिय कार्य था। इसी नवीनता के चक्कर में वे अक्सर काव्य नियमों की अवहेलना कर दिया करते थे, जो उनकी कमज़ोरी कही जायेगी। एक छोटा-सा दीवान ऐसा लिखा है, जिसमें फ़ारसी लिपि का कोई बिन्दी वाला अक्षर प्रयोग में नहीं आया है। कठिन से कठिन छंदों तथा तुकांतों में उन्होंने ग़ज़लें लिखी हैं। इसी प्रकार अपने मित्र सआदत यार ख़ाँ 'रंगी' के आविष्कार रेख़्ती (स्त्रियों की बोलचाल की भाषा में कविता) को उन्होंने न केवल शौक से अपनाया बल्कि इतना विस्तार दिया कि कुछ लोग भ्रमवश रेख़्ती को 'इंशा' का ही आविष्कार समझने लगे। उर्दू के व्याकरण तथा काव्य शास्त्र पर उन्होंने 'दरियाए-लताफ़त' नामक एक ग्रंथ लिखा है, जो अपने समय का तद्विषयक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है।

इंशा के काव्य को उनकी अति विनोदी प्रवृत्ति ने बिगाड़ दिया। उनकी समस्त रचनाओं में प्रवाह और सरलता तथा ओज तो दिखाई देता है, किन्तु

गंभीरता बहुत कम मिलती है। कुछ ग़ज़लें उन्होंने गंभीरतापूर्वक आरंभ की हैं, किन्तु उनमें भी छिछोरेपन के शेर आ गय हैं। हाँ, दरबार-दारी ख़त्म होने के बाद की रचनाएँ बेजोड़ हैं, विशेषत: वह ग़ज़ल जिसका मतला यह है—

कमर बांधे हुए चलने को यां सब यार बैठे हैं
बहुत आगे गये, बाक़ी हैं जो, तय्यार बैठे हैं

'इंशा' की रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—(१) उर्दू का दीवान, (२) फ़ारसी का दीवान, (३) उर्दू के कई क़सीदे, (४) फ़ारसी के क़सीदे, (५) दो फ़ारसी की मसनवियां जिनमें से एक बिन्दुहीन अक्षरों में लिखी गयी है और दूसरी 'शीर बिरंज' जिसमें सूफ़ी अध्यात्मवाद का मज़ाक़ उड़ाया गया है, (७) एक अरबी मसनवी का 'मायतुल-अमल' के नाम से फ़ारसी में अनुवाद, (८) उर्दू की मसनवी 'शिकारनामा', (९) एक अन्य उर्दू मसनवी 'शिकायते-ज़माना', (१०) दो मनोरंजक उर्दू मसनवियां जिनमें एक में मुर्गों की लड़ाई का वर्णन है और दूसरी में एक हाथी और हथिनी के विवाह का क़िस्सा है, (११) निन्दात्मक मसनवियां जिनमें 'मुसहफ़ी' तथा दुकानदारों से लेकर गर्मी, बर्रों, खटमल, मच्छर, मक्खी आदि सभी को कोसा गया है, (१२) रानी केतकी की कहानी, (१३) दरियाए-लताफ़त, आदि।

'इंशा' की ग़ज़लों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

जिगर की आग बुझे जिससे जल्द वह शैला
लगा के बर्फ़ में साक़ी सुराहिए-मै ला
क़दम को हाथ लगाता हूँ उठ कहीं घर चल
ख़ुदा के वास्ते इतने तो पाँव मत फैला
गिरा जो हाथ से फ़रहाद के कहीं तेशा
दरूने-कोह से निकली सदाए-वावैला
नज़ाकत उस गुले-रअना की देखियो 'इंशा'
नसीमे-सुब्ह जो छू जाय रंग हो मैला

यह जो महंत बैठे हैं राधा के कुण्ड पर
अवतार बन के गिरते हैं परियों के झुण्ड पर
शिव के गले से पारवती जी लिपट गयीं
क्या ही बहार आज है ब्रह्मा के रुण्ड पर
राजा जी एक जोगी के चेले पे ग़श हैं आप
आशिक़ हुए हैं वाह अजब लुण्ड मुण्ड पर
'इंशा' ने सुन के क़िस्सए-फ़रहाद यूँ कहा
करता है इश्क़ चोट तो ऐसे ही मुण्ड पर

शैख़ क़लन्दर बख़्श 'जुरअत'—इनका असली नाम यहिया अमान था। अकबराबादी मशहूर हैं, किंतु इनके पिता हाफ़िज़ अमान थे। इनके पूर्वज मुग़ल बादशाहों के दरबान हुआ करते थे और अकबर के समय उन लोगों ने 'अमान' की वंशानुगत उपाधि पायी थी। इनमें से राय अमान मुहम्मद शाह के ज़माने में थे और नादिर शाही क़त्ले-आम के समय उसके सिपाहियों से मुकाबला करने के अपराध में गले में पटका कस कर मार डाले गये थे। किन्तु 'जुरअत' लड़कपन में ही घर छोड़ कर बाहर निकल गय। पहले उन्होंने बरेली के नवाब हाफ़िज़ रहमत ख़ाँ के पुत्र मुहब्बत ख़ाँ के यहाँ नौकरी की, फिर फ़ैज़ाबाद चले आये और फिर १८००ई० में लखनऊ आ गये, जहाँ वे मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह के दरबार में पहुँच गये। अंत तक वे उसी सरकार में रहे और १८१० ई० में उनका देहांत हो गया। 'नासिख़' ने उनके मरने की तारीख़ कही है।

मियां 'जुरअत' अधिक पढ़े-लिखे न थे। वे अरबी नहीं जानते थे और काव्य शास्त्र की भी उन्हें अधिक जानकारी नहीं थी, फिर भी अपनी प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा की बदौलत कविता में नाम कर गये। कविता में वे जाफ़र अली 'हसरत' के शागिर्द थे, किन्तु उनके उस्ताद की कुछ अधिक ख्याति नहीं थी। 'इंशा' के साथ ही यह भी अपने हँसोड़पन और चुटकुलेबाज़ी के कारण अमीरों का खिलौना बने हुए थे। कभी अपने घर में न रहने पाते थे, रईस उन्हें हाथों हाथ लिये रहते थे।

'जुरअत' युवावस्था में अन्धे हो गये थे। कुछ लोगों का कहना है कि चेचक के कारण ऐसा हुआ था, किन्तु कुछ लोग दूसरा ही क़िस्सा बताते हैं।

कहते हैं कि एक अमीर के यहाँ यह बड़े ही प्रिय थे। केवल बाहरी बैठक में ही इनकी लच्छेदार बातों और चुटकुलों का रस नहीं लिया जाता था, बल्कि परदे डलवा कर घर की महिलाएँ भी इनकी बातें सुनती थीं। लेकिन इन्हें शौक चर्राया कि महिलाओं को आँख भर कर देखें भी। इसलिए यह बहाना किया कि आँखें दुखने आयी हैं, फिर कह दिया कि आँखें फूट ही गयीं। जब अंधे मशहूर हो गये तो घर में ही रहने लगे। लेकिन एक रोज़ अजब तरह भंडाफोड़ हुआ। इन्होंने एक नौकरानी से आफताबे (बड़े टोंटीदार लोटे) में पानी माँगा। नौकरानी ने टालने के लिए कह दिया कि बीबी उसे जाज़रूर (पाख़ाने) में ले गयी हैं। इन्हें क्रोध आ गया, डाँट कर बोले, "पागल हुई है? सामने तो रखा है, देती क्यों नहीं?" नौकरानी ने यह घटना घरवालों को बतायी। गृह-स्वामी को इतना क्रोध आया कि उसने इनकी आँखें फोड़ ही दीं। इस प्रकार अंधा बनकर धोखा देने का उन्हें आवश्यकता से अधिक दंड मिल गया।

'जुरअत' का काव्यसंग्रह साधारण-सा है। एक दीवान है जिसमें ग़ज़लें, छिटपुट शेर, रुबाई, मुख़म्मस तथा अन्य काव्यरूप हैं तथा एक फ़ालनामा (शकुन पत्रिका) और दो मरसिये भी हैं। इसके अलावा उनकी दो मसनवियाँ हैं—एक में बरसात की निन्दा है और दूसरी में ख्वाजा हसन तथा लखनऊ की एक वेश्या 'बख़्शी' के प्रेम का वृत्तांत है। दूसरी मसनवी का नाम 'हुस्नो-इश्क़' है।

'जुरअत' पूर्णतः उच्छृंखलतावादी कवि हैं। उन्होंने क़सीदा या गंभीर काव्य-रचना नहीं की—दो मरसिये ज़रूर इस नियम के अपवाद हैं। वे स्पष्टतः ही वेश्याओं के साथ होने वाले प्रेमालापों के कवि थे और इसी लिहाज़ से उनकी कविता में प्रतिद्वंद्वियों के साथ होने वाली नोकझोंक के काफ़ी वर्णन मिलते हैं और शराब-कबाब की बातें भी ख़ूब होती हैं। होने को यह विषय थोड़े बहुत अन्य कवियों के यहाँ भी हैं, किन्तु 'जुरअत' के काव्य में इनकी पराकाष्ठा दिखाई देती है और इसी विस्तार के कारण वे अक्सर अश्लीलता की सीमा छूने लगते हैं। मज़े की बात यह है कि वे 'मीर' का अनुकरण करना चाहते हैं, किन्तु न तो वे 'मीर' की भाँति गंभीर थे, न उनके जैसे विद्वान्, न उनकी

भाँति कविता की पवित्रता में विश्वास करने वाले थे। इतना मनोबल भी न था कि 'मीर' की भाँति अमीरों, रईसों की रुचि की उपेक्षा करके कविता संबंधी अपने मानदंड बनाते और उन्हें क़ायम रखते। वे तो अमीरों के हाथ के खिलौने बने हुए और उन्हीं के मनबहलाव के लिए हलकी-फुलकी चीज़ें लिखते थे। उनके अपने स्वभाव का भी यही तक़ाज़ा था। इसीलिए उनकी कविता में गंभीर तत्वों की तलाश करना बिलकुल बेकार है।

फिर भी यह कहना अन्याय होगा कि 'जुरअत' की कविता का सिरे से कुछ महत्व ही नहीं। उनकी कविता में गांभीर्य न सही और यह भी मान लिया कि उनके वर्णन का विषय कोठों की मजलिसें थीं, लेकिन अगर इस दृष्टि से देखा जाय कि उन्होंने अपने विषय को सफलतापूर्वक निभाया है या नहीं तो हमें मानना पड़ेगा कि इस मामले में वे पूर्णतः सफल हुए थे। संयोग-शृंगार के जैसे सजीव चित्रण 'जुरअत' ने किये हैं, वे 'दाग़' के अलावा और कहीं देखने को नहीं मिलते। बल्कि कहना चाहिए कि 'जुरअत' के शब्द-चित्रों के रंग 'दाग़' से ज्यादा शोख़ हैं—चाहे रेखाओं का सौष्ठव दाग़ से कहीं कम हो। फिर भी उनका वर्णन-सौन्दर्य 'दाग़' को छोड़कर किसी से घटकर भी नहीं ठहरता। भाषा का प्रवाह और शब्दों की गठन उन्हें ऊँचे दरजे का कवि सिद्ध करती है। उनके आरंभ काल में ही उनके एक मतले की, जो 'सौदा' की ग़ज़ल की ज़मीन पर लिखा गया था, स्वयं 'सौदा' ने प्रशंसा की थी। डा० रामबाबू सक्सेना ने 'जुरअत' की काफ़ी भर्त्सना करते हुए और उन्हें द्वितीय कोटि का कवि ठहराते हुए भी यह स्वीकार किया है कि "जुरअत अपने पद्य-प्रवाह, सरलता और माधुर्य में प्रसिद्ध हैं।" भाषा के विकास में उनकी वही देन है जो 'इंशा' की, यानी बहुत-से पुराने शब्द छोड़ कर उन्होंने भाषा को परिमार्जित किया है। बल्कि 'इंशा' के विपरीत 'जुरअत' ने काव्य नियमों का भी ध्यान रखा है। 'जुरअत' की नमूने की ग़ज़लें निम्नलिखित हैं —

लग जा गले से, ताब अब ऐ नाज़नीं नहीं
है है, ख़ुदा के वास्ते मत कर 'नहीं, नहीं'
उस बिन जहान कुछ नज़र आता है और ही
गोया वो आसमान नहीं वह ज़मीं नहीं

क्या जाने क्या वो उसमें है लोटे है जिस पे दिल
यूं और क्या जहान में कोई हसीं नहीं
फ़ुरसत जो पाके कहिए कभ दर्दे-दिल सो हाय
वह बदगुमां कहे है कि हमको यक़ीं नहीं
हैरत है मुझको क्योंकि वो 'जुरअत' है चैन से
जिस बिन क़रार जी को हमारे कहीं नहीं

इस ढब से किया कीजे मुलाक़ात कहीं और
दिन को तो मिलो हमसे रहो रात कहीं और
घर उसको बुला नज़्र किया दिल तो वो 'जुरअत'
बोला कि ये बस कीजै मुदारात कहीं और

जब ये सुनते हैं कि हमसाया हैं आप आये हुए
क्या दरो बाम पे हम फिरते हैं घबराये हुए

सआदत यार ख़ाँ 'रंगी'—यह भी 'इंशा' के रंग में कहने वाले एक शायर हुए हैं, जिनका इतिहास में स्थान इनके नये आविष्कार रेख़्ती (स्त्रियों की बोलचाल की भाषा) में कविता के आधार पर बना है। रेख़्ती को बाद के लोगों ने और सँभाला, किन्तु 'रंगी' ने इसमें कामुकता प्रदर्शन के अलावा और कुछ नहीं किया। यह तहमास्प बेग ख़ाँ तूरानी के पुत्र थे। तहमास्प बेग नादिर-शाह के साथ आये थे और दिल्ली में बस गये थे। उन्हें हफ़्त हज़ारी का मनसब तथा 'मुहकमुद्दौला' की उपाधि भी मिली थी। 'रंगी' चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही काव्य-रचना करने लगे थे। शाह हातिम के शागिर्द थे। पहले 'मीर' के पास शागिर्दी के लिए गये थे, लेकिन उन्होंने टका-सा जवाब दे दिया। हातिम के मरने के बाद उनके शिष्य 'निसार' से काव्य-संशोधन कराने लगे। पहले वे लखनऊ में मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह की सरकार में नौकर हुए। फिर कुछ दिनों तक वे निज़ाम के तोपख़ाने में अफ़सर रहे थे। इसके बाद स्वतन्त्र रूप से घोड़ों का व्यापार करने लगे। वे बहुत अच्छे घुड़सवार

थे और शस्त्र-कला में पारंगत। उन्होंने देशाटन बहुत किया था और रंगीन मिज़ाज आदमी थे। वे मिलनसार और हँसमुख व्यक्ति थे। उनकी मृत्यु हिजरी के हिसाब से ८० वर्ष और ईसवी के हिसाब से ७७ वर्ष की अवस्था में १२५० हि० (१८३४ ई०) में हुई।

रेख़्ती-जैसी चीज़ अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के परदे में जकड़े हुए उत्तर भारतीय सभ्य मुस्लिम समाज के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिल सकती। सामाजिक विलगता के कारण यहाँ स्त्रियों और पुरुषों की भाषा में काफी अंतर हो गया। यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उस पतनोन्मुख सामंती व्यवस्था में स्त्री-पुरुष सभी का ध्यान कामुकता तथा मनोरंजन पर ही केन्द्रित था, इसी-लिए मियां 'रंगी' की नयी ईजाद को हाथोंहाथ लिया गया और बाद में भी कुछ दिनों तक रेख़्ती की परम्परा चली।

'रंगी' की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) एक जिल्द 'नौरतन' में चार दीवान जिसमें एक रेख़्ती का दीवान है, (२) मसनवी 'दिलपज़ीर', मसनवी 'ईजादे-रंगीं', मसनवी 'मज़हरूल-अजायब' तथा अन्य छोटी-छोटी मसनवियां। 'दिल पिज़ीर' में लगभग दो हज़ार शेर हैं और यह एक प्रेम कथा है, अन्य मसनवियों में छोटे-छोटे क़िस्से और चुटकुले हैं। (३) कुछ क़सीदे, (४) 'मजलिसे-रंगीं', इसमें अपने समकालीन कवियों की आलोचना है, (५) 'फ़स्स नामा' इसमें घोड़ों की पहचान और उनके रोगों की चिकित्सा आदि का वर्णन है।

'मुसहफ़ी', 'इंशा' और 'जुरअत' के समय में लखनवी कविता शैली की दाग़बेल पड़ चुकी थी। इस काल के कवि भी 'मीर', 'सौदा' आदि की भाँति दिल्ली से आये थे, किन्तु उनका दिल्ली का आवास उनके नवयौवन काल में ही था। दूसरी बात यह है कि उनके समय में दिल्ली में कोई ऐसा मारके का कवि नहीं था, जिसके अनुसरण या प्रभाव में ये लोग अपनी शैली पर दिल्ली की छाप लिये होते। लखनऊ में तत्कालीन रास-रंग के वातावरण में इन कवियों को एक नयी उल्लासवादी, गंभीरतारहित शैली का निर्माण करना पड़ा। इनके बाद आने वाले कवि भी 'मीर' और 'सौदा' की परम्परा को न अपना सके। उच्छृङ्खल प्रेम की उल्लासवादी परम्परा में इतना दम नहीं

था कि नये कवि भी अपनी प्रतिभा के प्रकाशन की गुंजाइश उसमें देखते। इसीलिए उन्होंने कविता के विषय की अपेक्षा उसके कहने के ढंग, शब्दों की गठन, भाषा की साज-सँवार और अलंकारों के प्रयोग में अधिक से अधिक शक्ति लगायी। तत्कालीन लखनवी वातावरण के प्रभाव से नख-शिख वर्णन आदि भी होने लगे, यहाँ तक कि कुछ अश्लील तत्त्व भी कविता में आ गये और कविता में ऐसे स्पष्ट संकेत मिलने लगे कि कविता में वर्णित प्रियतमाएँ रूप हाट में बैठने वाली सुन्दरियाँ हैं। इस काल के दो प्रमुख कवि लखनऊ में दिखाई देते हैं जिनकी अपनी-अपनी शैली में भी काफ़ी अंतर है और जिन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में कविता को बड़ी देनें दी हैं। ये महाकवि 'नासिख़' और 'आतश' हैं।

शैख़ इमाम बख़्श 'नासिख़'—उर्दू भाषा की साज-सँवार तो प्रत्येक कवि ने अपने ज़माने में कुछ न कुछ की है, किन्तु 'नासिख़' की इस बारे में जो देन है उससे उर्दू संसार कभी उऋण नहीं हो सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने बुज़ुर्गों की परम्परा छोड़कर उर्दू में अरबी-फ़ारसी शब्दों और शब्द-विन्यासों की बहुतायत कर दी और परिष्कार के नाम पर हिन्दी के बहुत से मधुर शब्द भी वर्जित कर दिये, किन्तु फ़ारसी का निचोड़ लेकर उन्होंने उर्दू को ऐसा टकसाली बना दिया कि वह ऊँचे से ऊँचे विषयों के प्रतिपादन के योग्य हो गयी और उसमें आगे के लिए बड़ी गुंजाइशें पैदा हो गयीं।

शैख़ इमाम बख़्श के पिता का नाम नहीं मालूम हो सका है। मालूम होता है कि वे कोई छोटे-मोटे व्यापारी थे और व्यापार के लिए ही लाहौर से अवध आये थे। शैख़ इमाम बख़्श का जन्म फ़ैज़ाबाद में हुआ। बचपन में ही ख़ुदा बख़्श नामक एक धनवान् ख़ेमा-दोज़ (डेरा सीनेवाले) ने इन्हें गोद ले लिया क्योंकि उसके कोई औलाद नहीं थी। ख़ुदा बख़्श के मरने के बाद उसके भाइयों ने उत्तराधिकार का दावा किया। शैख़ इमाम बख़्श ने अपने चचा से कहा कि मुझे धन-दौलत की चाह नहीं है, जैसे उनको (ख़ुदा बख़्श को) अपना बाप समझता था, वैसे ही आपको समझता हूँ, सिर्फ़ मेरी मामूली ज़रूरतें आप पूरी करते रहिए। चचा ने इस बात को स्वीकार तो कर लिया, लेकिन उसके दिल का खोट न गया। इमाम बख़्श उन दिनों ख़ून की ख़राबी के कारण सिर्फ़ चने

की रोटी घी में चूर करके खाया करते थे। चचा ने एक दिन उसमें विष मिला दिया। इन्हें संदेह हो गया और रोटी कुत्ते को डाली तो कुत्ता मर गया। अब शैख़ इमाम बख़्श ने उत्तराधिकार के लिए मुक़दमा चलाया जो शाही अदालत तक पहुँचा और इसमें उनकी जीत हो गयी। उन्होंने कुछ रुबाइयों में इस घटना का उल्लेख किया है।

नवाब आसफ़ुद्दौला के समय में अवध की राजधानी फ़ैज़ाबाद से लखनऊ आ गयी तो शैख़ नासिख़ भी लखनऊ आकर टकसाल नामक मुहल्ले में बस गये। इन्होंने सारी उम्र किसी की नौकरी नहीं की। उत्तराधिकार में यथेष्ट धन मिला हुआ था, साहित्य-मर्मज्ञ अमीर उमरा भी अक्सर भेटें दिया करते थे। विवाह किया ही नहीं था जो लड़कों-बच्चों का झंझट होता। सारी आयु आर्थिक निश्चिन्तता के साथ कटी।

लेकिन इन्हें दो बार लखनऊ छोड़ने के लिए भी विवश होना पड़ा था। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के समय में उन्होंने इनकी कविता की प्रशंसा सुनकर इन्हें बुलाया और अपने मन्त्री मोतमिद्दौला आग़ामीर से कहा कि 'नासिख़' दरबार में आकर क़सीदा सुनायें तो हम उन्हें मलिकुश्शुअरा (कवि सम्राट्) की उपाधि देंगे। 'नासिख़' को मालूम हुआ तो बिगड़ कर बोले कि अँगरेज़ी सरकार उपाधि दे या युवराज मिर्ज़ा सुलेमान शिकोह दिल्ली के बादशाह हो जायें तो उपाधि दें, नवाब की उपाधि लेकर मैं क्या करूँगा। नवाब की इस बात पर इन्हें लखनऊ छोड़ना पड़ा। यह इलाहाबाद में आकर रहे। इस अरसे में दो बार हैदराबाद से दीवान चन्दूलाल ने बुलाया, एक बार बारह हज़ार और दूसरी बार पन्द्रह हज़ार रुपये भेजे। लेकिन 'नासिख़' लखनऊ के लिए तड़प रहे थे, वे हैदराबाद न गये।

ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के मरने पर 'नासिख़' फिर लखनऊ आये। लेकिन अवध की सरकार के मुख़्तार हकीम मेहदी से उनका बिगाड़ हो गया। इसका कारण यह था कि हकीम मेहदी नासिख़ के संरक्षक आग़ामीर के प्रतिद्वन्द्वी थे और इसीलिए 'नासिख़' ने अपनी कविता में उन पर कुछ चोटें कर दी थीं और वह भी उस समय जब कुछ भ्रम के कारण हकीम मेहदी अस्थायी रूप से पदच्युत हो गये थे। कुछ ही दिनों बाद हकीम मेहदी बहाल हो गये और

'नासिख़' जान बचा कर भागे। पहले इलाहाबाद गये, फिर सोचा कि बनारस में जाकर जम जायें। बनारस में उन्हें साहित्यिकों की कमी अखरी, इसलिए पटना चले गये। पटने में उनकी बड़ी क़द्र हुई, लेकिन वे यह कहकर वहाँ से भी चले आये कि यहाँ मेरी ज़बान ख़राब हो जायेगी। फिर इलाहाबाद में आये और दायरा अजमल में रहने लगे। इलाहाबाद में रहते हुए भी यह लखनऊ के लिए बेचैन रहते थे। अंत में १८३२ ई० में हकीम मेहदी के मरने पर वे फिर लखनऊ में जा बसे। उनका देहांत १८३८ ई० में लखनऊ में ही हुआ।

शैख़ 'नासिख़' की शिक्षा-दीक्षा लखनऊ में ही हुई थी। फ़ारसी की किताबें हाफ़िज़ वारिस अली लखनवी से पढ़ी थीं और फ़िरंगी महल के विद्वानों से भी विद्या लाभ किया था। अरबी का ज्ञान विद्वत्तापूर्ण तो न था, फिर भी अच्छा ख़ासा था। काव्य शास्त्र की पूरी जानकारी इन दोनों भाषाओं से प्राप्त की थी और कविता करते समय इन सिद्धांतों का बहुत ध्यान रखते थे।

कविता में शैख़ नासिख़ किसी के शिष्य नहीं हुए। एक बार 'मीर' के पास अपनी कुछ ग़ज़लें ले गये थे, लेकिन उन्होंने इन्हें शिष्य बनाने से इनकार कर दिया। यह इसके बाद किसी के पास शागिर्दी के लिए नहीं गये। ग़ज़लें कह कर रख लेते थे और कुछ-कुछ दिनों के बाद ख़ुद उसमें संशोधन करते रहते थे। आरंभ में किसी मुशायरे में ग़ज़ल न पढ़ी। मिर्ज़ा हाजी साहब के मकान पर होने वाले मुशायरों में, जिनमें 'जुरअत', 'इंशा' आदि आया करते थे, बराबर जाते रहते थे, लेकिन सुनाते कुछ नहीं थे। जब 'इंशा', 'जुरअत' आदि से मैदान साफ़ हो गया तो यह मैदान में उतरे। उस समय तक आत्मविश्वास भी हो चुका था। कुछ ही दिनों में इनकी कविता की धाक जम गयी। कुछ लोगों का कहना है कि कुछ समय तक शैख़ मुसहफ़ी से भी कविताओं में संशोधन कराया, लेकिन उनसे किसी शेर पर झगड़ा हो गया और यह उनके पास फिर न गये। कुछ दिनों तक 'तनहाँ' नामक एक कवि को भी कविताएँ दिखाते रहे।

'नासिख़' कविता के अखाड़े के पहलवान नहीं थे, वास्तविक जीवन में भी डंडपेल कसरती जवान थे। डील-डौल भी भारी-भरकम था। रंग काला होने

के कारण प्रतिद्वंद्वी गण इन्हें दुमकटा भैंसा कहा करते थे। मुंह अँधेरे ही कम से कम १२९७ डंड लगाया करते थे (इस संख्या का कारण धार्मिक था)। घर में ही रहा करते थे और नंगे बदन तहमद पहने बैठे रहते थे। जाड़ों में तनज़ेब का कुरता पहन लेते थे, बहुत सर्दी हुई तो लखनऊ की छींट का दुहरा कुरता पहन लेते थे। इससे अधिक कुछ नहीं पहनते थे। दिन में केवल एक समय (दोपहर को) खाना खाते थे, लेकिन रोज़ाना पक्की तौल से पाँच सेर की ख़ूराक थी। तरह-तरह के खाने पकवाते थे। एक-एक चीज़ सामने लायी जाती थी और यह साफ़ करते जाते थे। खाने के बाद ख़ाली प्यालों-तश्तरियों से दो टोकरियाँ भर जाती थीं। हर मौसम में दो-तीन बार मौसमी फल ही खाने की बजाय खाया करते थे। उनकी मात्रा भी खाने की तरह ही होती थी।

शैख़ साहब को खाने के अलावा हुक़्क़ों का भी शौक़ था। एक कोठरी भर तरह-तरह के हुक़्क़े उनके पास थे और हर मेहमान के लिए अलग हुक़्क़ा निकाला जाता था।

आत्म-सम्मान की मात्रा काफ़ी थी। 'मीर' की तरह बिग़ड़ैल तो नहीं थे, लेकिन बेजा रू-रियायत करना भी नहीं जानते थे। अदब क़ायदे का बहुत ख़्याल था। ज़रा सी भी बेतुकी बात करने वालों को आड़े हाथों ले लेते थे, लेकिन अजीब मज़े से। इस बारे में इनके कई क़िस्से मशहूर हैं। कभी-कभी अपने विचारों में ऐसे खो जाते थे कि अपरिचित व्यक्ति उन्हें शिष्टाचार-विहीन समझ लेते थे।

'नासिख़' के तीन दीवान कहे जाते हैं, किन्तु इनमें से प्राप्त दो ही हैं। क़सीदे, मरसिये आदि उन्होंने कुछ नहीं लिखे। एक मसनवी भी लिखी है जिसका नाम 'नज़्मे-सिराज' है। एक मौलूद शरीफ़ भी उन्होंने लिखा है। उन्होंने किसी के लिए हजो (निन्दात्मक कविता) कभी नहीं लिखी।

'नासिख़' की ग़ज़लों का कला पक्ष बड़ा प्रबल है। उनकी प्रवृत्ति बात में बात पैदा करने की है और हर शेर में विचारों की बाल की खाल निकाली गयी है। उपमाएँ वे नयी-नयी प्रयोग करते हैं, जैसे कि फ़ारसी के कवि 'सायब' न की थीं और विचारों की सूक्ष्मता (या विचारों के साथ शब्दों की आँख-मिचौनी) बहुत अधिक है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उनके बनाये हुए

नये से नये चित्र भी कम से कम आकार की दृष्टि से पूर्ण हैं (यद्यपि उनके आलोचकों ने इस बारे में उनकी थोड़ी बहुत आलोचना की है)।

किन्तु जहाँ तक भाव-पक्ष का सम्बन्ध है, 'नासिख़' से अधिक असफल कोई महाकवि नहीं हुआ। उनके शेरों में न तो प्रवाह है और न वास्तविकता। काव्य-चेतना का उनके यहाँ अभाव दिखाई देता है। वे आध्यात्मिक प्रवृत्ति के न थे, सूफ़ीवादी प्रतीक उनके यहाँ मिलते नहीं। शाब्दिक संकेत उनके यहाँ वही लखनवी की अंगिया-चोली के हैं, लेकिन प्रभाव का इतना अभाव है कि शेर पढ़कर कामुकता की भावना भी नहीं उभड़ती। शाब्दिक खिलवाड़ के कारण उनके शेर कभी-कभी नीरस ही नहीं, निरर्थक भी हो जाते हैं। हास्य का तत्त्व उनके यहाँ नाम को भी नहीं है। किसी प्रकार का गंभीर अथवा गांभीर्यहीन भाव उनके यहाँ नहीं है। संक्षेप में कहा जाय तो उनकी कविता का कलेवर तो बड़ा सुंदर है, लेकिन उसमें प्राणों की कमी ही नहीं, अभाव तक है। कठिन शब्दावली ने उनके काव्य-दोषों को और भी बढ़ा दिया है।

'नासिख़' के प्रमुख शिष्य यह हैं—मिर्ज़ा मुहम्मद रज़ा खां 'बर्क़' जो नवाब वाजिद अली शाह के मुसाहिब थे और नज़रबन्दी के समय में भी उनके साथ कलकत्ता में रहे थे; शेख़ इमदाद अली 'बह्र' जो अंत समय रामपुर के दरबार में चले गये थे; ख़्वाजा मुहम्मद वज़ीर 'वज़ीर' जो सूफ़ी संतों के वंश में से थे और 'नासिख़' के सबसे प्रसिद्ध और प्रिय शिष्य थे; मीर अली औसत 'रश्क' जो 'तारीख़' कहने और शब्दों और मुहावरों की जानकारी के लिए प्रसिद्ध थे; मिर्ज़ा हातिम अली 'मेह्र' जिनको 'ग़ालिब' ने कई मैत्रीपूर्ण पत्र लिखे हैं; सय्यद इस्माईल हुसैन 'मुनीर' शिकोहाबादी जो अपने अंतिम समय में रामपुर के दरबार के पाँच रत्नों में गिने जाते थे और आग़ा कल्बे हुसैन ख़ाँ 'नादिर' जिन्होंने कविता के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी लिखा है।

शेख़ 'नासिख़' की रचना के नमूने निम्नलिखित शेरों से मिल जायेंगे—

चोट दिल को जो लगे आहे-रसा पैदा हो
सदमा शीशे को जो पहुँचे तो सदा पैदा हो
मिल गया ख़ाक में पिस पिस के हसीनों पर मैं
क़ब्र पर बोयें कोई चीज़, हिना पैदा हो

अश्क थम जाये जो फ़ुरक़त में तो आहें निकलें
ख़ुश्क हो जाय जो पानी तो हवा पैदा हो
बोसा माँगा जो दहन का तो वो क्या कहने लगे
तू भी मानिन्दे-दहन अब कहीं ना पैदा हो
क्या मुबारक है मेरा दश्ते-जुनूँ ऐ 'नासिख़'
बैज़ए-बूम भी टूटे तो हुमा पैदा हो

ख़ाक में मिल जाइए ऐसा अखाड़ा चाहिए
लड़के कुश्ती देवे-हस्ती को पछाड़ा चाहिए
और तख़्तों की हमारी क़ब्र में हाजत नहीं
ख़ानए-महबूब का कोई किवाड़ा चाहिए
इन्तहाए लाग़री से जब नज़र आया न मैं
हँस के वह कहने लगे 'बिस्तर को झाड़ा चाहिए'

आँसुओं से हिज्र में बरसात रखिए साल भर
हमको गर्मी चाहिए हरगिज़ न जाड़ा चाहिए
जल्द रँग ऐ दीदए-ख़ूँबार अब तारे-निगाह
है मुहर्रम, उस परी पैकर को नाड़ा चाहिए
लड़ते हैं परियों से कुश्ती, पहलवाने इश्क़ हैं
हमको 'नासिख़' राजा इन्दर का अखाड़ा चाहिए

ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश'--'आतिश' फ़ारसी शब्द है, जिसका अर्थ है 'अग्नि'। ख़्वाजा हैदर अली भी आग ही थे और इस तख़ल्लुस के रखने का उन्हें पूरा अधिकार था। अग्नि जीवन और शक्ति की प्रतीक है। ढंग से उसका प्रयोग किया जाय तो मनुष्यों की शक्ति के मूल में अग्नि ही है, किन्तु ग़लत तरीके से उसे प्रयोग करने या उसके साथ बेजा छेड़-छाड़ करने से वह जीवन का अंत भी तुरंत ही कर देती है। ख़्वाजा हैदर अली 'आतिश' भी यही गुण लेकर पैदा हुए थे। फ़क़ीर आदमी थे, किसी के लेने में न देने में;

लेकिन अगर छेड़-छाड़ की जाय तो आग हो जाते थे। कविता को देखिए तो हर जगह ऐसी गरमी दिखाई देगी कि दिलों को पिघला कर रख दे। शैख़ 'नासिख़' के समकालीन और प्रतिद्वंद्वी थे। शैख़ 'नासिख़' ज़माने के साथ थे, ज़माना बनावट का था। उन्हीं के नहीं, बल्कि 'आतिश' तक के शागिर्दों ने बाद में 'नासिख़' का ही रंग पकड़ा। लेकिन 'आतिश' अकेले ही दम सब से लोहा मनवाते रहे और लखनवी शायरी के चौंचालापन के ज़माने में भी ऐसे प्रभावपूर्ण, शक्तिशाली और मस्ती-भरे शेर कह गये जो मर्मज्ञों को अब तक आनंद देते हैं।

ख़्वाजा हैदर अली ख़्वाजा अली बख़्श के पुत्र थे। ख़्वाजा अली बख़्श दिल्ली के एक कुलीन वंशज थे जो नवाब शुजाउद्दौला के काल में दिल्ली से अवध आये थे और तत्कालीन राजधानी मुग़लपुरा में बस गये थे। पिता के देहांत के समय ख़्वाजा हैदर अली लड़के ही थे। पिता का अनुशासन न रहने के कारण इनकी प्रवृत्ति स्वतन्त्र, बल्कि उच्छृङ्खल हो गयी थी। किसी के आगे सिर झुकाना या किसी से दबना इन्होंने सीखा ही न था। तत्कालीन अवध में ऐसी मस्ती दो ही वर्गों में दिखाई देती थी—या तो फ़क़ीरों में या सिपाहियाना पोशाक पहने हुए इधर-उधर अकड़ते फिरते हुए बाँकों में। चुनांचे 'आतिश' ने दोनों का अनुसरण किया। अपनी सजधज हमेशा सिपाहियाना रखी—मुशायरों में भी तलवार बांध कर जाते थे—और रहन-सहन बिलकुल सादा, फ़क़ीराना रखा।

इसी स्वतंत्र प्रकृति के कारण 'आतिश' ने कभी लगकर विद्याध्ययन नहीं किया। बचपन या यौवन के आरंभ काल में नवाब मुहम्मद तक़ी की नौकरी कर ली और राजधानी लखनऊ होने के कुछ समय बाद जब नवाब मुहम्मद तक़ी लखनऊ आये तो यह भी उनके साथ चले आये। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है फ़ारसी, अरबी की वही पुस्तकें पढ़ीं जो सब पढ़ने वाले बच्चों के लिए ज़रूरी थीं। कुछ अध्ययन अरबी छंद-शास्त्र का भी किया। इससे ज़्यादा कुछ पढ़ने-लिखने की उन्होंने आवश्यकता ही नहीं समझी।

लखनऊ आने पर उन्होंने 'इंशा' और 'मुसहफ़ी' की प्रतिद्वंद्विता देखी। वैसे बचपन से ही काव्य-सर्जन की ओर झुकाव था, लखनऊ आकर उसे और ज़ोर मिला। वे जम कर कविता करने लगे और 'मुसहफ़ी' के शागिर्द हो गये।

कुछ ही समय में उनकी कविता चमक उठी। 'मुसहफ़ी' को शायद इससे कुछ जलन हो उठी। एक रोज़ इन्होंने नशे की झोंक में उस्ताद से अपनी ग़ज़ल की तारीफ़ कर दी तो उन्होंने इन्हें नीचा दिखाने के लिए उन्हीं रदीफ़ क़ाफ़ियों में शेर लिखकर एक अल्पायु शागिर्द को दे दिये और मुशायरे में उससे ग़ज़ल पढ़वायी। सभी लोग समझ गये कि ग़ज़ल उस्ताद की है। 'आतिश' मुशायरे में ही उस्ताद के पास जा बैठे और ग़ज़ल फेंक कर बोले, "यह आप हमारे कलेजे में छुरियाँ मारते हैं, नहीं तो इस लौंडे का क्या मुँह था जो इन क़ाफ़ियों में शेर निकाल लेता।" उस्ताद से उसी दिन से इनकी बिगड़ गयी। इसके बाद वे किसी के शागिर्द नहीं हुए।

आज़ादी का यह हाल था कि किसी नवाब के या अमीर के दरबार में नहीं गये। अवध की सरकार से इन्हें अस्सी रुपया महीना मिलता था। इसमें से भी केवल पन्द्रह रुपया अपने खर्च के लिए रखकर बाक़ी दान कर देते थे। कभी शागिर्दों ने भेंट के तौर पर कुछ दे दिया तो दे दिया, नहीं तो उसी पन्द्रह रुपये महीने में सीधे-सादे रहन-सहन के साथ गुज़ारा करते थे। टूटे-फूटे घर में चारपायी पर लुंगी पहने बैठे रहते। भंग पीने का शौक़ था। अमीरों से हमेशा अकड़ कर बात करते थे, किन्तु जन साधारण से उनका व्यवहार बड़ा मधुर था। उनकी मृत्यु १८४६ ई० में हुई।

'आतिश' स्वभाव के बड़े भोले-भाले थे। पहले उन्हें नमाज़ पढ़नी भी न आती थी। एक दिन तरंग आयी तो अपने एक शागिर्द से कहा कि हमें नमाज़ सिखा दो। 'आतिश' शिया थे और शागिर्द सुन्नी। शिया सुन्नी दोनों की नमाज़ों के तरीक़ों में कुछ अंतर होता है। शागिर्द ने सुन्नियों की नमाज़ सिखा दी। एक रोज़ इनके प्रिय शिष्य 'ख़लील' ने, जो ख़ुद भी शिया थे, पूछा कि आप शिया होकर सुन्नियों की तरह नमाज़ क्यों पढ़ते हैं? तो बोले, "भई, उस आदमी ने मुझे जैसा सिखा दिया वैसा ही पढ़ने लगा। मुझे क्या मालूम कि एक ख़ुदा की दो-दो नमाज़ें हैं।" लेकिन फिर शियों की तरह नमाज़ पढ़ने लगे।

शब्दों के प्रयोग में जब लोग फ़ारसी और तुरकी व्याकरण के आधार पर उनकी ग़लतियाँ बताते थे तो कह दिया करते थे कि तुरकी या ईरान जाऊँगा

तो उसी तरह बोलूंगा जैसे तुम कहते हो, यहाँ उर्दू बोलने वाले जिस तरह बोलते हैं वैसे ही मैं बोलूंगा।

शैख़ 'नासिख़' के साथ इनके बड़े ज़ोरदार मारके चलते थे। एक बार तो ख़ून-ख़राबी होते-होते बच गयी। एक नवाब साहब 'नासिख़' के प्रशंसक थे। उन्होंने चाहा कि एक मुशायरे में ही 'नासिख़' की रचना को सर्वोत्कृष्ट मनवा कर उन्हें ख़िलअत (सम्मानसूचक वस्त्र) दें। डर सिर्फ़ 'आतिश' की रचना से था। 'आतिश' के पास सूचना उस समय भिजवायी गयी, जब मुशायरे का एक ही दिन रह गया था। यह बहुत बिगड़े और कहा कि अब हम लखनऊ नहीं रहेंगे, यह रहने की जगह नहीं रही। इसी क्रोध की दशा में उठ-कर चले गये और एक सुनसान मसजिद में बैठ कर ग़ज़ल लिखी। मुशायरे के दिन बड़े कड़े तेवर लेकर पहुँचे और साथ में एक क़राबीन (पुराने ढंग की बंदूक) भी ले गये। बार-बार क़राबीन उठाते और रख देते। शमअ सामने आयी तो ग़ज़ल पढ़ी और ग़ज़ल ऐसी कि हर शेर में 'नासिख़' पर चोट। इस ग़ज़ल का पहला मिसरा है—"सुन तो सही जहां में है तेरा फ़साना क्या।" नवाब साहब घबराये कि 'नासिख़' को ख़िलअत दी तो 'आतिश' ज़रूर बन्दूक चला देंगे। उन्होंने चुपचाप एक और ख़िलअत मँगायी और मुशायरे में ही दोनों उस्तादों को सम्मानित करके अपनी साहित्य-मर्मज्ञता और समझदारी का सबूत दिया।

इतनी ज़बर्दस्त प्रतिद्वंद्विता के बावजूद तबीयत की सफ़ाई का यह हाल था कि 'नासिख़' के मरने पर ख़ुद ही 'तारीख़' (समयसूचक पद्य) कही और इसके बाद कविता करना छोड़ दिया। कहते थे कि "कहने का लुत्फ़ सुनने और सुनाने के साथ है। जिस शख़्स से सुनाने का लुत्फ़ था, जब वह न रहा तो अब शेर कहना नहीं बकवास है।"

संतोष अपने जीवन में तो था ही, दूसरों को भी संतोष के साथ जीना सिखाते थे। इस सिलसिले में एक मनोरंजक क़िस्सा मशहूर है। इनके एक शागिर्द निर्धनता से दुखी थे और चाहते थे कि कहीं बाहर जाकर जीविका का प्रबंध करें। यह उन्हें समझाया करते थे कि मियाँ कहाँ जाओगे, यहीं संतोष करके बैठो। एक दिन उन्होंने यात्रा की तय्यारी कर ली और विदा लेने के लिए

इनके पास आये। कहा कि 'कल बनारस जा रहा हूँ, आपको कुछ मँगवाना हो या कोई काम हो तो कहिए।' यह बोले, "भई, वहाँ के ख़ुदा को हमारा भी सलाम कह देना।" एकेश्वरवाद इस्लाम का मूल मन्त्र है। शागिर्द ने हैरान होकर पूछा : 'क्या वहाँ का ख़ुदा कोई और है?' यह बोले कि 'यहाँ का ख़ुदा कंजूस है, वहाँ का शायद दानशील हो।' शागिर्द ने और हैरान होकर कहा कि 'आप कैसी बातें करते हैं?' यह बोले, "भई, अगर यहाँ-वहाँ का ख़ुदा एक है तो वहाँ जाने की क्या ज़रूरत है? जैसे वहाँ उससे माँगोगे, वैसे यहीं माँगो। जो वहाँ देगा वह यहीं देगा।" शागिर्द इतना प्रभावित हुआ कि घर आकर असबाब खोल डाला और यात्रा का विचार छोड़ दिया।

'आतिश' ने ग़ज़लों के अलावा कुछ नहीं लिखा। क़सीदा या हजो (निन्दा पद्य) से उन्हें कोई सरोकार न था। ग़ज़लों के दो दीवान हैं। पहला स्वयं उन्होंने संगृहीत किया, दूसरा उनकी मृत्यु के बाद उनके प्रिय शिष्य ख़लील ने इधर-उधर से ग़ज़लें इकट्ठी करके संगृहीत किया। 'आतिश' अपनी सरलता में अक्सर मुशायरों के बाद ग़ज़लें वहीं दे आते थे और उनकी कोई प्रति उनके पास न रहती थी। इन्हीं ग़ज़लों को बाद में इकट्ठा करके दूसरा दीवान बनाया गया। इसी चक्कर में उनकी बहुत-सी ग़ज़लें खो भी गयीं।

'आतिश' की रचनाओं में 'नासिख़' की भाँति शब्द-व्यंजना का सौन्दर्य नहीं है। कभी-कभी वे मुहावरों और शब्दों के सम्बन्ध में भूल भी कर देते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में यह कवि के लिए अक्षम्य अपराध था, ख़ासतौर पर लखनऊ में। फिर भी 'आतिश' की रचनाओं में कुछ ऐसी बात थी कि वे अपने सर्जन काल में जितनी लोकप्रिय रहीं, उतनी ही अब भी हैं। इसका कारण है कि उनमें सरलता, स्वाभाविकता, प्रभाव, संगीत और आध्यात्मिकता का अत्यन्त सुंदर समन्वय है। ये बातें लखनवी शैली की दृष्टि से अनुकरणीय नहीं हैं, फिर भी 'आतिश' ने जब इन्हें सामने ला ही दिया तो लोगों को इन्हें मान्यता देनी ही पड़ी। 'आतिश' के यहाँ वर्णन या चिन्तन के क्षेत्र में कल्पना की बेतुकी उड़ान नहीं दिखाई देती। हाँ, लखनवी शैली के मानदंडों के विपरीत उन्होंने सूफ़ीवादी संकेतों और प्रतीकों को बहुत जगह दी है। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि वे स्वयं फ़क़ीर थे। उनकी चेतना एक ओर तो गीतोन्मुख

है और दूसरी ओर स्वच्छ विचारों को अधिकाधिक आकर्षक रूप में देने का आग्रह करती है। शायद इसीलिए 'आतिश' के यहाँ सरलता का तत्त्व बहुत है, क्योंकि अर्थात्मक और शाब्दिक क्लिष्टता चाहे विद्वत्ता की निशानी हो, किन्तु अधिकतर दशाओं में गीतात्मकता और उसके आधार पर होने वाले प्रभाव की हत्या कर देती है। सरलता और स्वाभाविकता उनके सीधे-सादे निश्छल जीवन का ही काव्य में प्रतिबिंब है और हम कह सकते हैं कि उनके काव्य में उनका व्यक्तित्व दिखाई देता है।

'आतिश' की भाषा और शब्दावली पर ज़रूर 'नासिख़' द्वारा प्रतिपादित मानदंडों का असर पड़ा है। वे अपने पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक अरबी-फ़ारसी-मय भाषा का प्रयोग करते हैं। साथ ही उनकी शब्द-व्यंजना चमत्कारी न होते हुए भी परिष्कृत है। किन्तु इन दोनों बातों में भी उन्होंने 'नासिख़' की तरह अति नहीं कर दी है। संक्षेप में 'आतिश' की कविता आधुनिक रुचि के लिए लखनऊ काल की सबसे अधिक आकर्षक कविता है।

'आतिश' के शागिर्दों की संख्या बहुत अधिक है, जिनमें से 'ख़लील', 'रिन्द', 'सबा' और आगा हज्जू 'शरफ़' प्रसिद्ध हैं। नवाब सय्यद मुहम्मद ख़ाँ 'रिन्द' नवाबी खान्दान के रत्न थे। इनके दो दीवान हैं। मीर दोस्त अली 'ख़लील' 'आतिश' के सबसे प्रिय शिष्य थे। ठेठ लखनवी रंग के कवि थे। मीर वज़ीर अली 'सबा' भी लखनवी शैली के कवि थे। एक दीवान और एक मसनवी छोड़ी है। आग़ा हज्जू 'शरफ़' उर्दू के एक मात्र ऐसे कवि हैं, जिन्होंने उर्दू कविता के इस्लामी कर्मकांड-विरोधी प्रतीकों—शराब, बुत, शंख, जनेऊ आदि—का पूर्ण बहिष्कार कर दिया। पं० दयाशंकर 'नसीम' भी 'आतिश' के शिष्य थे। इनका उल्लेख आगे होगा।

'आतिश' की कविता के नमूने निम्नलिखित हैं—

हुस्न किस रोज़ हमसे साफ़ हुआ
गुनहे इश्क़ कब मुआफ़ हुआ
फ़ातहे को जो वह परी आया
संगे-क़ब्र अपना कोहे-क़ाफ़ हुआ

रिन्द मशरिब हूँ मुझको क्या होवे
मजहबों में जो इख़्तलाफ़ हुआ

सुन तो सही जहाँ में है तेरा फ़साना क्या
कहती है तुझको ख़ल्क़े-ख़ुदा ग़ायबाना क्या
उड़ता है शौक़े-राहते मंजिल से अस्पे-उम्र
महमीज़ किसको कहते हैं और ताजियाना क्या
चारों तरफ़ से सूरते-जानां हो जल्वागर
दिल साफ़ हो तेरा तो है आईना-ख़ाना क्या
गर मुद्दई हसद से न दे दाद तो न दे
'आतिश' ग़ज़ल ये तूने लिखी आशिक़ाना क्या

दोस्त हो जब दुश्मने-जाँ हो तो क्या मालूम हो
आदमी को किस तरह अपनी क़ज़ा मालूम हो
आशिक़ों से पूछिए ख़ूबी लबे-जाँबख़्श की
जौहरी को क़द्रे-लाले - बेबहा मालूम हो
दाम में लाया है 'आतिश' सब्ज़ए-ख़त्ते-बुतां
सच है क्या इंसां को क़िस्मत का लिखा मालूम हो

काम हिम्मत से जवांमर्द अगर लेता है
सांप को मार के गंजीनए-ज़र लेता है
हिज्र में वस्ल का मिलता है मजा आशिक़ को
शौक़ का मरतबा जब हद से गुजर लेता है
इज्ज़ते-नाल-ओ-फ़रियाद न खो ऐ 'आतिश'
आशना कोई नहीं, कौन ख़बर लेता है

पण्डित दयाशंकर 'नसीम'—नसीम को उर्दू काव्य के इतिहास में उनकी मसनवी गुल्ज़ारे-नसीम ने अमर कर दिया है। इनका जन्म १८११ ई० में

लखनऊ में एक कश्मीरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम पण्डित गंगा प्रसाद कौल था। बचपन में तत्कालीन पद्धति के अनुसार अरबी और फ़ारसी की शिक्षा प्राप्त की और तत्कालीन रुचि के अनुसार काव्यालोकन और काव्य-सर्जन में आरंभ ही से रुचि रही। बीस वर्ष की अवस्था में ख्वाजा हैदर अली 'आतिश' के शागिर्द हो गये। कुछ ही दिनों बाद मीर हसन की प्रसिद्ध मसनवी सहरूल-बयान की तरह की एक लम्बी मसनवी लिखकर उस्ताद के पास लाये। 'आतिश' ने इसे देखकर कहा कि इतनी लम्बी मसनवी कौन पढ़ेगा। चुनाँचे 'नसीम' ने इसे छोटा कर दिया और वही संक्षिप्त संस्करण वर्तमान गुल्ज़ारे-नसीम है।

'नसीम' ठिगने क़द, छरहरे बदन और गेहुँए रंग के थे। तत्कालीन अवध नरेश अजमद अली शाह की सेना में वकील थे। उनकी बुद्धि अत्यंत प्रखर थी और त्वरित बुद्धि भी अत्यधिक थी। धार्मिक पक्षपात से कोसों दूर थे और हँसने-हँसाने वाले आदमी थे। इनके बारे में एक किस्सा मशहूर है, जिससे इनके उक्त गुणों का पता चलता है। एक मुशायरे की सभा में काव्य-पाठ आरंभ होने के पहले इधर-उधर की बातचीत हो रही थी। 'नासिख़' भी मौजूद थे। उन्होंने इन्हें छेड़ने के लिए कहा, "पण्डित जी! एक शेर में पहला मिसरा हो गया है, दूसरे में दिक़्क़त हो रही है।" इनके कहने पर नासिख ने मिसरा सुनाया, "शैख़ ने मसजिद बना मिसयार बुतख़ाना किया।" नासिख़ को आशा थी कि हिन्दू होने के नाते 'नसीम' इस पर कुढ़ कर या झेंप कर रह जायेंगे। लेकिन 'नसीम' ने फ़ौरन गिरह लगायी, "तब तो इक सूरत भी थी, अब साफ़ वीराना किया।" इस प्रकार उक्त धार्मिक चोट को एक साहित्यिक परम्परा से सँभाल कर ख़त्म कर दिया। उपस्थित जनों ने प्रशंसा में टोपियाँ उछाल दीं, स्वयं 'नासिख़' ने उनकी प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

'नसीम' का स्वर्गवास १८४३ ई० में केवल बत्तीस वर्ष की अवस्था में हो गया। मृत्यु का कारण हैज़ा था। क़ीट्स और शेली की भाँति नसीम ने भी अल्पायु में ही अपनी प्रतिभा का पूर्ण प्रदर्शन कर दिया। यदि उनकी असा-मयिक मृत्यु न होती तो मालूम नहीं वे उर्दू साहित्य को कितने अमूल्य रत्न दे

जाते। इस समय उनकी रचनाओं में मसनवी गुल्ज़ारे-नसीम और एक छोटा सा दीवान है जिसमें ग़ज़लों के अतिरिक्त तरजीबन्द, तरकीबबन्द आदि अन्य काव्य रूप भी हैं।

'नसीम' के बारे में चकबस्त का निम्नलिखित मत शत-प्रतिशत ठीक है— "गो यह 'आतिश' के शागिर्द थे, लेकिन 'आतिश' की गर्मीए-सुख़न इनके कलाम में नहीं पायी जाती। इनकी मुश्किल-पसन्द तबीयत ने 'नासिख़' का रंग पसन्द किया; मगर बावजूद तसन्नो (बनावट) के, जो इस रंग का ख़ास जौहर है, 'नसीम' का कलाम बिलकुल बे-नमक नहीं। तबीयत में एक ख़ुदा-दाद कैफ़ियत है जो कलाम को मज़ेदार बना देती है।"

'नसीम' का यह ठेठ लखनवीपन उनकी मसनवी में ख़ूब उभर कर आया है। मीर हसन की मसनवी अपनी सादा बयानी, साफ़ ज़बान और अपने प्रभाव के लिए प्रसिद्ध है। 'नसीम' की मसनवी में प्रभाव का उतना गुण नहीं है, लेकिन वर्णन-सौन्दर्य, शाब्दिक अनुरूपता और मुहावरों के उचित प्रयोग ने इसमें बहुत ताज़ापन और आकर्षण पैदा कर दिया है। शाब्दिक अनुरूपता में भी 'नसीम' की भाषा ने भावों की हत्या नहीं होने दी है। उनके कई समकालीन कवि शाब्दिक अनुरूपता के चक्कर में सारहीन बल्कि अर्थहीन शेर कहने लगते थे। 'नसीम' की काव्य-प्रतिभा ने कहीं ऐसा अनर्थ नहीं होने दिया है। चकबस्त का कहना है—"नसीम के अशआर ज़बान की पाकीज़गी और तरकीबे-अल्फ़ाज़ की चुस्ती के लिहाज़ से तासीर का तिलिस्म बने हुए हैं।"

नीचे गुल्ज़ारे-नसीम के कुछ शेर दिये जाते हैं, जिनसे 'नसीम' की वर्णन-शैली का आभास मिल सकता है—

बोली वो सुनो तो बन्दा-परवर गुल्ज़ारे-इरम है परियों का घर
इन्सानो परी का सामना क्या मुट्ठी में हवा. का थामना क्या
शहज़ादा हँसा, कहा कि दिलबर कुछ बात नहीं जो रखिए दिल पर
इन्सान की अक़्ल अगर न हो गुम है चश्मे-परी में जाये-मर्दुम
यह कहके उठा, कहा कि लो जान जाते हैं, कहा ख़ुदा निगहबान
दौलत थी अगर्चे इख़्तियारी पामर्दी से उसपे लात मारी

जुज़ जेब न माल पर पड़ा हाथ जुज़ साया न कोई भी लिया साथ
दुर्वेश था बन्दए ख़ुदा वह अल्लाह के नाम पर चला वह

वाजिद अली शाह 'अख़्तर'—यह अवध के वही अंतिम नवाब थे, जिनकी विलासप्रियता और कला-प्रेम की कहानियाँ चारों ओर फैली हैं। यह १८४७ ई० में गद्दी पर बैठे। उनकी विलासप्रियता कह लीजिए या अँगरेज़ों के सामने विवशता समझ लीजिए, किन्तु यह ऐतिहासिक सत्य है कि उन्होंने अपने राजकाज की ओर से बिलकुल मुँह मोड़ लिया था और भोग-विलास और नाच-रंग में ऐसे फँस गये थे कि राज्य बरबाद हो गया। ख़ैर, इस समय हमें उनके व्यक्तिगत चरित्र से कुछ अधिक लेना-देना नहीं है। केवल यह बात उल्लेखनीय है कि 'अख़्तर' की रुचि बहुमुखी थी। वे १८५६ ई० में रियासत जब्त होने तक नौ साल ही गद्दी पर रहे। इसी अरसे में उन्होंने लखनऊ में क़ैसर बाग़ (जो दो करोड़ की लागत से बना था) और अनेक सुन्दर इमारतें बनवायीं और एक चिड़िया घर भी बनवाया। संगीत और नाटक के वे बड़े प्रेमी थे और उन्होंने रहस खाना नामक नाट्य गृह की भी स्थापना की थी और इसके नाटक 'इन्दर सभा' में वे स्वयं राजा इन्दर का पार्ट लिया करते थे। कुछ आलोचक इस बात को नहीं मानते थे कि वे स्वयं नाटक खेलते थे। लखनऊ में वह 'जाने-आलम पिया' के नाम से मशहूर थे।

'अख़्तर' को १८५६ ई० में लखनऊ से निर्वासित करके कलकत्ते के समीप मटियाबुर्ज में रखा गया। यहाँ भी उन्होंने छोटे पैमाने पर वही लखनऊ के राग-रंग शुरू कर दिये। उनके बहुत-से वफ़ादार मुसाहिबों ने लखनऊ की बजाय उनके साथ मटियाबुर्ज में ही रहना पसंद किया। कलकत्ते में भी उन्होंने एक चिड़िया घर बनवाया था।

कविता के क्षेत्र में भी उनकी रचनाएँ मात्रा के लिहाज़ से बहुत अधिक हैं। रचनाओं की सूची निम्नलिखित है—

(१) ग़ज़लों के छः दीवान 'शुआए-फ़ैज़', 'क़मरे-मज़मून', 'सुख़ने-अशरफ़', 'गुलदस्तए-आशिक़ाँ', 'अख़्तरे-मुल्क' और 'नज्मे-नामवर' के नाम से संगृहीत हैं।

(२) अनेक मसनवियाँ जिनमें प्रमुख ये हैं—'हुज़्ने-अख़्तर' जिसमें अपने निर्वासन के कष्टों का वर्णन किया है, यह उनकी सबसे प्रसिद्ध मसनवी है। 'ख़िताबाते-महल्लात' जिसमें अपनी सारी बेगमों का उनकी उपाधियों और सन्तानों के साथ वर्णन किया है। 'बानी', 'नाज़ो', 'दुल्हन', 'मसनवी दरफ़ने मौसीक़ी', 'दरियाये-तअश्शुक़' आदि। मसनवी दरफ़ने-मौसीक़ी में संगीत कला की विवेचना की गयी है।

(३) मरसिये तीन खण्डों में हैं—'जिल्दे-मरासी' जिसमें पच्चीस मरसिये हैं, 'दफ्तरे-ग़मों-बह्रे-अलम' जिसमें २२ मरसिये हैं और 'सरमायए-ईमान' जिसमें २३ मरसिये हैं।

(४) उर्दू और फ़ारसी में कई क़सीदे जिनका संग्रह 'क़सायदुल-मुबारक' के नाम से किया गया है।

(५) अन्य रचनाएँ जिनमें 'मुबाहिसा बैनुल नफ़्सुलअक़्ल' (मन और बुद्धि की बहस), 'सहीफ़ए-सुल्तानी' (क़ुरानी स्तुति), 'नसायहे-अख़्तरी' (अख़्तर के उपदेश), 'इश्क़ नामा' (प्रेम पत्र), 'रिसालए-ईमान', 'दफ़्तरे-परीशाँ', 'मक़तले-मोतबिर', 'दस्तूरे-वाजिदी', 'सौतुल-मुबारक', 'जौहरे-उरूज़', 'इरशादे-ख़ाक़ानी' आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी कुल रचनाओं की संख्या लगभग चालीस है। उन्होंने कुछ ठुमरियाँ भी अवधी भाषा में लिखी हैं जो उनके काल में बड़ी प्रिय हुईं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी इन ठुमरियों का बहुत महत्त्व है।

'अख़्तर' अपनी कविता का संशोधन 'नासिख़' के शागिर्दों मुज़फ्फ़र अली 'असीर' और फ़तेहुद्दौला 'बर्क़' से करवाते थे। यह दोनों उनके मुसाहिब भी थे। 'बर्क़' का प्रशासन में भी बड़ा हाथ था और वे नवाब के प्रति बड़े वफ़ा-दार थे और मटियाबुर्ज में भी उनके साथ रहे थे। असीर लखनऊ में ही रह गये थे और वाजिद अली शाह को उनकी इस 'बेवफ़ाई' का बड़ा अफ़सोस भी था। नवाब के पुत्र 'कौकब' और 'बिरजीस' भी कविता करते थे।

अख़्तर ने कविता बहुत की, लेकिन उन्हें प्रथम श्रेणी का कवि नहीं कहा जा सकता। उनकी ग़ज़लों में कुछ सफ़ाई तो ज़रूर है, लेकिन लखनवी शैली के समस्त दुर्गुण—शाब्दिक अनुरूपता और नखशिख तथा श्रृंगार प्रसा-

घनों का वर्णन आदि—पूरी तरह से मौजूद हैं। साथ ही भावों में गहराई या मौलिकता भी बहुत कम मिलती है, मरसिये तक यूँ ही से हैं। हाँ 'हुज़्ने-अख़्तर' नामक मसनवी ज़रूर उन्होंने दिल पर चोट खाकर लिखी थी, इसलिए उसमें प्रभावोत्पादकता ग़ज़ब की है, यद्यपि यह भी सही है कि वे 'ज़फ़र' की भाँति अपने दर्द को ज़माने का दर्द बनाने में सफल बिलकुल नहीं हुए। फिर भी. उनके शेरों की करुणा वास्तविक है और उसका प्रभाव सहृदय पाठकों पर पड़ता ही है। भाषा उनकी साधारणतः साफ़-सुथरी है, यद्यपि कहीं-कहीं भूलें कर जाते हैं।

उन्होंने कलकत्ते से अनेक पत्र अपनी प्यारी बेगम ज़ीनत महल के नाम लिखे थे जो उनके साथ न जा सकी थीं और लखनऊ में ही रह गयी थीं। ज़ीनत महल की उपाधियाँ 'अक़लैले-महल' (अंतःपुर की मुकुट) और 'मुमताज़े–जहाँ' (संसार में प्रतिष्ठित) थीं। इन पत्रों का संग्रह नवाब की आज्ञा से उनके एक मुंशी अकबर अली ख़ाँ 'तौक़ीर' ने किया है और इनकी पुराने ढंग की सानुप्रास लच्छेदार भाषा में भूमिका भी लिखी है। बादशाह ने अपनी प्रिय रानी के विछोह में अपनी सांत्वना के लिए इन पत्रों का संग्रह कराया था। इसका सम्पादन काल १८८६ ई० है। इन पत्रों में वाजिद अली शाह ने अपनी विरहवेदना का उद्‌गार मर्मभेदी ढंग से किया है और फिर राजधानी में आकर सिंहासनारूढ़ होने की हार्दिक अभिलाषा प्रकट की है।

'अख़्तर' की कविता के नमूने के तौर पर मसनवी 'हुज़्ने-अख़्तर' के कुछ शेर नीचे दिये जाते हैं—

दुआ के लिए हाथ उठाता हूँ मैं दुरे अश्क रोकर बहाता हूँ मैं
मेरी आबरू रख ख़ुदाए करीम बहुत अपने बन्दों पे है तू रहीम
इलाही रहें शाद याराने-हिन्द फिर आबाद होवें जवानाने-हिन्द
रिहाई तेरी हो तू है बेगुनाह ये दर गुज़रा इससे नहीं बादशाह
इवज़ बादशाही का गर जान है तो बन्दा भी ख़ायफ़ हर इक आन है
फ़क़त नामे-शाही से हूँ मैं ख़राब कहाँ मैं कहाँ क़ैद कैसा अज़ाब
उठाता हूँ क़ुरआँ नहीं है यक़ीं करूँ किससे फ़रियाद मैं दिल हज़ीं
दिले-ज़ार होठों पे आ आ गया मैं घबरा गया सख़्त घबरा गया

इलाही मुझे क़ैद से दे नजात निकलती नहीं ग़म से अब मुंह से बात
बस अब अल-हज़र-अलहज़र ऐ खुदा कर इस 'अख्तरे'-ज़ार को तू रिहा

सय्यद आग़ा हसन 'अमानत'—अमानत उर्दू के प्रथम नाटककार हैं। इनका जन्म १८१५ ई० में लखनऊ में हुआ था। आरंभ में यह केवल मरसिये लिखते थे और 'दिलगीर' के शिष्य थे। बाद में इन्होंने ग़ज़लें भी लिखना आरंभ कर दिया, किन्तु चूंकि 'दिलगीर' ने ग़ज़लों का संशोधन करने से इनकार कर दिया था, इसलिए वे अपनी ग़ज़लों का संशोधन स्वयं ही करने लगे। १८३५ ई० में यह गूंगे हो गये थे और नौ वर्ष तक ऐसी ही अवस्था में रहे। इसके बाद यह करबला की यात्रा पर गये, जहाँ कहा जाता है इनकी वाणी फिर फूट पड़ी। १८५८ ई० में ४३ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु हो गयी।

कवि की हैसियत से 'अमानत' का कोई बहुत ऊँचा स्थान नहीं है, किन्तु उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी रचनाओं में कुछ मरसिये, ग़ज़लों का दीवान 'खज़ायनुल-फ़साहत' और स्फुट पद्यों का एक संग्रह 'गुलदस्तए अमानत' का नाम आता है। किन्तु अमानत को सबसे अधिक प्रसिद्धि देनेवाला उनका पद्य नाटक 'इन्दर•सभा' है, जो उर्दू का पहला नाटक है। पहले ख्याल था कि यह नाटक वाजिद अली शाह की आज्ञा से 'अमानत' ने लिखा। किन्तु सय्यद मसऊद हसन रिज़वी इस बात को नहीं मानते। बहर हाल 'इन्दर सभा' अपने ज़माने में इतनी प्रसिद्ध हुई कि नाटक को 'इन्दर सभा' ही कहा जाने लगा। कई लोगों ने इसकी देखा-देखी 'इन्दर सभाएँ' लिखीं और कई नाटक मण्डलियाँ केवल 'इन्दर सभा' खेलने के ही लिए स्थापित हो गयीं। इस नाटक के सैकड़ों संस्करण निकले। नागरी और गुजराती लिपि में भी इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए। इंडिया आफ़िस के पुस्तकालय में इसके ४० संस्करण हैं। ब्लुमहार्ट ने ऐसे ५० संस्करणों का उल्लेख किया है, जो उन्नीसवीं शताब्दी में ही भारत, जर्मनी और फ्रांस में प्रकाशित हुए थे। इसका नमूना यह है—

गुलफ़ाम—साथ अपने मुझे ले चल वही नक़्शा दिखला
राजा इन्दर के अखाड़े का तमाशा दिखला

परी— ऐसी बातों का ज़बाँ पर नहीं लाना अच्छा
जान आफ़त में नहीं मुफ़्त फँसाना अच्छा

गुलफ़ाम—वाँ न ले जायेगी तो जी से गुज़र जाऊँगा
मैं अभी अपना गला काट के मर जाऊँगा

परी— थक गये होंठ, कहाँ तक इसे समझाऊँ मैं
चल अखाड़ा तुझे इन्दर का दिखा लाऊँ मैं

'इन्दर सभा' के अलावा 'अमानत' को उनकी वासोख़्त ने भी बहुत प्रसिद्ध किया है। वासोख़्त ऐसी भावनाओं के उद्‌गार को कहते हैं, जिनमें प्रेमी की प्रेमिका के प्रति खीझ प्रकट होती है। उर्दू में 'मीर' को वासोख़्त का जन्मदाता कहा जाता है, किन्तु इस काव्यरूप की उन्नति लखनऊ में ही हुई और लखनवी शैली के साथ ही इस काव्यरूप का भी अंत हो गया। विषय-बाहुल्य और वर्णन की सजीवता की दृष्टि से 'अमानत' की वासोख़्त सर्वोत्कृष्ट है।

मिर्ज़ा 'शौक़'—लखनवी काव्य का उल्लेख करते समय 'शौक़' की मसनवियों 'ज़हरे-इश्क़', 'फ़रेबे-इश्क़' आदि की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यद्यपि अश्लीलता के नाम पर इनकी काफ़ी भर्त्सना की गयी है और बहुत दिनों तक इनका प्रकाशन अवैध भी रहा है, तथापि साहित्यिक दृष्टि से इनका काफ़ी मूल्य है। इनमें भले ही कामुक जीवन का चित्रण हो, किन्तु भावों की तीव्रता और भाषा की सरलता और प्रवाह इन मसनवियों में देखते ही बनते हैं। इनमें तत्कालीन लखनऊ के विलासी जीवन का सच्चा चित्रण है और ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन मसनवियों का वही महत्त्व है जो पण्डित रतननाथ 'सरशार' के प्रसिद्ध उपन्यास 'फ़सानए-आज़ाद' का है। उर्दू में यथार्थवादी कविता इन मसनवियों से पहले कहीं नहीं दिखाई देती।

: ५ :

उर्दू गद्य का आरम्भ और स्थापना

उर्दू कविता की भाँति उर्दू गद्य के भी सबसे पुराने नमूने हमें दक्षिण में ही मिलते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं कि इस प्राचीन गद्य में दक्खिनीपन बहुत है। साथ ही इस गद्य का साहित्यिक मूल्य कुछ नहीं है। अधिकतर ये पुस्तकें धार्मिक भावना से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं। कहा जाता है कि उर्दू गद्य की सबसे पहली पुस्तकें सूफ़ी संत शैख़ ऐनुद्दीन गंजुलइल्म ने लिखी थीं, जो अब अप्राप्य हैं। शैख़ साहब का देहांत ७९५ हि० (१३९३ ई०) में हुआ था। अतएव ये पुस्तकें चौदहवीं शताब्दी में ही लिखी गयी होंगी।

उर्दू गद्य की प्राचीनतम पुस्तक प्रख्यात सूफ़ी संत ख़्वाजा सय्यद मुहम्मद गेसूदराज़ की 'मेराजुलआशिक़ीन' है। ख़्वाजा साहब का देहांत ८३५ हि० (१४३२ ई०) में हुआ था। इसकी भाषा का नमूना यह है—

"एक बादशाह की ताज़ीम एक अमीर कूँ बड़ी करता है तो अव्वल जा-ब-जा आरायश करता है।

सो मुहम्मद को पांच: तन संवार का सात ईमान के ऊपर लाये।"

सय्यद गेसूदराज़ के नवासे सय्यद मुहम्मद अब्दुल्ला अल-हुसैनी ने ईरान के सूफ़ी संत अब्दुलक़ादिर जीलानी की पुस्तक 'निशातुल-इश्क़' का दक्षिणी भाषा में अनुवाद किया था और उसका भाष्य भी लिखा। एक अन्य संत सय्यद शाह मीरांजी (देहांत १४९७ ई०) की कई गद्य पुस्तकें 'जल तरंग', 'गुलबास', 'शाहेमरग़ूबुल-क़ुलूब' आदि हैं, जिनमें सूफ़ी मत के सिद्धांतों की व्याख्या की गयी है।

प्राचीनकाल की सर्वप्रथम साहित्यिक गद्य कृति मुल्ला वजही की 'सब रस' (रचनाकाल १६३६ ई०) है। इसकी शैली अनुप्रास-युक्त है और भाषा दक्षिणी। सूफ़ी सिद्धांतों को एक कहानी के रूपक में दिया गया है। इसकी भाषा का नमूना यह है—"अक़्ल बग़ैर दिल कूँ नूर नहीं, अक़्ल कूँ ख़ुदा कहना भी कुछ दूर नहीं। ज़ात ते सिफ़ात हैं, ज़ात ते जो कुछ निकल्या सो बेज़ात है। जूँ रफ़्ता होर उसका नूर। अगर रफ़्ता बपजा न ना अछे तो नूर क्यों होए मशहूर।"

१६६८ ई० के लगभग एक सूफ़ी संत मीराँ याकूब ने 'शुभायल-उल-अतक़िया व दलायल-उल-अतक़िया' नामक फ़ारसी ग्रंथ का अनुवाद दक्षिणी भाषा में किया था। औरंगज़ेब के काल में रायचूर के एक धार्मिक बुज़ुर्ग सय्यद शाह मुहम्मद क़ादरी ने कई धार्मिक पुस्तिकाएँ लिखीं। एक अन्य संत सय्यद शाह मीर ने 'असरारुल-तौहीद' नामक एक पुस्तिका लिखी, जो अद्वैतवाद सम्बन्धी पुस्तक है।

प्राचीन काल की सबसे प्रसिद्ध गद्यकृति फ़ज़ली की 'दह मजलिस' है, जिसका रचनाकाल १७३३ ई० है। यह पुस्तक पहले मसनवी के रूप में 'वली' न लिखी थी, जिसे फ़ज़ली ने गद्य रूप दिया। इसकी भाषा का नमूना यह है—"फिर दिल में गुज़रा कि इस काम को अक़्ल चाहिए कामिल और मदद किसू तरफ़ की होए शामिल क्योंकि बेताईदे-समदी और बे मददे-जनाबे-अहमदी यह मुश्किल सूरत पिज़ीर न होए और गौहरे-मुराद रिश्तए उम्मीद में न आवे।"

१७९८ ई० में मीर मुहम्मद अता हुसैन ख़ाँ 'तहसीन' ने फ़ारसी के 'क़िस्सए-चहार-दुरवेश' का अनुवाद फ़ारसी से उर्दू में किया और उसका नाम 'नौ तर्ज़े-मुरस्सा' रखा। 'तहसीन' ने फ़ारसी में भी पुस्तकें लिखीं। वे पहले जेनरल स्मिथ के मीरमुंशी थे। फिर कुछ दिनों पटना में वकालत करने के बाद फ़ैज़ाबाद नवाब शुजाउद्दौला के दरबार में नौकर हो गये। यहीं उन्होंने उक्त पुस्तक लिखी। इस पुस्तक की शैली बड़ी अलंकार-युक्त और बोझिल है। बाद में डा० गिलक्रिस्ट ने मीर अम्मन से इसका सरल अनुवाद 'बाग़ो-बहार' के नाम से कराया, जिसका उल्लेख आगे होगा।

फ़ोर्ट विलियम कालेज

उर्दू में (बल्कि हिन्दी में भी) गद्यलेखन का व्यवस्थित कार्य सबसे पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी के कलकत्ता स्थित फ़ोर्ट विलियम कालेज में हुआ। कम्पनी को भारत में अपने अधिकार के विस्तार के साथ ही इस बात की भी आवश्यकता प्रतीत हुई कि कर्मचारियों को इस देश की भाषाएँ सिखायी जायें। लार्ड वेलेज़ली के प्रयत्नों से १८०० ई० में इस कालेज की स्थापना हुई। इसमें अँगरेज़ कर्मचारियों को देशी भाषाएँ सिखाने के साथ ही उर्दू और हिन्दी के गद्य-साहित्य के निर्माण का भी प्रबंध किया गया, जिससे कि नवशिक्षितों को भाषा पर अधिकार हो जाय। यद्यपि कालेज के प्रोफ़ेसर अँगरेज़ ही होते थे और किसी ग़ैर-ईसाई को कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं दिया जाता था, तथापि भारत के चुने हुए विद्वानों को मुंशी या पण्डित की उपाधि देकर उनसे अध्यापन और अनुवाद दोनों का काम लिया जाता था। इस कालेज की स्थापना में सबसे अधिक योग डा० गिलक्रिस्ट ने दिया, जिनके प्रयत्नों की हिन्दी तथा उर्दू सदा आभारी रहेंगी।

डा० जॉन बार्थविक गिलक्रिस्ट—डा० गिलक्रिस्ट १७५९ ई० में स्काटलैंड की राजधानी एडिनबरा में पैदा हुए। उन्होंने उसी नगर के प्रसिद्ध 'जॉर्ज हैरियट हास्पिटल' नामक चिकित्सा विद्यालय में चिकित्सा शास्त्र की शिक्षा ली। १७८२ ई० में उन्हें ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने वेतनभोगी डाक्टर बना कर बम्बई भेज दिया। बम्बई में ही उन्होंने जन-साधारण की भाषा हिन्दुस्तानी सीखी। अगले वर्ष उन्हें कलकत्ता भेज दिया गया। दो-तीन वर्ष में उन्होंने काफ़ी परिश्रम से उर्दू सीखी और अप्रैल १७८५ ई० में उर्दू में और अधिक योग्यता प्राप्त करने के लिए फ़ैज़ाबाद आ गये। यह भारतीय वस्त्र पहन कर बाज़ारों में घूमते थे और उर्दू के मुहावरे सीखते थे। इसी सिलसिले में इन्होंने दिल्ली, लखनऊ और बनारस की भी यात्रा की और पण्डितों तथा मौलवियों की सहायता से उर्दू और हिन्दी में पूर्ण योग्यता प्राप्त कर ली।

उर्दू और हिन्दी में योग्यता प्राप्त करने के बाद डा० गिलक्रिस्ट ने अँगरेज़ों को उर्दू में दक्ष बनाने के विचार से अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। इनकी

रचनाएँ ये हैं—(१) अँगरेज़ी-हिन्दुस्तानी शब्दकोष (यह नौ वर्ष के परिश्रम का फल था), (२) हिन्दुस्तानी भाषाशास्त्र, (३) उर्दू व्याकरण, (४) पूर्वीय भाषाविज्ञ, (५) उर्दू की रूपरेखा, (६) हिन्दी के सरल अभ्यास, (७) फ़ारसी क्रियापद, (८) अजनबियों के लिए उर्दू पथदर्शक, (९) हिन्दी काव्य संकलन, (१०) इल्मी ख़ाके, (११) हिन्दी शब्दों की व्युत्पत्ति, (१२) हिन्दी शिक्षक, (१३) हिन्दी-अरबी दर्पण, (१४) अँगरेज़ी-हिन्दोस्तानी वार्तालाप, (१५) पूर्वीय कहानियाँ, (१६) हिन्दी कथाकार। उर्दू और हिन्दी कोषों और भाषा-शास्त्र तथा लिपियों पर डा० गिलक्रिस्ट से पहले किसी ने कुछ नहीं लिखा। इन्हीं की कृतियों से प्रेरणा पाकर 'इंशा' ने 'दरिया-ए-लताफ़त' लिखी थी।

फ़ोर्ट विलियम कालेज की स्थापना पर इन्हें उसका मुख्याधीश बना दिया गया। इन्होंने चार वर्ष में ही भारत के चुने हुए विद्वानों को (जिनका उल्लेख आगे होगा) एकत्र करके उनसे ऐतिहासिक महत्त्व की पुस्तकें लिखवायीं। १८०४ ई० में यह अस्वस्थ हो गये और स्काटलैंड चले गये। फिर १८१६ ई० में लंदन आकर ईस्ट इंडिया कम्पनी के भावी कर्मचारियों को भारतीय भाषाएँ सिखाने लगे। १८१८ ई० में कम्पनी ने लीस्टर स्क्वायर में 'ओरियंटल इंस्टीच्यूट' स्थापित किया, जिसका उर्दू का प्रोफ़ेसर इन्हें बनाया गया। इंस्टीच्यूट १८२५ ई० में बंद हो गया, किन्तु इन्होंने अपने तौर पर काम जारी रखा। कुछ दिनों बाद अपना काम मि० सैंडफोर्ट अरटाट तथा मि० डनकन फ़ोर्ब्स के सुपुर्द करके स्काटलैंड चले गये। फिर कुछ दिन बाद स्वास्थ्य-लाभ के लिए उन्होंने फ्रांस की यात्रा की और पेरिस में ही ९ जनवरी, १८४१ ई० को उनका देहावसान हो गया।

कैप्टेन टॉमस रोबक—कैप्टेन रोबक सेनाधिकारी थे, जो डा० गिलक्रिस्ट के प्रभाव से उर्दू में रुचि लेने लगे। १८०४ ई० में डा० गिलक्रिस्ट के अवकाश ग्रहण के बाद फ़ोर्ट विलियम कालेज के मुख्याधीश पद पर सुशोभित हुए। इन्होंने भी कई विद्वानों को कालेज में बुलाया, जिनमें मुंशी बेनीनारायन 'जहाँ' प्रमुख हैं, जिन्होंने उर्दू कवियों का तज़किरा (वृत्तांत) लिखा है। मिर्ज़ा जान 'तपिश' ने अपनी मसनवी 'बहारे-नादिश' में इनकी बड़ी प्रशंसा की है। कैप्टेन

रोबक ने डा० गिलक्रिस्ट को उनके शब्दकोष की तय्यारी में बहुत सहायता दी। स्वयं भी इन्होंने 'लुग़ते-जहाज़रानी' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें नाविक-शास्त्र सम्बंधी पारिभाषिक शब्दों के पर्य्यायवाची हिन्दोस्तानी शब्द बताये गये थे। इनकी दूसरी पुस्तक 'इंडियन इंटरप्रेटर' है, जिसमें हिन्दुस्तानी व्याकरण के मूल-भूत सिद्धांत बताये गये हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने अँगरेज़ी में फ़ोर्ट विलियम कालेज का एक इतिहास भी लिखा है।

रोबक के अतिरिक्त फ़ोर्ट विलियम कालेज के अँगरेज़ अध्यापकों में कैप्टेन टेलर और डा० विलियम हंटर के नाम भी उल्लेखनीय हैं। कैप्टेन जोज़फ़ टेलर ने भी एक अँगरेज़ी-हिन्दोस्तानी शब्दकोष तय्यार किया था। इसमें डा० हंटर ने उनकी बहुत सहायता की थी।

मीर 'अम्मन'—इनका असली नाम मीर अमान था और 'अम्मन' तख़ल्लुस, लेकिन प्रसिद्ध वे मीर अम्मन के ही नाम से हैं। इनके आदि पुरुष हुमायूं के समय में भारत आये। आलमगीर द्वितीय के समय (१७५४ ई० से १७५९ ई०) तक इस ख़ानदान के लोग मुग़ल सम्राटों की सेवा में रहे। १७५६ ई० में दिल्ली पर अहमद शाह दुर्रानी का आक्रमण हुआ और फिर भरतपुर के सूरजमल जाट ने दिल्ली को लूट लिया। राज्य बहुत अशक्त हो गया तो मीर अम्मन भी परेशानी में दिल्ली छोड़ कर निकले। दिल्ली से पटने पहुँचे। कुछ वर्ष वहाँ रहे, किन्तु जीविका का कोई उपयुक्त साधन न मिला। मजबूरी में बालबच्चों को वहीं छोड़कर कलकत्ते गये, जहाँ नवाब दिलावर जंग के छोटे भाई मीर मुहम्मद काज़िम खां को पढ़ाने के लिए नौकर हो गये। कुछ दिनों बाद उनके मित्र मीर बहादुर अली हुसैनी ने, जो फ़ोर्ट विलियम कालेज में मीरमुंशी थे, इनका परिचय डा० गिलक्रिस्ट से करवा दिया। उन्होंने इनको कालेज में रख लिया। डा० गिलक्रिस्ट ने उनसे 'क़िस्सए चहार दुरवेश' का सरल उर्दू में अनुवाद कराया, जो 'बाग़ो बहार' के नाम से अबतक उर्दू गद्य का रत्न समझा जाता है। इसके अतिरिक्त मीर अम्मन ने मुल्ला हुसैन वाअज़ काशिफ़ी की फ़ारसी रचना 'इख़लाक़े-मुहसिनी' का अनुवाद भी 'गंजनिए-ख़ूबी' के नाम से किया। इन्हीं दो पुस्तकों ने उर्दू के गद्य में मीर अम्मन का स्थान सदा के लिए सुरक्षित कर दिया।

'बाग़ो बहार' फ़ारसी के 'क़िस्सए चहार दुरवेश' का अनुवाद है। कहा जाता है कि यह पुस्तक अमीर ख़ुसरो ने अपने आध्यात्म गुरु-निज़ामुद्दीन औलिया की बीमारी में उनका जी बहलाने को लिखी थी और उन्होंने आशीर्वाद दिया था कि बीमारी में जो कोई इस कहानी को सुनेगा उसे स्वास्थ-लाभ होगा। किन्तु मौलवी अब्दुलहक़ और डा० शेरानी की खोजों से सिद्ध हुआ है कि यह कहानी दिल्ली के बादशाह मुहम्मद शाह के समय में लिखी गयी थी और इसका अमीर ख़ुसरो से कोई सम्बन्ध नहीं है। मीर अम्मन के पहले मीर 'तहसीन' ने 'नौतर्ज़े-मुरस्सा' के नाम से इस कहानी का उर्दू में अनुवाद किया था, किन्तु यह पुराने ढंग की अरबी-फ़ारसी-युक्त उर्दू और अनुप्रास-युक्त भाषा से इतना बोझिल था कि डा० गिलक्रिस्ट ने मीर अम्मन को सरल उर्दू में 'नौतर्ज़े-मुरस्सा' का भाषांतर करने को कहा। मीर अम्मन ने १८०१ ई० में इसे पूरा किया।

मीर अम्मन के 'बाग़ो बहार' की स्थायी ख्याति का कारण उसकी सरल, प्रवाहमय और मुहावरेदार भाषा है। इसे दिल्ली की टकसाली उर्दू का नमूना कहा जा सकता है और यद्यपि इसकी रचना को डेढ़ सौ वर्ष से अधिक हो गये हैं, तथापि अब भी कुछ प्रयोगों को छोड़कर इसमें कहीं पुरानापन नहीं मालूम होता। साहित्यिक गद्य-लेखन का उर्दू में यह लगभग सबसे पुराना नमूना है, लेकिन इसकी सरलता और प्रवाह अब भी इसे साहित्यिक मान्यता प्रदान किये हुए हैं। भाषा के मामले में गद्य में मीर अम्मन का वही स्थान है, जो कविता के क्षेत्र में मीर तक़ी 'मीर' का है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें मीर अम्मन ने अपने काल के रीति-रिवाजों, सामाजिक परिस्थितियों और नैतिक मूल्यों का बड़ा सफल दिग्दर्शन कराया है। इसके अतिरिक्त एक अन्य विशेषता यह भी है कि यह केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं है, बल्कि क़िस्से की आड़ में कुछ सामाजिक-नैतिक मूल्यों की भी स्थापना की गयी है और यह सोद्देश्य रचना का अच्छा नमूना है।

निम्नलिखित उद्धरण से 'बाग़ो बहार' की भाषा और शैली का आभास मिलेगा--

"एक दिन वह बहन जो बजाय वालिदा के मेरी ख़ातिर करती थी, कहने लगी, 'ऐ बहन, तू मेरी आँखों की पुतली और माँ-बाप की मुई मिट्टी की

निशानी है। तेरे आने से मेरा कलेजा ठंडा हुआ। जब तुझे देखती हूँ खुश होती हूँ, तूने मुझे निहाल किया। लेकिन मर्दों को ख़ुदा ने कमाने के लिए पैदा किया है, घर में बैठा रहना उनको लाज़िम नहीं। जो मर्द निखट्टू होकर घर में बैठा रहता है, लोग उसको ताना देते हैं। ख़सूसन इस शहर के आदमी छोटे-बड़े तुम्हारे बेसबब बैठे रहने पर कहेंगे कि माँ-बाप का माल खोकर बहनोई के टुकड़ों पर आ पड़ा। निहायत बेइज्ज़ती और मेरी-तुम्हारी हँसाई और माँ-बाप के नाम को लाज लगने का सबब है, नहीं तो मैं अपने चमड़े की जूतियाँ बनाकर तुम्हें पिन्हाती और कलेजे में बिठाती। अब सलाह यह है कि सफ़र करो। ख़ुदा चाहे दिन फिरें और हैरानी परेशानी व मुफ़लिसी के बदले दिल-जमई और खुशी हासिल हो।' यह बात सुनकर मुझे भी ग़ैरत आयी। उसकी नसीहत पसंद करके जवाब दिया, 'अच्छा अब तुम माँ की जगह हो, जो कहो सो करूं।' मेरी मरज़ी पाकर घर से पचास तोड़े अशर्फ़ियों के असील व लौंडियों के हाथ लिवाकर मेरे आगे रखे और बोली, 'सौदागरों का एक काफ़िला दमिश्क को जाता है। तुम इन रुपयों से जिन्स तिजारत की ख़रीद करके एक ताजिरे-ईमानदार के हवाले करके दस्तावेज़ लिखवा लो और आप भी दमिश्क का क़स्द करो। जब वहाँ ख़ैरियत से जा पहुँचो अपना माल मए-मुनाफ़ा समझ-बूझ लो।' मैं वह नक़द लेकर बाज़ार गया। असबाब सौदागरी का ख़रीद करके एक सौदागर के सुपुर्द किया और नविश्त-ओ-ख्वाँद से फ़राग़त पाकर वह ताजिर दरिया की राह से जहाज़ पर सवार होकर रवाना हुआ और फ़िदवी ने ख़ुश्की की राह इख़्तियार की। जब रुख़सत होने लगा तो बहन ने एक भारी जोड़ा और एक घोड़ा जड़ाऊ साज़ से मुरस्सा तवाज़ो किया और एक ख़ासदान में मिठाई भरकर हरने से लटका दी और छागल पानी की शिकार बंद में बँधवा दी। इमाम ज़ामिन का रुपया मेरे बाज़ू पर बाँधा, दही का टीका मेरे माथे पर लगाया। आँसू पीकर बोली, 'सिधारो, तुमको ख़ुदा को सौंपा। पीठ दिखाकर जाते हो इसी तरह मुँह दिखाते जल्द आना।' मैंने फ़ातिहा पढ़कर कहा, 'अल्लाह तुम्हारा भी हाफ़िज़ है, मैंने क़बूल किया।' वहाँ से निकलकर घोड़े पर सवार हुआ और तवक्कुल पर भरोसा करके दो मंज़िल की राह एक मंज़िल करता हुआ दमिश्क़ के पास जा पहुँचा।"

मीर अम्मन कवि भी थे। 'अम्मन' के पहले यह 'लुत्फ़' तख़ल्लुस करते थे। इनका एक दीवान भी कहा जाता है, जो अब कहीं नहीं मिलता। मीर अम्मन के जन्म और मृत्यु काल तथा दिल्ली छोड़ने का ठीक समय अभी तक नहीं मालूम हो सका है।

सय्यद हैदरबख़्श 'हैदरी'—यह भी दिल्ली में पैदा हुए थे। इनके पिता सय्यद अबुलहसन लाला सुखदेव राय के साथ दिल्ली से निकल कर बनारस में रहने लगे। उसी समय 'गुल्ज़ारे-इब्राहीमी' नामक कवि-वृत्तांत के रचयिता नवाब अली इब्राहीम ख़ाँ 'ख़लील' बनारस में न्यायाधीश थे। यह अत्यंत विद्वान् पुरुष थे और हैदरी को उन्होंने बहुत-कुछ सिखाया-पढ़ाया और उनमें साहित्यिक रुचि पैदा कर दी। फ़ोर्ट विलियम कालेज में लेखकों की भरती होने लगी तो हैदरी ने 'क़िस्सए मह्रो-माह' नामक एक पुस्तक लिखकर डा० गिल-क्रिस्ट के पास भेजी। उन्होंने इसकी भाषा को पसंद किया और हैदरी को कलकत्ते बुला लिया। कलकत्ते में उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, जिनका विवरण इस प्रकार है—(१) क़िस्सए लैला मजनूँ (अमीर ख़ुसरो की मसनवी का अनुवाद), (२) तोता कहानी (सय्यद मुहम्मद क़ादिरी के 'तूतीनामा' का उर्दू अनुवाद। क़ादिरी ने संस्कृत की 'शुक सप्तति' की सत्तर कहानियों में से बावन का अनुवाद फ़ारसी में करके उसका नाम 'तूतीनामा' रखा था), (३) आरायशे-मह्फ़िल (हातिमताई की कहानी का अनुवाद), (४) तारीख़े-नादिरी (मिर्ज़ा मेहदी द्वारा फ़ारसी में रचित 'नादिरनामा' का अनुवाद, जिसमें नादिर शाह का जीवनचरित्र है), (५) गुले-मग़फ़रत (मुल्ला काशिफ़ी की प्रसिद्ध फ़ारसी पुस्तक 'रौजतुश्शुहदा' के—जिसमें करबला के शहीदों का वर्णन है—उर्दू अनुवाद 'गुलशने-शहीदों' का संक्षिप्त रूप), (६) गुलज़ारे-दानिश (शैख़ इनायतुल्ला के फ़ारसी 'बहारे-दानिश' का अनुवाद, जिसमें त्रिया चरित्र सम्बन्धी कहानियाँ हैं), (७) हफ्त पैकर (निज़ामी गंजवी की इसी नाम की फ़ारसी मसनवी का उर्दू मसनवी में रूपान्तर), (८) गुलदस्तए-हैदरी (हैदरी के विभिन्न लेखों और पद्यों का संग्रह), (९) गुलशने-हिन्द (उर्दू कवियों का वृत्तांत जो अभी तक अप्रकाशित है। इसी नाम का एक कवि-वृत्तांत मिर्ज़ा अली 'लुत्फ़' ने लिखा था, जो प्रकाशित हो चुका है।)

हैदरी की भाषा में प्रवाह और मुहावराबंदी मीर अम्मन जैसी ही हैं, किन्तु सरलता अपेक्षाकृत कुछ कम है, किन्तु इतनी कम नहीं कि अखरे। भाषा का नमूना निम्नलिखित उद्धरणों से मालूम होगा --

"जब सूरज छुपा और चाँद निकला, ख़ुजिस्ता बा-सनीए-पुरसोज़ व चश्मे गिरियां आहें भरती हुई तोते के पास गयी और कहने लगी, 'ऐ सब्ज़पोश तोते! मैं इश्क़ के ग़म में मुई जाती हूं और हर एक शब मेरी नसीहत और गुफ़्तगू में खो देता है। नसीहत की बातें मुझको न सुना। मैं आशिक़ हूं, मुझको नसीहत से क्या?' तोता कहने लगा, 'ऐ ख़ुजिस्ता, यह क्या कहती है? दोस्तों की बात मानना चाहिए क्योंकि जो कहना दोस्तों का नहीं मानता ख़राब होता है और परेशानी खैंचता है'।" (तोता कहानी)

"किताब ऐवानुरंज़ा में यूँ लिखा है कि ऐ अहले-बैते-रिसालत के हवाख़्वाहो व ऐ आले-अबा के मातमदारो! माहे-मुहर्रम में गिरिया-ओ-ज़ारी करो, ख़ुशी व ख़ुर्रमी को अपने दिल में राह न दो। हक़े-तआला इस रोने और ग़म करने का अज्रे-अज़ीम देगा, बिहिश्ते-बरीं सा मकान अता फ़रमायेगा।" (गुले-मग़फ़रत)

मीर शेर अली 'अफ़सोस'--फ़ोर्ट विलियम कालेज के लेखकों में 'अफ़सोस' शेख़ सादी की 'गुलिस्तां' के अनुवाद 'बाग़े-उर्दू' के कारण बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके पूर्वज अरब के क़ाफ़ नामक स्थान के निवासी थे, जहाँ से भारत आकर आगरे के समीप नारनौल में बस गये थे। 'अफ़सोस' के पितामह सय्यद ग़ुलाम मुस्तफ़ा ख़ाँ अपने दो बेटों सय्यद अली मुज़फ़्फ़र खाँ ('अफ़सोस' के पिता) और सय्यद ग़ुलाम अली ख़ाँ के साथ दिल्ली आये और उनके बेटों ने नवाब अमीर ख़ाँ की नौकरी कर ली। यहीं १७३८ ई० के लगभग 'अफ़सोस' पैदा हुए। नवाब अमीरख़ाँ का १७४६ ई० में देहांत हो गया। इसके तीन-चार वर्ष बाद अली मुज़फ़्फ़र खाँ पटना आकर वहाँ के नवाब मीर क़ासिम अली ख़ाँ के यहाँ तोपख़ाने के दारोग़ा हो गये। इसके बाद फ़ैज़ाबाद में नवाब शुजाउद्दौला की कुछ वर्षों तक नौकरी के बाद हैदराबाद चले गये और उनका वहीं देहांत हुआ।

'अफ़सोस' अपने पिता के फ़ैज़ाबाद आने के पहले ही नवाब शुजाउद्दौला के भतीजे सालारजंग के यहाँ नौकर हो गये, फिर दिल्ली के युवराज मिर्ज़ा

जवांबख़्त के, जो लखनऊ में रहने लगे थे, दरबार में नौकर हो गये। मिर्ज़ा जवांबख़्त दिल्ली वापस गये तो 'अफ़सोस' नवाब आसफ़ुद्दौला के मन्त्री हसन रज़ा ख़ाँ के मुसाहिब हो गये।

१८०१ ई० में हसन रज़ा ख़ाँ ने इनका परिचय कर्नल स्काट से करा दिया, जिन्होंने उन्हें फ़ोर्ट विलियम कालेज भेज दिया। उनका वेतन २००) महीना हो गया। लगभग आठ वर्ष कलकत्ते में रहकर उन्होंने १८०९ ई० में परलोक-गमन किया।

'अफ़सोस' की रचनाओं में एक दीवान, शैख़ सादी की 'गुलिस्ताँ' का उर्दू अनुवाद 'बाग़े-उर्दू' और मुंशी सुब्हान राय की १६८६ ई० में रचित प्रसिद्ध फ़ारसी इतिहास पुस्तक 'ख़ुलासतुल-तवारीख़' का उर्दू अनुवाद 'आरायशे-महफ़िल' के नाम से किया। 'अफ़सोस' कवि की हैसियत से काफ़ी प्रसिद्ध हैं। उनका 'बाग़े-उर्दू' अपनी प्रवाहमय शैली के कारण काफ़ी लोकप्रिय है और यही हाल 'आरायशे महफ़िल' का है। भाषा का नमूना यह है—

"जब से यह मरकज़े-ख़ाकी आरामगाहे-हैवानात हुआ, सैकड़ों लाखों शहर क़स्बे बसे और बसते जाते हैं। कोई अदना कोई आला, लेकिन हिन्दोस्तान की सर-ज़मीन का आलम सबसे निराला है। कोई विलायत इसकी वुसअत को नहीं पहुँचती और किसी मुमलिकत की आबादी इसको नहीं लगती।" (आरायशे–महफ़िल)

मिर्ज़ा काज़िम अली 'जवान'—मिर्ज़ा काज़िम अली दिल्ली के मूल निवासी थे, किन्तु दिल्ली की तबाही के बाद लखनऊ पहुँचे, जहाँ कवि की हैसियत से इन्हें ख्याति मिलने लगी। १८०० ई० में कर्नल स्काट की सिफ़ारिश पर यह फ़ोर्ट विलियम कालेज में पहुँचे। यह और इनके दो बेटे कलकत्ते में भी कविता करते रहे और मुशायरे करवाते रहे। 'जवान' की सबसे प्रसिद्ध अनुवाद पुस्तक 'शकुन्तला नाटक' है। मूल संस्कृत का अनुवाद ब्रजभाषा के कवीश्वर नवाज़ ने किया था, जिसका अनुवाद उक्त पुस्तक है। डा० गिलक्रिस्ट के आदेशानुसार पण्डित लल्लूलाल ने ब्रजभाषा से बोल-बोलकर इसके अनुवाद में सहायता की थी। फ़ारसी लिपि में लिखा हुआ यह सर्वप्रथम नाटक है। इसके अतिरिक्त 'जवान' की दो पुस्तकें—'बारहमासा' और 'तारीख़े-फ़रिश्ता'—भी प्रसिद्ध हैं।

'तारीखे-फ़रिश्ता' बहमनी बादशाहों का इतिहास है। 'बारहमासा' मसनवी है, जो बारह महीनों के अनुसार बारह भागों में है और उसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों के त्योहारों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सिंहासन बत्तीसी' के अनुवाद में भी लल्लूलाल की सहायता की थी। क़ुरान का अनुवाद भी आरंभ किया था, किन्तु उसे पूरा न कर सके।

मीर बहादुर अली हुसैनी—यह फ़ोर्ट विलियम कालेज में मीरमुंशी थे और मीर अम्मन इन्हीं की मध्यस्थता से वहाँ आये। इनका कुछ हाल नहीं मिला, शायद दिल्ली के निवासी थे। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक हितोपदेश के मुफ़्ती ताजुद्दीन कृत फ़ारसी रूपान्तर 'मुफ़र्रहुल-क़ुलूब' का उर्दू अनुवाद 'इख़्लाक़े-हिन्दी' है। अन्य पुस्तकें ये हैं—(१) मीर हसन की मसनवी सहरुलबयान का गद्य रूप 'नस्रे-बेनज़ीर', (२) डा० गिलक्रिस्ट के व्याकरण का संक्षिप्तीकरण 'रिसालए-गिलक्रिस्ट', (३) शहाबुद्दीन ताबिश की फ़ारसी 'तारीखे-आसाम' का इसी नाम से अनुवाद, जिसमें औरंगज़ेब के जनरल मीर जुमला के आसाम पर आक्रमण का वर्णन है। इनके अलावा हुसैनी ने 'क़िस्सए-लुक़मान' और क़ुरान के अनुवाद में भी योग दिया था।

मज़हर अली 'विला'—इनका असली नाम लुत्फ़ अली था, किन्तु प्रसिद्ध वे मज़हर अली ख़ाँ 'विला' के नाम से हैं। इनके बारे में इससे अधिक कुछ नहीं मालूम हो सका है कि दिल्ली के रहने वाले थे और फ़ोर्ट विलियम कालेज में आने के पहले बादशाह के दरबारी शायरों में थे। इनकी सबसे प्रसिद्ध अनुवाद-पुस्तक 'बैताल पच्चीसी' है। इसके अलावा इन्होंने 'माधोनल और कामकन्दला (कुण्डला)' की हिन्दी प्रेमकथा का भी अनुवाद किया है। अन्य पुस्तकों में सादी के 'करीमा' का पद्यमय अनुवाद, नासिर अली ख़ाँ वास्ती बिलग्रामी की फ़ारसी नीति सम्बन्धी पुस्तक 'हफ़्तगुलशन' का इसी नाम से अनुवाद, 'तारीखे-शेरशाही' का फ़ारसी से अनुवाद और रेख़्ता (उर्दू) का एक दीवान हैं। 'विला' अपने काल के प्रसिद्ध कवियों में से थे।

ख़लील अली ख़ाँ 'अश्क'—इनकी अनुवाद-पुस्तक 'अमीर हमज़ा' से तो सभी उर्दू-भाषी परिचित हैं, किन्तु इनका हाल कुछ नहीं मिलता, बल्कि 'अमीर हमज़ा' के अनुवादक की हैसियत से भी हाल में ही इनका नाम मालूम हुआ है।

'अमीर हमज़ा' फ़ारसी की बड़ी लम्बी कथा है, जिसके लेखक या लेखकों और रचना काल के बारे में कुछ नहीं मालूम हो सका। अन्य पुस्तकें ये हैं---(१) 'वाक़ियाते-अकबर' जो अबुलफ़ज़ल के 'अकबर नामा' का अनुवाद है और अप्रकाशित है, (२) 'क़िस्सए-गुलज़ारे-चीन' यह चीन देश की एक प्रेमकथा का फ़ारसी से उर्दू में अनुवाद है और, (३) 'रिसाला-ए-कायनात'।

बेनीनारायन 'जहाँ'—यह लाहौर के एक विद्वान वंश में पैदा हुए थे। फ़ोर्ट विलियम कालेज में यह कैप्टेन रोबक के समय में पहुँचे। इनकी पुस्तकें पाण्डुलिपियों के रूप में ही उपलब्ध हैं। कैप्टेन रोबक के आदेश से इन्होंने उर्दू कवियों का वृत्तांत 'दीवाने-जहाँ' के नाम से लिखा। एक फ़ारसी कथा का अनुवाद 'चार गुलशन' के नाम से और शाह रफ़ीउद्दीन की फ़ारसी पुस्तक 'तम्बीहुल गाफ़लीन' का भी उर्दू अनुवाद इन्होंने किया है। अंतिम समय में यह मुसलमान हो गये थे।

फ़ोर्ट विलियम कालेज के उर्दू लेखकों की सूची बड़ी लम्बी है। इसमें प्रसिद्ध कवि-वृत्तांत 'गुलशने-हिन्द' के लेखक मिर्ज़ा अली 'लुत्फ़', कई धार्मिक पुस्तकों तथा क़ुरान के अनुवादक मौलवी अमानतुल्ला, 'बहारदानिश' और 'यूसुफ़ ज़ुलेख़ा' के अनुवादक मिर्ज़ा जान 'तपिश', प्राचीन मरसिया-गो मीर अब्दुल्ला 'मिस्कीं', बाइबिल के न्यू टेस्टामेंट (अहदनामा-ए-जदीद) के अनुवादक मिर्ज़ा मुहम्मद 'फ़ितरत', अरबी की प्रसिद्ध पुस्तक 'अख़वानुस्सफ़ा' के अनुवादक मौलवी इकराम अली, फ़ारसी की प्रसिद्ध कहानी 'ताजुलमुलूक और बकावली' के (जिसके आधार पर उर्दू की प्रसिद्ध मसनवी 'गुल्ज़ारे-नसीम' रची गयी है) 'मज़हबे इश्क़' नाम से उर्दू अनुवाद के रचयिता निहालचन्द लाहौरी, शैख़ फ़रीदुद्दीन अत्तार के फ़ारसी 'पिन्दनामा' का उर्दू में पद्यमय अनुवाद करनेवाले मीर मुहीउद्दीन 'फ़ैज़' और 'ख़्वाने-अलवान' नामक पाक पुस्तक के रचयिता सय्यद हमीदुद्दीन बिहारी हैं।

फ़ोर्ट विलियम कालेज के मुंशियों और पंडितों में पण्डित लल्लूलाल का नाम हिन्दी पुस्तकों 'प्रेम सागर', 'राजनीति', 'सभा विलास', 'महादेव विलास', 'सिंहासन बत्तीसी' आदि के कारण तो प्रसिद्ध है ही, कई उर्दू अनुवादों 'शकुन्तला नाटक' आदि के सम्बन्ध में भी उनका सहयोग महत्त्वपूर्ण रहा है। इसीलिए

यद्यपि उन्होंने फ़ारसी लिपि में कोई पुस्तक नहीं लिखी, तथापि उन्हें भी उर्दू लेखकों में स्थान दे दिया गया है।

अन्य लेखक

फ़ोर्ट विलियम कालेज के बाहर भी उस ज़माने में उर्दू गद्य-लेखन का कुछ न कुछ काम हो ही रहा था। दिल्ली में शाह वली उल्ला तथा उनके भाइयों द्वारा लिखित धार्मिक पुस्तकें तथा क़ुरान के अनुवाद शायद उत्तरी भारत की सब से पहली उर्दू गद्य रचनाएँ हैं, जो अठारहवीं शताब्दी के अंत में हुए थे। शाह वली उल्ला के पोते और अपने काल के प्रकाण्ड धार्मिक विद्वान् मौलवी मुहम्मद इस्माइल देहलवी ने 'रिसालए-तौहीद', 'तक़वियतुल ईमान', 'सिराते-मुस्तक़ीम' आदि अनेक धार्मिक पुस्तकें लिखीं। १८३१ ई० में सय्यद अहमद बरेलवी के नेतृत्व में धर्म-युद्ध के लिए खोस्तान जा रहे थे तो रास्ते में उन्हें गँवार लोगों ने मार डाला। फिर भी अभी तक गद्य-लेखन मुख्यतः धार्मिक बल्कि इस्लामी कर्मकाण्ड के प्रतिपादन के ही लिए किया जाता था। साहित्यिक गद्यलेखन इधर कम ही हुआ। सिर्फ़ फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ 'गोया' और मिर्ज़ा रजब अली बेग 'सरूर' की कृतियाँ इस क्षेत्र में हैं।

नवाब फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ 'गोया'—इनकी ख्याति मुख्यतः कवि के रूप में हुई है। यह लखनऊ के नवाब के रिसालदार थे और इन्हें हिसामुद्दौला की उपाधि मिली हुई थी। कविता में यह शेख़ इमाम बख़्श नासिख़ के शागिर्द थे। इनका दीवान इनके देहांत (१८५० ई०) के बाद नवलकिशोर प्रेस से छपा है। गद्य में इन्होंने फ़ारसी की प्रसिद्ध पुस्तक 'अनवारे-सुहेली' का उर्दू अनुवाद 'बुस्ताने-हिकमत' के नाम से किया था। अब तो इसका महत्त्व ख़त्म हो गया है, किन्तु एक ज़माने में यह पुस्तक काफ़ी प्रसिद्ध थी। यह पुराने ढंग की लच्छेदार उर्दू में लिखी गयी है, यद्यपि 'फ़सानए-अजायब' से इसकी भाषा सरल है।

मिर्ज़ा रजब अली बेग 'सरूर'—यह आगरे के एक प्रतिष्ठित परिवार के रत्न थे और इनकी शिक्षा-दीक्षा लखनऊ के साहित्यिक वातावरण में हुई थी। यह अरबी, फ़ारसी, सुलेखन तथा संगीत में पारंगत थे। कविता में यह मिर्ज़ा नवाज़िश हुसैन 'नवाज़िश' के शागिर्द थे। 'ग़ालिब' से भी इनकी मित्रता थी

और उन्होंने 'सरूर' के 'फ़सानए-अजायब' की बड़ी प्रशंसा की थी। १८२४ में इन्हें नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर ने लखनऊ से निकाल दिया। यह कानपुर में आकर रहे। कानपुर इन्हें पसंद न आया। 'फ़सानए-अजायब' में उसकी बहुत बुराई की गयी है। 'फ़सानए-अजायब' इन्होंने कानपुर आते ही लिखना शुरू कर दिया था। १८४६ ई० में यह वाजिद अली शाह के दरबारी शायर हो गये और इसके अगले वर्ष इन्होंने उनके आदेश से 'शमशीरे-ख़ानी' का अनुवाद 'सरूरे-सुल्तानी' के नाम से किया। १८४७ से १८५१ तक इन्होंने कई छोटी कहानियाँ लिखीं। संडीले के रईस अमजद अली ख़ाँ के कहने पर 'शिगूफ़ए-मुहब्बत' नामक कथा लिखी। इनकी दो अन्य रचनाएँ 'गुलज़ारे-सरूर' और 'शबिस्ताने-सरूर' के नाम से हैं। इनके पत्रों का संग्रह भी 'इंशाए-सरूर' के नाम से प्रकाशित हुआ है। 'सरूर' का देहांत 'ग़ालिब' से एक वर्ष पहले १८६८ ई० में हुआ।

'सरूर' की लेखन-शैली बिलकुल पुराने ज़माने की थी, जिसमें दक्षता प्राप्त करने के लिए अरबी-फ़ारसी की अच्छी योग्यता आवश्यक थी। उसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों और वाक्य-विन्यासों की भरमार तो है ही, साथ ही अनुप्रास-युक्त गद्य और उपमाओं तथा रूपकों की भी भीड़-भाड़ दिखाई देती है। ऐसी शैली में भाषा का प्रवाह क़ायम रखना कठिन काम है, किन्तु 'सरूर' की सफलता इसी बात में है कि इतनी बोझिल शैली के बावजूद उन्होंने प्रवाह को हाथ से नहीं जाने दिया है।

ऐसा मालूम होता है कि फ़ोर्ट विलियम कालेज द्वारा प्रतिपादित सरल शैली उर्दू में जो क्रान्ति पैदा कर रही थी, उसे 'सरूर' ने बिलकुल पसंद नहीं किया। उन्होंने अँगरेज़ी शैली के इस अनुसरण की बजाय फ़ारसी शैली पर आधृत पुरानी उर्दू को ही स्थापित करना ज़रूरी समझा और इसीलिए मीर अम्मन के 'बाग़ो-बहार' के जवाब में 'फ़सानए-अजायब' की सृष्टि कर डाली। उर्दू गद्य में होने वाली क्रान्ति को रोकने और उसे फ़ारसी गद्य के ढर्रे पर ले जाने का 'सरूर' का प्रयत्न असफल अवश्य हुआ, किन्तु निस्संदेह उन्होंने अपनी गद्य-लेखन की प्रतिभा का पूरा प्रदर्शन कर दिया और उनका 'फ़सानए-अजायब' मीर अम्मन के 'बाग़ो-बहार' की भाँति अमर कृति हो गया। इसका

मुख्य आकर्षण उनके विवरण की सफलता है। वे किसी वस्तु का वर्णन करते हैं तो उसका पूर्ण चित्र खींच देते हैं, जिसमें रेखाओं तथा रंगों का पूर्ण सामञ्जस्य होता है, यद्यपि यह भी सही है कि उन्हें जीवन के जीते-जागते और तड़पते हुए चित्र देने में पण्डित रतन नाथ 'सरशार' की तरह सफलता बिलकुल नहीं मिली है।

नीचे हम 'फ़सानए-अजायब' का एक उद्धरण दे रहे हैं, जिससे 'सरूर' की शैली का पता चल जायेगा—

"फिर मशविरा हुआ कि यह जंगल सुनसान हू का मकान है। यहाँ दरिन्दा व गुज़िन्दा—साँप, बिच्छू, शेर, भेड़िए के सिवा परिन्दा दविन्दा नज़र नहीं आता। जो हम तुम दोनों सो रहें, ख़ुदा जाने क्या हो! तीन पहर रात बाक़ी है, डेढ़ पहर रात हम जागें, फिर तुम होशियार रहो। यह सलाह पसन्दे-ख़ातिरे-तरफ़ैन हुई। पहले बड़े भाई ने आराम किया, छोटे ने जागने का सरंजाम किया। तीरो-कमान हाथ में उठा टहलने लगा। जब ज़ुल्फ़े-लैलाए-शब कमर तक आयी, उसी दरख़्त पर दो जानवर अपनी-अपनी तौसीफ़ो-तारीफ़ ज़बाने-बेज़बानी में करने लगे। और यह शख़्स बहुत जानवरों की बोली समझता था, आवाज़ पर कान लगाये। एक बोला मेरे गोश्त में यह तासीर है जो खाये एक लाल तो पहले दो पहर के बाद उगले, फिर हर महीने मुँह से निकले। दूसरा बोला जो शख़्स मेरा गोश्त खाये, उसी रोज़ बादशाह हो जाये। वह ये बातें समझ दिल में निहायत ख़ुश हुआ। तीरो-कमान तो मौजूद था, 'इल्लल्लाह' कह कर तीर बेताम्मुल चिल्ले से जोड़ कर खैंचा। लबे-सूफ़ार कान के पास आब-वादा-ए-निशाना सरगोशी करके रवाना हुआ। क़ज़ा ने हरचन्द उनके सरपर ख़बरदार पुकारा, कमान कड़कड़ाकर चिल्लायी कि वह मारा। रात का तीर सरसरी ओटक्कर लेस, मगर मर्ग जो दरपे हो गयी जान न बची। पैकान से ता-सूफ़ार दोसार हो ज़मीन पर छिद कर दोनों एक तीर में गिर पड़े। उसने तकबीर कहकर ज़िब्ह किया, तायरे-रूह उनका उड़ गया। दिन की लकड़ियाँ बची सुलगा कबाब लगाये। जिसके गोश्त में सलतनत का ज़ायक़ा समझा था उसे खाया। दूसरा भाई के वास्ते उठाकर रखा और ऐसा ख़ुश हुआ कि तमाम शब आप पासबानी की, बड़े भाई को तकलीफ़ न दी। मगर मुआ-

मिलाते क़ज़ा-ओ-क़द्र से मजबूर बशर है, इंसान के क़ब्ज़ए-क़ुदरत में नफ़ा है न ज़रर है।

"जिस वक्त ज़ाग़े-शब ने बैज़हाए—अंजुम आशियान ए-मग़रिब में छुपाये और सय्यादाने सहरख़ेज़ दाम-बरदोश आये और सीमुर्ग़े-ज़र्री-जिवाह् तिला-बाल ग़ैरते-लाल क़फ़से मशरिक से जल्वा अफ़रोज़ हुआ यानी शब गुज़री रोज़ हुआ, बड़ा भाई उठा। छोटे ने वह कबाब पसमांदए-शब यानी रात के बचे रखे। वह नोश कर गया और हाल कुछ-न-कहा। दो घड़ी दिन चढ़े जब लाल उगला, तब समझा हमने बहुत तदबीर की, मगर सलतन बड़े भाई की क़िस्मत में थी। फिर वह लाल ब-तरीक़े-नज़्र रू-ब-रू लाया और रात का अफ़साना मुफ़स्सिल सब कह सुनाया, अल्लाह की इनायत से जल्द आपको सल्तनत हुसूल हो, यह नज़्रग़ुलाम की क़ुबूल हो। उसको उसकी सआदतमन्दी से ख़ुर-सन्दी हासिल हुई।"

: ६ :

दिल्ली की मध्यकालीन कविता

शुजाउद्दौला और आसफ़ुद्दौला के ज़माने में दिल्ली से बड़े-बड़े कवि उठकर अवध को चले गये थे, लेकिन दिल्ली की भूमि की उर्वराशक्ति समाप्त नहीं हुई। कुछ ही समय में वहाँ से ऐसे-ऐसे महाकवि उठे, जिनका डंका उर्दू संसार में अब तक बजता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दिल्ली का साम्राज्य नाम के लिए ही रह गया था। दिल्ली का बादशाह हर मामले में कम्पनी के रेज़ीडेण्ट की इच्छा से काम करने के लिए विवश था। संभवतः इसी विवशता को साहित्य के नशे में डुबोने की कोशिश की गयी और लाल क़िला अपने मुशायरों के लिए प्रसिद्ध हो गया। अंतिम मुग़ल सम्राट् बहादुर शाह द्वितीय को अपनी नौजवानी से ही कविता में अत्यधिक रुचि थी। दिल्ली के लगभग सभी बादशाह कविता के मर्मज्ञ ही नहीं, स्वयं भी कवि थे और अंतिम तीन सम्राट—शाह आलम 'आफ़ताब', अकबर शाह (द्वितीय) 'शुआ' और बहादुर शाह (द्वितीय) 'ज़फ़र'—उर्दू में कविता करते थे। इनमें भी बहादुरशाह 'ज़फ़र' तो उर्दू कविता के लिए भी उतने ही प्रसिद्ध हैं, जितने अपने ऐतिहासिक शासनकाल और उसके दुखांत नाटकीय अंत के लिए।

दरअस्ल उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में दिल्ली और लखनऊ दोनों में साहित्य का ज़ोर होने का एक यह भी कारण मालूम होता है कि ये राज्य वस्तुतः कम्पनी के आधीन हो चुके थे और यहाँ के शासकों और सामन्तों को राजनीति के क्षेत्र में व्यस्त होने का अवसर न था, न उनके सामने लड़ाई-भिड़ाई की समस्या थी। इसीलिए इनका अधिकतर समय साहित्य-सर्जन में ही बीतता था।

फिर भी इन दोनों राज्यों के सामन्तों की मनोवृत्ति में एक मौलिक अन्तर था। दिल्ली के अमीर पहले का समृद्धि काल देख चुके थे, यह उनकी बरबादी का ज़माना था और उन्हें अवकाश के समय में, जिसकी उन्हें कोई कमी न थी,

अवसाद की भावनाएँ घर दबाती थीं। दिल्ली में सूफ़ी संतों की परम्परा भी आरंभ से ही (अफ़ग़ानों के शासनकाल से ही) चली आ रही थी। इस अवसाद काल में सूफ़ी दर्शन उनके लिए सहारा था। अवध में इसके विपरीत नया राज्य था, वहाँ सत्ता न सही, किन्तु समृद्धि अवश्य थी, दिल्ली के विध्वंस के विपरीत अवध के सामन्तों ने केवल निर्माण का उल्लास देखा था। इसलिए उन्हें अपनी राजनीतिक परवशता खटकती नहीं थी और उनका जीवन उल्लास और आनन्द से भरा था। साथ ही कोई आध्यात्मिक या बौद्धिक परम्परा उनके पीछे नहीं थी। इसीलिए उनके जीवन में उल्लास ही नहीं, विलास का भी बोलबाला होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

दिल्ली और लखनऊ के सामन्तों की मनोवृत्ति के इसी मौलिक अंतर के आधार पर दिल्ली और लखनऊ की कविता के स्वर में भी स्वभावतः ही अंतर आ गया। फ़ारसी भावभूमि की परम्परा पर आधृत होते हुए भी लखनवी कविता मुख्यतः करुणा और आध्यात्मिकता से अलग सी ही रही (यद्यपि उसमें भी 'आतिश' के स्वर कुछ दूसरी तरह के हैं) और गंभीरता के नाम पर उसमें शाब्दिक सौन्दर्य पर ही अधिक ज़ोर दिया गया, लेकिन दिल्ली की कविता में भावों की प्रखरता और आध्यात्मिकता का पुट इतना स्पष्ट दिखाई देता है कि दिल्ली के कवियों की एक अलग ही शैली मानी जाने लगी। इस शैली के प्रमुख कवियों में 'ग़ालिब', 'ज़ौक़', 'मोमिन', बहादुरशाह 'ज़फ़र' तथा प्रथम तीन कवियों के शिष्यगण आते हैं।

मिर्ज़ा असदुल्लाह खाँ 'ग़ालिब'—उर्दू के काव्य-गगन में छोटे-बड़े लाखों सितारे चमक रहे हैं, लेकिन इनमें से सबकी नहीं तो अक्सर की रोशनी को मांद कर देने वाला चाँद सिर्फ़ एक है और वह है 'ग़ालिब'। डा० अब्दुर्रहमान बिजनौरी ने तो उनके दीवान को भारत की दो उल्लेखनीय पुस्तकों में माना है, जिनमें दूसरी पुस्तक वेद है। निश्चय ही यह प्रशंसा सीमा को पार कर जाती है और हास्यास्पद तक हो जाती है, फिर भी हम अत्यधिक भावुकतापूर्ण प्रशंसा में न पड़ें तो भी कह सकते हैं कि मिर्ज़ा 'ग़ालिब' ने उर्दू कविता की संकुचित भूमि को इतना विस्तृत कर दिया है कि उसमें असीमित गुंजायशें पैदा हो गयी हैं। स्वयं उनकी चेतना भी इतनी विस्तृत थी कि काव्य-नियमों की मर्यादा तोड़कर

बाहर हो गयी, यहाँ तक कि प्रचलित शब्द-विन्यास आरंभ में उनकी चेतना का बोझ न सँभाल सके और उसके तीव्र प्रवाह में इतने टूट-फूट गये कि उनमें या तो सिरे से कोई अर्थ ही नहीं रह गया या कुछ अर्थ निकला भी तो इतनी खोजबीन के बाद कि कविता का रस बिलकुल सूख गया। ख़ैरियत यही है कि ग़ालिब बाद में ख़ुद सँभल गये और उन्होंने अपनी चेतना को ऐसे मोड़ दिये कि वह सरलता और माधुर्य के क्षेत्र में मंद-मंद गति से बहने लगी और अपने किनारों को उसने हरा-भरा करके नन्दन कानन-जैसा बना दिया।

मिर्ज़ा 'ग़ालिब' की वंश-परम्परा तूरान (ईरान के पूर्वोत्तर भाग) के प्रसिद्ध बादशाह अफ़रासियाब से मिलती है। मध्ययुगीन ईरान के सलजूक़ी नरेश इसी वंश से थे। सलजूक़ियों के पतन के बाद तूरानी सामंत परेशान होकर इधर-उधर चले गये। मिर्ज़ा 'ग़ालिब' के पितामह भी समरक़न्द छोड़कर शाहआलम के समय में भारतवर्ष आये। इनके उच्चवंश के बावजूद दिल्ली में इन्हें विशेष सम्मान न मिल सका, क्योंकि दिल्ली का साम्राज्य वैसे ही बरबाद हो रहा था। शाही दरबार में इन्हें केवल पचास घोड़ों, झंडे और नक्क़ारे से सम्मानित किया गया। इसके अलावा मासूका एक परगना भी मिल गया। शाह आलम के अंतिम समय में दिल्ली बिलकुल उजड़ गयी और सामंतगण इधर-उधर भागने लगे। इसी गड़बड़ी में उनकी जागीर भी छिन गयी। मिर्ज़ा ग़ालिब के पिता अब्दुल्ला बेग खाँ लखनऊ जाकर नवाब आसफ़ुद्दौला के दरबार में पहुँचे। कुछ दिनों बाद हैदराबाद जाकर निज़ाम अली ख़ाँ बहादुर की सरकार में तीन सौ सवारों के अफ़सर नियुक्त हुए। कई बरस के बाद एक गृह-युद्ध के चक्कर में उन्हें हैदराबाद भी छोड़ना पड़ा। वहाँ से घर आये और अलवर में राजा बख़्तावर सिंह के यहाँ नौकर हो गये। इसी नौकरी के सिलसिले में वे किसी युद्ध में मारे गये।

मिर्ज़ा की माता ख़्वाज़ा गुलाम हुसैन की, जो आगरे के सेनापति और प्रसिद्ध रईस थे, पुत्री थीं। मिर्ज़ा का जन्म १२१२ हि० (१७९६ ई०) में हुआ। पिता की मृत्यु के समय उनकी अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी। पिता के मरने के बाद मिर्ज़ा का पालन-पोषण उनके चचा नसीरुल्ला बेग ने, जो मरहठों की ओर से अकबराबाद के सूबेदार थे, किया। १८०६ में कम्पनी का राज्य

हुआ तो यह अँगरेजों की ओर से कमिश्नर नियुक्त हो गये और चार सौ सवारों के अफ़सर भी। दुर्भाग्य से इसके दो ही वर्ष बाद उनका देहांत हो गया। जागीर आदि सब सरकार ने ले ली। इसके बाद मिर्ज़ा असदुल्ला खाँ, जिनका घर का नाम मिर्ज़ा नौशा था, अपनी ननिहाल में परवरिश पाने लगे। कहा जाता है कि उन्होंने बचपन में 'नज़ीर' अकबराबादी से भी कुछ दिन पढ़ा था। मालूम नहीं यह बात कहाँ तक सही है, क्योंकि स्वयं 'ग़ालिब' ने इस बात का कहीं उल्लेख नहीं किया।

जब मिर्ज़ा नौशा चौदह वर्ष के थे, तो संयोग से उनकी भेंट एक ईरानी व्यक्ति से हुई, जिसने इनके जीवन को एक नये ही रास्ते पर डाल दिया। यह व्यक्ति पहले पारसी था और इसका नाम हुरमुज़्द था, लेकिन बाद में मुसलमान हो गया था और उसका नाम अब्दुस्समद हो गया। यह व्यक्ति पारसी धर्म-ग्रंथों का प्रकाण्ड पण्डित था और काव्य-शास्त्र तथा फ़ारसी भाषा का विद्वान् था। ईरान से वह पर्यटन के लिए भारत आया था। मिर्ज़ा ने उसे दो वर्ष अपने घर में आदरपूर्वक रखा और उससे फ़ारसी भाषा और उसके मुहावरों आदि की ऐसी पूर्ण शिक्षा प्राप्त की जो फ़ारसी का कोई भारतीय विद्वान् नहीं दे सकता था। चूँकि स्वयं भी वंश-परम्परा की दृष्टि से ईरानी ही थे, इसलिए इस गुरु के प्रभाव से वे पूर्णतः ईरानी रंग में रँग गये, भाषा और उनके विचारों में ही नहीं, खान-पान, पहनने-ओढ़ने आदि में भी ईरानीपन की काफ़ी झलक मिलने लगी।

मिर्ज़ा नौशा का विवाह तेरह वर्ष की अवस्था में दिल्ली के नवाब इलाही बख़्श ख़ाँ 'मारूफ़' की पुत्री से हुआ था। यह लोहारू के रईस नवाब फ़ख़रुद्दौला के छोटे भाई थे। मिर्ज़ा का दिल्ली आना-जाना बचपन से ही जारी था। दिल्ली तो कविता का गढ़ ही थी, उनके ससुर भी कवि थे, इधर हुरमुज़्द का साथ। मिर्ज़ा भी छोटी ही उम्र से कविता करने लगे। लेकिन पहले कविता फ़ारसी में आरंभ की। धीरे-धीरे उर्दू में भी लिखने लगे। पहले 'असद' तख़ल्लुस करते थे, बाद में 'ग़ालिब' कर लिया।

चचा की जागीर के बदले सरकार ने उनके ख़ानदान के लिए कुछ पेंशन बाँधी थी। यह पेंशन नवाब अहमद बख़्श ख़ाँ की जागीर में मिली थी। उन्होंने

दस हज़ार की बजाय तीन हज़ार रुपया सालाना देना ही मंजूर किया, जिसमें से मिर्ज़ा के हिस्से में सिर्फ़ साढ़े सात सौ रुपया सालाना ही आया। इन्होंने दरख़्वास्त दी कि मेरा हिस्सा ग़बन किया गया है। इसी सिलसिले में वे कलकत्ते जाकर गवर्नर जनरल से मिले और दफ्तर दिखवाया। वहाँ पेंशिन का तो कुछ मामला तय न हुआ, कुछ और सम्मान मिल गये। इंग्लैंड तक अपील करने पर भी पेंशिन जैसी की तैसी रही। आगरे में रहने में कोई लाभ न देखा तो दिल्ली चले गये। कलकत्ते की यात्रा के सिलसिले में ही लखनऊ और बनारस भी गये थे। लखनऊ में तत्कालीन नवाब नसीरुद्दीन हैदर की प्रशंसा में और एक गद्यरचना उनके मन्त्री की प्रशंसा में लिखकर पेश की। बाद में नवाब वाजिद अली शाह ने ५०० रुपया वार्षिक इनके लिए निश्चित किया, किन्तु वह इन्हें दो ही वर्ष तक मिल सका, क्योंकि उसके बाद अवध के नवाब नज़रबन्द करके मटियाबुर्ज कलकत्ता भेज दिये गये।

इन सारी आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद मिर्ज़ा अमीरों की तरह हँसते-खेलते ज़िन्दगी काटते रहे। १८४२ में उन्हें टामसन साहब ने दिल्ली कालेज में अध्यापन कार्य के लिए बुलाया, किन्तु वंश गौरव की दीवार आड़े आ गयी। इसी बीच १८४७ ई० में उन्हें कोतवाल की दुश्मनी के कारण जुए के अपराध में तीन महीने का कारावास भी भोगना पड़ा। १८४९ में बहादुरशाह 'ज़फ़र' ने उन्हें बुलाकर नज्मुद्दौला दबीरुल्मुल्क की उपाधि दी और ५० रुपया महीना देकर तैमूरी वंश का इतिहास लिखने को कहा। मिर्ज़ा ने 'मेह्रे-नीमरोज़' शीर्षक से यह इतिहास फ़ारसी में लिखा है। १८५४ ई० में शैख़ इब्राहीम 'ज़ौक़' के मरने पर बादशाह ने 'ग़ालिब' को अपना काव्य-गुरु भी नियुक्त किया। १८५५ ई० में रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली ख़ाँ ने भी उन्हें अपना उस्ताद बना लिया और कभी-कभी रुपये-पैसे से भी सहायता करने लगे।

लेकिन यह आराम थोड़े ही दिन रहा। ग़दर के बाद दिल्ली के क़िले का वेतन तो बंद ही हो गया, अँगरेजी सरकार की भी पेंशिन बंद हो गयी, क्योंकि बादशाह के सान्निध्य के कारण इनपर भी बाग़ी होने का संदेह किया गया था। मिर्ज़ा बेचारे को राजनीति से दूर का भी सम्बन्ध न था, किन्तु घटनाओं के चक्र में आ ही गये। कुछ महीने इसी दशा में बीते कि कहीं इधर से क़र्ज़ लिया, कहीं

उधर से। आख़िर १८५९ में नवाब रामपुर ने इनके लिए सौ रुपया महीना नियत कर दिया और कहा कि रामपुर में आकर रहें तो दो सौ रुपया महीना मिलेगा। मिर्ज़ा कुछ दिन के लिए वहाँ गये, लेकिन फिर दिल्ली आ गये। सौ रुपया महीना खोकर भी उन्होंने दिल्ली का प्रेम क़ायम रखा। बाद में लिखा-पढ़ी करने पर और अपने को निर्दोष सिद्ध कर देने पर पुरानी पेंशिन भी जारी हो गयी। इसके बाद अंत समय तक उन्हें दोनों जगहों से बराबर रुपया मिलता रहा।

जीवन के अंत काल में कई वर्षों तक 'ग़ालिब' को शारीरिक कष्ट काफ़ी रहे। उन्हें दिखाई-सुनाई बहुत कम देने लगा, अपाहिज की तरह पलंग पर पड़े रहते और नाम के लिए कुछ खा लेते थे। अंत में १५ फ़रवरी १८६९ ई० को उनका देहावसान हो गया। मिर्ज़ा के कई संतानें हुई, किन्तु वे अल्पायु में ही काल-कवलित हो गयीं। उनके वंशजों में भी अब शायद कोई नहीं है।

मिर्ज़ा का स्वभाव उनके एक शेर से प्रकट हो जाता है, जो उन्होंने एक क़िते में लिखा था——

आज़ाद रौ हूँ और मेरा मसलक है सुलहे-कुल
हरगिज़ कभी किसी से अदावत नहीं मुझे

इसमें दो बातें उल्लेखनीय हैं——उनका 'आज़ाद रौ' अर्थात् स्वाधीन प्रकृति का होना और दूसरा कभी किसी से संघर्ष में न आना। स्वतन्त्र प्रकृति का हाल यह था कि धार्मिक कर्मकाण्ड को तिलांजलि दे रखी थी। शराब पीते तो मामूली तौर से थे, लेकिन उसका ढिंढोरा बहुत पीट रखा था। रोज़ा, नमाज़ आदि से कोई सरोकार न था। इस स्वतन्त्र प्रवृत्ति के साथ ही वे विद्रोह भावना से भी दूर थे। यह तो सभी मानते हैं कि उनके हृदय में शिया-सुन्नी, हिन्दू-मुसलमान किसी प्रकार का भेदभाव नहीं था, मित्रों को अपने घर वालों की भाँति सम्बोधित करते थे और उनके साथ वैसा ही व्यवहार रखते थे। उल्लेखनीय बात यह है कि राजनीति में भी उन्हें किसी से विरोध न था। वे बहादुरशाह और वाजिद अली शाह के साथ ही अँगरेज़ हाकिमों की प्रशंसा में भी क़सीदे कहते थे और

अपने इस कृतित्व को उन्होंने कभी छुपाया नहीं। उनके इस व्यवहार को अवसरवादिता समझना भूल है। वे शुरू से ही न अँगरेज़ों के विरोधी थे, न मुग़ल साम्राज्य के। उनसे जो कोई भी सलूक करता था या जिससे भी उन्हें यह आशा होती थी कि वह उनके साथ सलूक करेगा, उसी की प्रशंसा कर देते थे। रहा वफ़ादारी का प्रश्न, सो उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में कभी क़दम ही नहीं बढ़ाया। उनका मानसिक संसार सबसे अलग था, जहाँ किसी प्रकार के सामाजिक सिद्धांत लागू नहीं किये जा सकते।

मिर्ज़ा की सर्वमान्य विशेषता उनकी विनोदप्रियता है, जो उनके सार्वभौमिक प्रेम भाव का ही प्रकटीकरण है। मिर्ज़ा के चुटकुले उर्दू संसार की स्थायी निधि बन गये हैं। आगे उनका उल्लेख किया जायेगा।

किन्तु यह समझना भूल होगी कि मिर्ज़ा का व्यक्तित्व नैतिक दृष्टि से निम्न कोटि का था। उनमें आत्मसम्मान की कमी नहीं थी। उन्हें अपने उच्चवंशीय होने का बड़ा गर्व था। इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि १८४२ ई० में जब उन्हें टामसन साहब ने दिल्ली कालेज में फ़ारसी के अध्यापन के लिए सौ रुपया महीने पर बुलाया तो यह गये, लेकिन इस प्रतीक्षा में पालकी में बैठे रहे कि साहब स्वागत के लिए आयें तो जाऊँ। साहब को मालूम हुआ तो उन्होंने आकर कहा कि आप गवर्नर के दरबार में रईस की तरह आते तो हम स्वागत करते। इस समय आप नौकरी के लिए आये हैं, नियमानुसार हम आपका वैसा स्वागत नहीं कर सकते। मिर्ज़ा ने कहा कि 'मैंने सरकारी नौकरी को यह समझा था कि इससे मेरा सम्मान बढ़ेगा, लेकिन अगर पूर्व-पुरुषों का अर्जित सम्मान भी चला जाय तो नौकरी से क्या फ़ायदा?' यह कहकर चले आये। यह संभव है कि आज की मानसिक पृष्ठभूमि में मिर्ज़ा का व्यवहार विचित्र मालूम हो, किन्तु इससे यह तो मालूम ही होता है कि मिर्ज़ा अपने सम्मान के मानदंडों पर पूरे उतरते थे।

'ग़ालिब' के व्यक्तित्व का चित्रण बिल्कुल अधूरा रह जायेगा, अगर उनसे सम्बन्धित कुछ चुटकुले यहाँ न दिये जायें। वे बात-बात में हँसोड़पन करते थे। सारे चुटकुले जमा किये जायें तो छोटी-मोटी पुस्तक बन जाये। फिर भी कुछ चुटकुले देना अत्यावश्यक प्रतीत होता है।

१. एक बार मिर्ज़ा पर बहुत क़र्ज़ हो गया। महाजनों ने नालिश कर दी तो अदालत में शेर पढ़ा--

क़र्ज़ की पीते थे मै लेकिन समझते थे कि हाँ
रंग लायेगी हमारी फ़ाक़ामस्ती एक दिन!

मुफ़्ती सदरुद्दीन की अदालत थी। सुनकर हँस पड़े और महाजनों को अपने पास से रुपया दे दिया।

२--मिर्ज़ा की बहन बीमार थीं। उन्हें देखने गये। हाल पूछने पर वे बोलीं, "मरती हूँ, क़र्ज़ की फ़िक्र लिये जाती हूँ।' मिर्ज़ा बोले, "बुआ, यह भी कोई फ़िक्र है? ख़ुदा के यहाँ क्या मुफ़्ती सदरुद्दीन ख़ाँ बैठे हैं जो पकड़वा बुलायेंगे?"

३--ग़दर के बाद मुसलमानों को संदेह की दृष्टि से देखा जाता था। मिर्ज़ा को भी तत्सम्वन्धी अँगरेज़ अधिकारी ने बुलाया और पूछा, "तुम मुसलमान है?" इन्होंने कहा, 'आधा'। उसने हैरान होकर पूछा, "यह क्या बात?" मिर्ज़ा बोले, "शराब पीता हूँ, सुअर नहीं खाता!" अधिकारी ने हँसकर इन्हें छोड़ दिया।

४--एक साहब ने इनसे कहा 'शराब पीना गुनाह है।' यह बोले, "पिये तो क्या होता है?" वे बोले 'सब से बड़ी बात है कि उसकी दुआ (प्रार्थना) क़बूल नहीं होती।' मिर्ज़ा ने कहा, "आप जानते हैं शराब पीता कौन है? अव्वल तो वह कि एक बोतल ओल्डटाम की बा-सामान सामने हाज़िर हो, दूसरे बेफ़िक्री, तीसरे सेहत। आप फ़रमाइए कि जिसे यह सब कुछ हासिल हो, उसे और चाहिए क्या जिसके लिए दुआ करे?"

५--मिर्ज़ा को आम बहुत पसंद थे। एक बार एक नवाब साहब के साथ उनके बाग़ में टहल रहे थे। पेड़ों पर उम्दा क़िस्म के मीठे-मीठे आम लगे थे। मिर्ज़ा एक-एक आम को ग़ौर से देखते जा रहे थे। नवाब साहब ने पूछा कि यह क्या करते हो, तो मिर्ज़ा ने फ़ारसी का एक शेर पढ़ा जिसका अर्थ है कि हर दाने पर यह साफ़ लिखा होता है कि यह अमुक व्यक्ति का है, जो अमुक व्यक्ति का पुत्र और अमुक का पौत्र है। शेर पढ़कर कहा कि मैं यह देख रहा हूँ

कि इनमें से किसी आम पर मेरा और मेरे बाप-दादा का नाम लिखा है या नहीं ? नवाब हँसकर चुप हो गये और उसी दिन मिर्ज़ा के घर एक बहँगी अच्छे-अच्छे आम भिजवा दिये।

'ग़ालिब' का काव्य—'ग़ालिब' के साथ एक परेशानी यह हुई कि उन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रकाशन के लिए जो क्षेत्र चुना था, वह उन्हें सहारा नहीं दे सका। पहले कहा जा चुका है कि वह सर से पाँव तक ईरानी रंग में रँगे हुए थे। उन्होंने फ़ारसी की पूर्ण शिक्षा ग्रहण की और उसी भाषा को अपनी चेतना के प्रकाशन का माध्यम बनाया। दुर्भाग्य से उन्होंने फ़ारसी का दामन उस समय पकड़ा जब कि भारत में उस भाषा का ज़ोर लगभग समाप्त हो चला था। किसी भी पतनोन्मुख काव्यधारा में भाव पक्ष की प्रखरता की बजाय शाब्दिक उलझन की ही अधिकता होती है और यही बात भारत में फ़ारसी कविता के साथ हुई। अठारहवीं शताब्दी में नासिर अली और 'बेदिल' दो प्रसिद्ध फ़ारसी कवि हुए हैं, जिनकी कविता की विशेषता भावों की प्रखरता नहीं, बल्कि जटिलता रही है। इनमें भी 'बेदिल' अपने रंग के बेजोड़ कवि हुए हैं और 'ग़ालिब' ने इन्हीं का अनुसरण किया और अपनी कविता को क्लिष्ट शब्दों तथा जटिल भावों के चमत्कारों से लाद दिया। अपने आदर्श का चुनाव निस्संदेह 'ग़ालिब' ने ग़लत किया। अगर वे 'बेदिल' की बजाय अकबर कालीन कवि 'उर्फ़ी' को अपना आदर्श बनाते तो उनकी फ़ारसी कविता भी थोथे पाण्डित्य-प्रदर्शन से बच जाती। उसमें बेपनाह ज़ोर आ जाता, क्योंकि 'ग़ालिब' की उन्मुक्त चेतना को 'उर्फ़ी' ही ऊँचाइयों पर भी सीधी राहों पर डाल सकता था।

'ग़ालिब' ने अधिकतर कविता फ़ारसी में की। आरंभ में जो कविता उन्होंने उर्दू में की, वह भी मालूम होता है कि मुँह का स्वाद बदलने के लिए की। फ़ारसी की तो फिर भी सदियों की परम्परा थी, जिसके बाद 'बेदिल' और 'ग़ालिब' की जटिलता के लिए भी स्थान बन गया था, लेकिन बेचारी उर्दू में इतना दम कहाँ था कि वह इतनी अर्थात्मक बारीकियों को सँभाल पाये ? उर्दू के लिखने वालों और समझने वालों की चेतना का इतना विकास हो ही नहीं सका था कि वे इस शाब्दिक पच्चीकारी की क़द्र कर सकते। इस पर तुर्रा यह कि ग़ालिब ने यह अर्थात्मक भूल-भुलय्यां भी फ़ारसी शब्दों के आधार पर

बनायी थी। फलतः उनकी प्रारंभिक उर्दू कविताओं में अगर क्रिया भी उर्दू की बजाय फ़ारसी की कर दी जाय तो पूरे के पूरे शेर फ़ारसी के हो जायें। ऊपर से उनकी अर्थात्मक जटिलता। इसीलिए इन शेरों को लोगों ने निरर्थक कहना शुरू कर दिया। एक मुशायरे में हकीम आग़ा जान 'ऐश' ने तंग आकर 'ग़ालिब' के सुनाने को यह क़सीदा पढ़ दिया——

अगर अपना कहा तुम आप ही समझे तो क्या समझे
मज़ा कहने का जब है इक कहे और दूसरा समझे
ज़बाने 'मीर' समझे और कलामे-मीरज़ा समझे
मगर इनका कहा यह आप समझें या ख़ुदा समझे

अन्य लोग भी इनकी कविता का मज़ाक उड़ाते थे। इनके तर्ज़ पर शेर कहने के नाम पर निरर्थक शेर कहा करते और इन्हें सुनाते। एक साहब तो यहाँ तक बढ़ गये कि इनसे जाकर कहा कि आपका एक शेर समझ में नहीं आया, उसका अर्थ बता दें तो कृपा होगी। पूछने पर उन्होंने शेर पढ़ा——

पहले तो रोग़ने-गुल भैंस के अण्डे से निकाल
फिर दवा जितनी है कुल भैंस के अण्डे से निकाल

मिर्ज़ा हैरान होकर बोले कि यह शेर मेरा कहाँ है? क़हक़हा पड़ा तो समझे कि मज़ाक़ उड़ाया गया था।

'ग़ालिब' अपने उग्रताहीन स्वभाव के कारण इन मज़ाकों पर हँसते रहते थे, लेकिन उन्हें दुख भी होता था। इसी झुंझलाहट में उन्होंने कभी-कभी ऐसे शेर भी कह डाले——

न सतायश की तमन्ना न सिले की परवा
न सही गर मेरे अशआर में मानी न सहीं

फिर भी उन्होंने महसूस किया कि यह रविश ठीक नहीं है। उर्दू का दौर-दौरा देखकर फ़ारसी का भी पहले वाला मोह न रहा था। अब उन्होंने क्लिष्टता को छोड़कर केवल कल्पना की उड़ान को उन्मुक्त किया और अपनी प्रतिभा का

पूरा ज़ोर दिखा दिया। इसी काल की कविता के बल पर 'ग़ालिब' को देश में ही नहीं, देश के बाहर ख्याति मिली है। इसलिए इस काल की कविता की विस्तृत आलोचना आवश्यक है।

'ग़ालिब' को दार्शनिक कवि कहा जाता है। मालूम नहीं यह भ्रम किसने और कब फैलाया——शायद डा० अब्दुर्रहमान बिजनौरी ने यह शब्द पहले पहल प्रयोग किया हो। फिर भी यह भ्रम बहुत फैला हुआ है। दर्शन या फ़िलासफ़ी एक व्यवस्थित चिन्तन को कहते हैं। प्रत्येक दर्शन में सारी चीज़ों को एक विशेष दृष्टिकोण से देखा जाता है, उसमें प्रत्येक अवलोकन का एक दूसरे से पूर्ण समन्वय होता है। 'ग़ालिब' के यहाँ कोई व्यवस्थित चिन्तन नहीं मिलता, हाँ व्यवस्थित चिन्तन के प्रति विद्रोह ज़रूर मिलता है। 'ग़ालिब' की चेतना इतनी विस्तृत थी कि उसने प्रत्येक व्यवस्था के बंधन तोड़ दिये थे। सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं का तो ज़िक्र ही क्या है, उन्होंने सूफ़ीवाद जैसी व्यक्तिवादी विचार-धारा को जगह-जगह टक्कर मारकर तोड़-फोड़ डाला है। दरअस्ल 'ग़ालिब' किसी प्रकार की भी व्यवस्था के विरोधी हैं। उनका व्यक्तिवाद सबसे बढ़ा-चढ़ा है। यदि उन्हें अराजकतावादी या अव्यवस्था-वादी नहीं कहा जाता तो उसका कारण यही है कि उनकी चेतना इतनी प्रखर थी कि उनके इस तोड़-फोड़ में भी निर्माण की झलक मिलने लगती है। इसी के आधार पर दार्शनिकता का भ्रम पैदा हुआ है।

'ग़ालिब' का व्यक्तित्व अपने को इतना पूर्ण समझता है कि उसे न धर्म की परवा है न परम्परा की (प्रेम की परम्परा की भी नहीं), इसीलिए तो वे बेझिझक कह सकते हैं——

वफ़ा कैसी कहाँ का इश्क़ जब सर फोड़ना ठहरा
तो फिर ऐ संग-दिल तेरा ही संगे-आस्तां क्यों हो

ख्वाहिश को अहमक़ों ने परस्तिश दिया क़रार
क्या पूजता हूँ उस बुते-बेदादगर को मैं

'ग़ालिब' का हर बात में नयी बात पैदा करना, हर बात को नयी तर्ज़ से कहना, यहाँ तक कि बहुत हद तक काव्य-नियमों की उपेक्षा भी उनके इसी

अतिशय व्यक्तिवाद की दलील है। विभिन्न व्यवस्थाएँ एक दूसरे का विरोध करती हैं। 'ग़ालिब' न किसी के साथ थे, न किसी के विरुद्ध। वे इस ऊहापोह को मनोरंजन की दृष्टि से देखते थे, जैसे कि कोई वयस्क बच्चों के खेलों में भाग लेने लगे--

बाज़ीचए अतफ़ाल है दुनिया मेरे आगे
होता है शबो-रोज़ तमाशा मेरे आगे
ईमां मुझे रोके है तो खेंचे है मुझे कुफ़्
काबा मेरे पीछे है कलीसा मेरे आगे

'ग़ालिब' का व्यक्तिवाद उनकी काव्य-चेतना में ही नहीं, उनके वैयक्तिक जीवन में भी परिलक्षित होता है। एक ओर तो वे बीसवीं शताब्दी के नास्तिकों की भाँति जीवन व्यतीत करते थे, दूसरी ओर उनकी वेशभूषा बिलकुल पुराने ढंग की थी। दोनों की तह में सबसे अलग ढंग अपनाने का आग्रह था। उनसे सम्बन्धित एक चुटकुला है, जिससे उनकी मनोवृत्ति पर प्रकाश पड़ता है। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि एक निश्चित समय पर मरूंगा। उस साल न मरे, तो किसी मित्र ने याद दिलायी कि आप की भविष्यवाणी ग़लत हुई। उस मित्र को 'ग़ालिब' ख़त में लिखते हैं कि भविष्यवाणी ग़लत नहीं थी, किन्तु उस वर्ष महामारी फैली थी, इतने लोगों के साथ मरना ठीक न समझा।

'ग़ालिब' की कविता का तीसरा युग उनका अंतिम काल है, जब उनकी शक्तियाँ जवाब दे रही थीं। इस समय की कविता में नयी राहें निकालने का आग्रह नहीं है, किन्तु निराशा की भावना ने शब्दों तथा वर्णन के ढंग में सादगी पैदा कर दी है और करुणा बड़े प्रभावोत्पादक ढंग से उभर कर सामने आयी है। 'ग़ालिब' ने शायद अनजाने ही इस प्रकार प्रभावपूर्ण सरल कविता के लिए एक बार फिर रास्ता साफ़ कर दिया।

'ग़ालिब' का गद्य--'ग़ालिब' ने उत्कृष्ट साहित्य समझ कर फ़ारसी में गद्य और पद्य दोनों लिखे। एक फ़ारसी शेर में वे कहते हैं कि मेरी उर्दू रचनाएँ बेकार हैं, देखना हो तो फ़ारसी देखो। किन्तु उनकी ख्याति गद्य और पद्य दोनों में उसी उर्दू के कारण हुई, जिसे वे बेकार समझे बैठे थे और उनकी उर्दू रचनाओं

ने ही उनकी मृत्यु के बाद उर्दू की राह मोड़ दी। फ़ारसी में उन्होंने गंभीरतापूर्ण गद्य, इतिहास आदि, लिखा; उर्दू में केवल मित्रों को पत्र लिखे। लेकिन जहाँ 'मेह्रे-नीमरोज़' केवल पुस्तकालयों की शोभा है, वहीं उनके उर्दू पत्र दो संग्रहों में प्रकाशित होकर उर्दू गद्य साहित्य की अमूल्य निधि बन चुके हैं।

'ग़ालिब' से पहले फ़ारसी के ढंग पर उर्दू के मुंशी लोग भी बड़े बनावटी और भारी भरकम ढंग से पत्र लिखा करते थे। आधा पत्र तो अल्क़ाब-ओ-आदाब (प्राप्त कर्ता के प्रति सम्बोधन) में ही निकल जाता था, उसमें तरह-तरह के रूपकों और उपमाओं से काम लिया जाता था। शेष पत्र में भी जो कुछ तथ्य होता था, वह साहित्यिकता के जंगल में ऐसा फँसा होता था कि मुंशी लोग ही ख़त लिख पाते थे और मुंशी ही उन्हें पढ़कर मतलब की बात निकाल पाते थे। भाषा दस में से नौ भाग अरबी-फ़ारसी होती थी, एक भाग उर्दू। गद्य होने पर भी वाक्यों या वाक्यांशों को तुकांत रखा जाता था और पत्र, पत्र न रह कर किसी धर्म ग्रंथ का अंश मालूम होता था। ऐसा पत्र न लिखना अयोग्यता-सूचक समझा जाता था।

'ग़ालिब' ने इस तरीक़े को बिलकुल छोड़ दिया। अनजाने में कभी-कभी तुकांत वाक्य या वाक्यांश उनकी लेखनी से भी निकल जाते हैं, और फ़ारसी के शब्द भी उनके पत्रों में अधिक हैं (जो स्वाभाविक ही है, क्योंकि वे सबसे पहले फ़ारसी में ही सोचते थे)। इन दो बातों के अलावा उनके पत्र पुराने पत्रों से बिलकुल अलग हैं। अल्क़ाब-आदाब में सतरें की सतरें रंगने की बजाय वे 'मुशफ़िक़', 'मेरे शफ़ीक', 'मेरी जान', 'सय्यद साहब' आदि से आरंभ कर देते हैं। चूँकि पत्र की भाषा और लहजा बिलकुल ऐसा होता था जैसे कि पत्र पाने वाले से बातचीत कर रहे हैं, इसलिए एक आध पत्र का आरंभ भी नाटकीय कथनोपकथन के ढंग से किया है। बात जो कहनी होती थी, उसे संक्षिप्त शब्दों में कहते थे, लेकिन कुछ इस तरह से कहते थे कि शुष्कता बिलकुल न रहती थी और मालूम होता था कि छेड़-छाड़ के ढंग से बातें कर रहे हैं। अंत भी ऐसा ही संक्षिप्त होता था। कुछ उदाहरणों से उनके पत्र-लेखन की विशेषताएँ स्पष्ट हो जायेंगी।

(मीर मेहदी के नाम)

"जाने-ग़ालिब ! अब की ऐसा बीमार हो गया था कि मुझको खुद अफ़सोस था। पाँचवें दिन ग़िज़ा खायी। अब अच्छा हूँ, तन्दुरुस्त हूँ। ज़िलहिज्ज १२७६ हि० तक कुछ खटका नहीं है। मुहर्रम की पहली तारीख़ से अल्लाह मालिक है। मीर नसीरुद्दीन आये कई बार, मैंने उनको देखा नहीं। अबकी बार दर्द में मुझको ग़फ़लत बहुत रही, अक्सर अहबाब के आने की ख़बर नहीं हुई। जब से अच्छा हुआ हूँ सय्यद साहब नहीं आये। तुम्हारे आँखों के ग़ुबार की वजह यह है कि जो मकान दिल्ली में ढाये गये और जहाँ-जहाँ सड़कें निकलीं, जितनी गर्द उड़ी उसको आपने अज़राहे-मुहब्बत अपनी आँखों में जगह दी। बहरहाल अच्छे हो जाओ और जल्द आओ।"

(यूसुफ़ मिर्ज़ा को उनके पिता की मृत्यु पर)

"यूसुफ़ मिर्ज़ा ! तुझको क्योंकर लिखूँ कि तेरा बाप मर गया। और अगर लिखूँ तो फिर आगे क्या लिखूँ कि अब क्या करो मगर सब्र। यह एक शेवए फ़रसूदा अब्नाए-रोज़गार का है। ताज़ियत यूँ ही किया करते हैं और यही कहा करते हैं कि सब्र करो। भला एक का कलेजा कट गया है और लोग उसे कहते हैं कि तू न तड़प। भला क्यों न तड़पेगा ? सलाह इसमें नहीं बतायी जाती, दुआ को दख़्ल नहीं, दवा का लगाव नहीं। पहले बेटा मरा फिर बाप। मुझसे कोई पूछे कि बे-सरो-पा किसे कहते हैं तो मै कहूँगा यूसुफ़ मिर्ज़ा को। तुम्हारी दादी लिखती है कि रिहाई का हुक्म हो चुका था। यह बात है तो जवां मर्द एक बार दोनों क़ैदों से छूट गया, न क़ैदे-हयात रही न क़ैदे-फ़िरंग।"

(मुंशी हरगोपाल 'तफ़्ता' के नाम)

"बस अब तुम इस्कन्दराबाद में रहे, कहीं और क्यों जाओगे ! बंक घर का रुपया खा चुके हो, अब कहाँ से खाओगे ? मियाँ ! न मेरे समझाने को दख़्ल है न समझने की जगह है। एक ख़र्च है कि वह चला जाता है, जो कुछ होना है वह हुआ जाता है। इख़्तियार हो तो कुछ किया जाय, कहने की जगह हो तो कहा जाय। मुझको देखो, न आज़ाद हूँ न मुक़य्यद, न रञ्जूर हूँ

न तन्दुरुस्त, न खुश हूँ न नाखुश, न मुर्दा हूँ न जिन्दा। जिये जाता हूँ, बातें किय जाता हूँ, रोटी रोज़ खाता हूँ, शराब गाह-ब-गाह पिये जाता हूँ। जब मौत आयेगी मर भी रहूँगा। न शुक्र है, न शिकायत है, जो तक़रीर है बसबीले-हिकायत है।"

(नवाब अलाउद्दीन ख़ाँ के नाम)

"मियाँ! बड़ी मुसीबत में हूँ। महलसरा की दीवारें गिर गयीं, पाखाना ढह गया, छतें टपक रही हैं। तुम्हारी फूफी कहती हैं हाय! दबी, हाय! मरी। दीवान-ख़ाने का हाल महलसरा से बदतर है। मैं मरने से नहीं डरता, लेकिन फुक़दाने-राहत से घबरा गया हूँ। अब्र दो घंटे बरसे तो छत चार घंटे बरसती है। अगर कोई चाहे कि मरम्मत करे तो क्यों कर करे। मेंह खुले तो सब कुछ हो। और फिर अस्नाए-मरम्मत में बैठा किस तरह रहूँ। अगर तुम से हो सके तो बरसात तक भाई से मुझको वह हवेली जिसमें मीर हसन रहते थे, अपनी फूफी को और कोठी में से वह बाराख़ाना मए-दालानें-ज़ेरीं जो इलाही बख़्श मरहूम का मस्कन था, मेरे रहने को दिलवा दो। बरसात गुज़र जायेगी, मरम्मत हो जायेगी। फिर साहब और मेम और बाबा लोग अपने क़दीम मस्कन में आ रहेंगे। तुम्हारे वालिद के जहाँ मुझ पर बहुत अहसान हैं, एक यह मुरव्वत का अहसान मेरे पायाने-उम्र में और सही।"

'ग़ालिब' की रचनाएँ निम्नलिखित हैं--

(१) ऊदे हिन्दी (उर्दू पत्रों का संग्रह), (२) उर्दू ए-मुअल्ला (उर्दू पत्रों का दूसरा संग्रह), (३) उर्दू ग़ज़लों क़सीदों आदि का दीवान, (४) फ़ारसी कुल्लियात (काव्य-संग्रह), (५) लताइफ़े-ग़ैबी (फ़ारसी), (६) तेग़े-तेज़ (उर्दू गद्य-रचना जो एक साहित्यिक बहस में लिखी गयी थी), (७) नामए-ग़ालिब (इसी प्रकार की फ़ारसी रचना), (८) क़ातए-बुरहान (प्रसिद्ध कोष बुरहान क़ाते का खंडन जिसपर साहित्यिक बहस छिड़ गयी थी), (९) पंच आहंग (फ़ारसी गद्य), (१०) मेह्रे-नीमरोज़ (तैमूरिया वंश का फ़ारसी में लिखित इतिहास), (११) दस्तम्बो (ग़दर का फ़ारसी में वर्णन) और (१२) सबदे-चीन (फ़ारसी की फुटकर कविताएँ)।

मिर्ज़ा के शिष्यों में सबसे पहले ख़्वाजा अल्ताफ़ हुसैन 'हाली' का नाम आता है, जिन्होंने 'ग़ालिब' की सहमति से ही उनसे पृथक् मार्ग अपनाया, किन्तु उर्दू काव्य में अमर हो गये। अन्य शिष्यों में मीर मेहदी मजरूह जिनका दीवान 'मजहरे-फ़ानी' के नाम से छपा; मिर्ज़ा क़ुरबान अली बेग 'सालिक' जन्होंने दीवान 'हंजारे-सालिक' छोड़ा है; नवाब सय्यद ज़करिया ख़ाँ ज़की जिन्होंने एक दीवान छोड़ा है; नवाब ज़ियाउद्दीन अहमद ख़ाँ 'रख़्शां' व 'नय्यर' जो अपने काल में इतिहास के विद्वान माने जाते थे; और मुफ़्ती सद्रुद्दीन 'आज़ुर्दा' जो दिल्ली के जज थे और सर सय्यद के गुरु थे, के नाम प्रमुख हैं।

मिर्ज़ा 'ग़ालिब' की कविता के नमूने नीचे दिये जाते हैं—

(प्रारंभिक काल)

नक़्श फ़रियादी है किसकी शोख़ीए तहरीर का
काग़ज़ी है पैर इन हर पैकरे तस्वीर का
आगही दामे-शनीदन जिस क़दर चाहे बिछाय
मुद्दआ अनक़ा है अपने आलमे तक़रीर का
न होगा यक बयाबां मांदगी से शौक़ कम मेरा
हुबाबे-मौजए रफ़्तार है नक़्शे-क़दम मेरा
सरापा रहने इश्क़ो नागुज़ीरे-उल्फ़ते-हस्ती
इबादत बर्क़ की करता हूँ और अफ़सोस साहिल का

(मध्य काल)

दोस्त ग़मख़्वारी में मेरी सई फ़रमायेंगे क्या
ज़ख़्म के भरने तलक नाख़ुन न बढ़ आयेंगे क्या
बे-नियाज़ी हद से गुज़री, बन्दा-परवर कब तलक—
हम कहेंगे हाले-दिल और आप फ़रमायेंगे 'क्या ?'
गर किया नासिह ने हमको क़ैद, अच्छा यूँ सही
यह जुनूने इश्क़ के अंदाज़ छुट जायेंगे क्या

है अब इस मामूरे में कहते-ग़मे-उल्फ़त 'असद'
हमने यह माना कि दिल्ली में रहें खायेंगे क्या

इशरते-क़तरा है दरिया में फ़ना हो जाना
दर्द का हद से गुज़रना से दवा हो जाना
अब जफ़ा से भी हैं महरूम हम अल्ला-अल्ला
इस क़दर दुश्मने-अरबाबे-वफ़ा हो जाना
है मुझे अब्रे बहारी का बरस कर खुलना
रोते-रोते ग़मे-फ़ुरक़त में फ़ना हो जाना

आह को चाहिए इक उम्र असर होने तक
कौन जीता है तेरी ज़ुल्फ़ के सर होने तक
दामे-हर-मौज में है हल्क़ए सद-कामे निहंग
देखें क्या गुज़रे है क़तरे पे गुहर होने तक
हमने माना कि तग़ाफ़ुल न करोगे लेकिन
ख़ाक हो जायेंगे हम तुमको ख़बर होने तक
ग़मे-हस्ती का 'असद' किससे हो जुज़ मर्ग इलाज
शमा हर रंग में जलती है सहर होने तक

(अंतिम काल)

कोई दिन गर ज़िन्दगानी और है
अपने जी में हमने ठानी और है
बारहां देखी हैं उनकी रंजिशें
पर कुछ अबके सरगरानी और है

कोई उम्मीद बर नहीं आती
कोई सूरत नज़र नहीं आती
आगे आती थी हाले-दिल पे हँसी
अब किसी बात पर नहीं आती

मौत का एक दिन मुअय्यन है
नींद क्यों रात भर नहीं आती

दिले-नादां तुझे हुआ क्या है
आख़िर इस दर्द की दवा क्या है
हम हैं मुश्ताक़ और वह बेज़ार
या इलाही ये माजरा क्या है
हमको उनसे वफ़ा की है उम्मीद
जो नहीं जानते वफ़ा क्या है
हमने माना कि कुछ नहीं 'ग़ालिब'
मुफ़्त हाथ आये तो बुरा क्या है

हकीम मोमिन ख़ाँ 'मोमिन'—उर्दू काव्य में 'मोमिन' का एक विशेष महत्त्व है। उनका क्षेत्र मुख्यतः प्रेम-व्यापार होते हुए भी उन्होंने वर्णन में जो तड़प पैदा की, वह उन्हीं का हिस्सा थी। वर्णन-सौन्दर्य की तारीफ़ यह है कि वे अभिव्यक्ति की मौलिकता और भावपक्ष की प्रबलता दोनों के लिए प्रसिद्ध हो गये और उर्दू में अपना नाम अमर कर गये।

मोमिन ख़ाँ के पिता का नाम हकीम ग़ुलाम नबी और पितामह का हकीम नामदार ख़ाँ था। यह कश्मीर के पुराने उच्च वंश के रत्न थे। मुग़ल साम्राज्य के अंतिम काल में हकीम नामदार ख़ाँ और उनके भाई कामदार ख़ाँ कश्मीर से आकर दिल्ली बस गये थे और शाही हकीमों में से हो गये थे। शाह आलम के ज़माने में उन्हें परगना नारनौल में कुछ जागीर मिली। अँगरेज़ी सरकार ने जब नवाब फ़ैजतलब ख़ाँ को झझ्झर की रियासत दी तो परगना नारनौल भी उसमें शामिल था। इस प्रकार इस वंश के लोगों के हाथ से जागीर तो निकल गयी, लेकिन उसके बदले हज़ार रुपया सालाना की पेंशिन मिलने लगी, जिसका कुछ भाग मोमिन ख़ाँ को भी मिलता था। इसी प्रकार इस वंश के चार हकीमों को वैसे भी सौ रुपया महीना अँगरेज़ी सरकार देती थी, जिसमें से इनका भाग इन्हें मिलता रहा।

इनका ख़ानदानी घर दिल्ली के कूचा चेलां में था। उसी में १२१५ हि० (१८०० ई०) में इनका जन्म हुआ। बचपन की साधारण शिक्षा के बाद इन्होंने शाह अब्दुल्क़ादिर से अरबी की शिक्षा ग्रहण की। इनकी बुद्धि प्रखर थी। जो सुनते थे तुरंत याद हो जाता था। जब अरबी में कुछ चल निकले तो अपने पिता तथा अपने चचा ग़ुलाम हैदर ख़ाँ और ग़ुलाम हसन ख़ाँ से तिब (यूनानी चिकित्सा-शास्त्र) की शिक्षा ली और उन्हीं के मतिब (औषधालय) में चिकित्सा-कार्य आरंभ कर दिया।

हकीम मोमिन ख़ाँ की प्रतिभा केवल हकीमी और कविता तक ही सीमित नहीं रही। उन्होंने ज्योतिष में भी दूर-दूर तक नाम कर लिया था। इस विद्या में इन्हें ऐसी पूर्णता प्राप्त थी कि वर्ष भर में केवल एक बार तक़वीम (पञ्चाङ्ग) देखते थे और सारे वर्ष के लिए ग्रहों की स्थिति मस्तिष्क में बनी रहती। कोई कुछ पूछने आता तो न पञ्चाङ्ग देखते न उसकी जन्मकुण्डली; उसे कुछ कहने भी न देते थे, ख़ुद ही उससे पूछते जाते थे 'यह हुआ?' 'वह हुआ?' और वह मानता जाता था।

एक बार एक साधारण हैसियत का हिन्दू इनके पास रोता हुआ आया। मोमिन ख़ाँ ने उसे देखते ही पूछा, "तुम्हारा कुछ माल जाता रहा है ?" उसने कहा "साहब, लुट गया।" कहा, "तुम चुप रहो, जो पूछते जायें उसका 'हाँ' 'ना' में उत्तर देते जाओ।" फिर पूछा कि 'तुम्हारा ज़ेवरों का डिब्बा खो गया है ?' उसके स्वीकार करने पर कहा, "तुम्हारे घर में ही है, कहीं नहीं गया है।" वह कहने लगा कि घर का तो कोना-कोना छान मारा, कहीं नहीं है। इस पर इन्होंने उसके घर का पूरा नक़्शा बता दिया और कहा कि दक्षिण वाली कोठरी के उत्तर वाले मचान पर डिब्बा रखा है। वह कहने लगा—वहाँ भी देख लिया। इन्होंने कहा "नहीं, फिर जाकर अच्छी तरह देखो।" वह ग़रीब फिर गया और रोशनी लेकर जब मचान को देखा तो एक कोने में ज़ेवरों का डिब्बा सही-सलामत मिल गया।

इसी प्रकार एक बार इनके साथ अन्य मित्रों के अतिरिक्त इनके शिष्य हकीम सुखानन्द 'राक़िम' भी बैठे थे। 'मोमिन' ने उनसे कहा, "आज हम

तुम्हारी ज्योतिष विद्या की परीक्षा लेते हैं। यह छिपकली जो दीवार पर बैठी है, कब तक यहाँ से हटेगी ?" उन्होंने हिसाब लगाकर बताया कि एक घंटे में हटेगी। मोमिन बोले, "जब तक इसका जोड़ा पूर्व दिशा से नहीं आ जाता तब तक यह नहीं हट सकती।" 'राक़िम' ने यह बात न मानी। दोनों प्रतीक्षा करते रहे। जिस दालान में बैठे थे उसमें कई ओर दरवाज़े थे। दो-ढाई घंटे बाद पूर्व के द्वार से एक कपड़े की फेरी वाला बढ़िया कपड़ा लिये उन्हें दिखाने आया। उसने गठरी खोली तो उसमें से पट से एक छिपकली गिरी और फिर दोनों छिपकलियाँ एक ओर भाग गयीं।

ज्योतिष के अतिरिक्त शतरंज का भी इन्हें बड़ा शौक़ था। जब खेलने बैठते तो दीन-दुनिया किसी की ख़बर न रहती थी और घर के ज़रूरी काम तक भूल जाते थे। दिल्ली के प्रसिद्ध शतरंजबाज़ करामत अली से इनकी बड़ी घनिष्ठ मित्रता थी। दिल्ली जैसे शहर में इनके ज़माने में शतरंज के दो ही एक खिलाड़ी ऐसे थे जो इनसे अच्छी शतरंज खेल सकते हों।

'मोमिन' का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। लम्बा छरहरा बदन, गोरी गुलाबी रंगत, बड़ी-बड़ी आँखें, ग़िलाफ़ी पलकें, चौड़ा माथा, लम्बी सुतवां नाक, पतले होंठ, घुंघराले बाल, चौड़ा सीना, पतली कमर, हलकी-हलकी दाढ़ी मोंछें—तात्पर्य यह कि कश्मीरी सौन्दर्य की जीती-जागती प्रतिमा थे। अच्छा खाने, पहनने, इत्र, फूल आदि सभी का शौक़ था। बग़ैर कुरते के नीची चोली का शरबती मलमल का अंगरखा, लाल गुलबदन का पाजामा और गुलशन की टोपी लगाते थे। गुलबदन और गुलशन उस समय के बड़े क़ीमती कपड़े थे। मकान में सहन और दालान बड़े-बड़े थे। ऊपर की दालान में बढ़िया क़ालीन पर गावतकिया लगाकर बैठते थे। तश्तरी में चान्दी का हुक़्क़ा सामने रखा रहता। शिष्यगण, ज्योतिषी, हकीम, शहज़ादे, अमीरज़ादे, व्यापारी आदि सभी मिलने-वाले शिष्टता-पूर्वक सामने बैठे रहते थे। मालूम होता था किसी बड़े अमीर का दरबार लगा है।

'मोमिन' ख़ुद जागीरदार नहीं थे, लेकिन उन्होंने किसी दरबार की ख़ाक भी नहीं छानी। थोड़ी-बहुत जो कुछ पेंशिन मिलती थी, उससे और हकीमी से

होनेवाली आमदनी के सहारे अपने शौक़ पूरे करते थे, लेकिन ख़र्च भी क़ायदे के साथ करते थे। सारी ज़िन्दगी रुपये के लिए किसी के आगे हाथ फैलाने की ज़रूरत नहीं पड़ी। बहुत-से रईसों ने उन्हें बुलाया। टोंक के नवाब तो उन्हें ज़बर्दस्ती कुछ दिन के लिए अपने साथ ले गये थे, लेकिन कहीं और यह न गये। भोपाल के नवाब इन्हें बुलाते रहे, रामपुर और जहाँगीराबाद के दरबारों से भी निमन्त्रण आते रहे, लेकिन यह न गये। महाराजा कपूरथला ने ३५० रुपये मासिक पर बुलाया, न गये। पंजाब के लेफ्टीनेंट गवर्नर मि० टामसन ने 'ग़ालिब' के मना करने पर इन्हें दिल्ली कालेज की अरबी की प्रोफ़ेसरी देनी चाही, लेकिन वेतन अस्सी रुपये बताया। इन्होंने सौ रुपये मांगे तो उन्होंने कहा सौ रुपये लेने हों तो मेरे साथ पंजाब चलो, इन्होंने वह भी स्वीकार नहीं किया। दिल्ली के दरबार में ज़रूर जाते रहते थे, लेकिन दिल्ली-नरेश के लिए इन्होंने कोई क़सीदा नहीं लिखा। सामंत वर्ग में से सिर्फ़ दो के लिए इन्होंने क़सीदे लिखे हैं—एक टोंक के नवाब के लिए, जो इन्हें ज़बर्दस्ती अपने साथ ले गये थे, और दूसरा पटियाला के महाराज अजीतसिंह के लिए, जिन्होंने राह चलते इन्हें बुलाकर एक हथिनी इनकी भेंट की। 'मोमिन' ने घर आकर सबसे पहले हथिनी को बेच डाला, तब कोई दूसरा काम किया।

'मोमिन' सजीले जवान और शौक़ीन तबीयत आदमी थे ही, जवानी बड़ी मस्ती के साथ रास-रंग में काटी, किन्तु प्रौढ़ावस्था आने पर सारी विषय वासनाओं का परित्याग कर दिया था। इनकी मसनवियों और कुछ ग़ज़लों में इनकी जवानी की रंगरेलियों की झलक मिलती है।

'मोमिन' ने दिल्ली से निकल कर सिर्फ़ एक बार यात्रा की। जब टोंक गये तो उसी सिलसिले में रामपुर, सहसवान, बदायूँ, जहाँगीराबाद और सहारनपुर तक का चक्कर लगा आये थे।

'मोमिन' का आत्म-सम्मान अपनी विद्वत्ता के मामले में बहुत बढ़ा-चढ़ा है। अपने समकालीनों 'ज़ौक़' और 'ग़ालिब' को तो कुछ समझते ही न थे, फ़ारसी के पुराने उस्तादों तक को ख़ातिर में न लाते थे। उनका क़ौल मशहूर था कि "शेख़ सादी की गुलिस्तां में क्या है? "गुफ़्त-गुफ़्त, गुफ़्ता अंद गुफ़्ता अंद"

(अर्थात् 'कहा है') कहता चला जाता है। इन लफ़्ज़ों को काट दो तो कुछ भी नहीं रहता।" तारीख़ें लिखने में 'मोमिन' ने कमाल किया है और अन्य कई काव्य रूप—पहेलियाँ आदि भी लिखे हैं, जिनसे मालूम होता है कि उनकी काव्य-सर्जन शक्ति बड़ी प्रबल थी, किन्तु स्थिर न थी।

उनका विवाह एक सूफ़ी संत के वंश में हुआ था। उनके श्वसुर मीर मुहम्मद नसीर मुहम्मदी 'रंज' थे, जो 'दर्द' की गद्दी के उत्तराधिकारी मीर कल्लू नबीरा के पुत्र थे। 'मोमिन' के एक पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। उनके पुत्र का नाम अहमद नसीर ख़ाँ था।

कविता में 'मोमिन' ने कुछ दिनों तक शाह 'नसीर' का शिष्यत्व ग्रहण किया था, किन्तु बाद में स्वयं अपनी कविता में संशोधन करने लगे। स्वयं इनके काव्य-शिष्यों में बड़े प्रसिद्ध कवि और विद्वान् हुए हैं। इनमें से प्रमुख हैं— (१) नवाब मुस्तफ़ा ख़ाँ 'शेफ़्ता', जो उर्दू कवियों के प्रसिद्ध वृत्तांत 'गुलशने-बेख़ार' के रचयिता और बड़े प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, 'ग़ालिब' के मित्रों में से भी थे; (२) नवाब शेफ़्ता के छोटे भाई नवाब मुहम्मद अकबर ख़ाँ 'अकबर'; (३) मीर हुसैन 'तसकीन' जो बाद में रामपुर के दरबार में चले गये, बिलकुल 'मोमिन' के रंग में शेर कहते थे; (४) मिर्ज़ा असग़र अली ख़ाँ 'नसीम' देहलवी, जिनके योग्य शिष्यों 'तसलीम' और 'हसरत' मौहानी ने 'मोमिन' की परम्परा और शैली को उर्दू काव्य में प्रतिष्ठापित करने में बड़ा योगदान किया; (५) मीर 'तसकीन' के पुत्र मीर अब्दुर्रहमान 'आसी' जो रामपुर के नवाब कल्बे अली ख़ाँ के समय के दरबारी कवि थे (६) 'क़लक़' मेरठी और (७) आशुफ़्ता अलवरी।

'मोमिन' की मृत्यु अल्पायु में ही हो गयी। १८५१ ई० में वे अपने मकान में कुछ परिवर्तन करा रहे थे कि कोठे पर से गिर पड़े और उनका हाथ टूट गया। गिरने के रोज़ ही भविष्यवाणी की कि पाँचवें दिन या पाँचवें महीने या पाँचवें वर्ष में मर जाऊँगा। उनकी मृत्यु कोठे से गिरने के पाँचवें महीने में हुई। मरने की 'तारीख़' ख़ुद कही थी "दस्तो-बाज़ू बशिकस्त" (हाथ और बांह टूट गयी)। इस तारीख़ से १२६८ के अंक निकलते हैं और उनके मरने का हिजरी

हिसाब से यही सन् था। कहा जाता है कि मरने के बाद भी वे लोगों को स्वप्न में दिखाई देते रहे और सच्ची बातें बताते रहे, किन्तु इसे श्रद्धा और अंध-विश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

'मोमिन' की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) उर्दू कुल्लियात, जिसमें ग़ज़लों का एक दीवान, ६ मसनवियाँ, बहुत-से क़सीदे, तारीख़ें और विविध कविताएँ हैं, (२) फ़ारसी का दीवान, (३) 'इंशाए-फ़ारसी', जिसमें फ़ारसी गद्य-लेखन के नमूने थे (अब अप्राप्य है), (४) 'जाने-उरूज़', यह काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रंथ था जिसे 'तसलीम' ले गये थे, लेकिन उनके यहाँ से खो गया, (५) 'शरहे-सदीदी व नफ़ीसी'—फ़ारसी के उक्त कवियों की रचनाओं की व्याख्या, (६) 'ख़वासे-पान'—पान संबंधी पुस्तक तथा (७) कुछ और पत्र तथा लगभग डेढ़ सौ ग़ज़लें जो अलवर के पुस्तकालय में हैं।

संभवतः बहादुरशाह-कालीन दिल्ली में 'मोमिन' ही ऐसे कवि थे जिनकी शैली और जिनकी परम्परा अभी तक क़ायम है। इसका कारण स्पष्ट है। 'मोमिन' अपने अधिकतर समकालीनों की भाँति बेतरह वर्णन क्षेत्र में बाल की खाल निकालने के पक्षपाती नहीं थे। उनका वर्ण्य विषय अत्यंत सीमित है—भौतिक प्रेम से आगे की बात वे नहीं करते। लेकिन चूंकि उनका हृदय अत्यंत संवेदनशील था और चूंकि परिस्थितियों ने उन्हें प्रेम के क्षेत्र में खुलकर खेलने का मौक़ा पूरी तरह दिया, अतएव उनकी कविता में प्रभाव बहुत अधिक पैदा हो गया है। वे सूफ़ी आध्यात्मिकता का सहारा लिये बग़ैर ही ठेठ भौतिक प्रेम की बातें इतने चमत्कारपूर्ण प्रभाव के साथ करते थे कि उनके शेर अभी तक रसज्ञों के कानों में गूंजते हैं और उर्दू साहित्य में मुहावरों और कहावतों का रूप धारण कर चुके हैं। उनके शेरों में तथ्य रूप से कुछ विशेष न होते हुए भी वे दिल में चुभ जाते हैं।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्णन क्षेत्र में 'मोमिन' की रचनाएँ कुछ कमज़ोर हैं। 'मोमिन' को काव्य-शास्त्र में पूर्ण दक्षता प्राप्त थी। यह सही है कि उन्होंने ढेर सी कविताएँ नहीं की हैं, किन्तु उनका मस्तिष्क इतना ग्रहणशील था कि जो सफ़ाई अन्य कवि वर्षों की साधना के बाद ला पाते हैं, वह 'मोमिन'

ने सहज ही प्राप्त कर ली थी। उनके काव्य में न कहीं शैथिल्य है, न कहीं काव्य-नियमों का उल्लंघन। वे 'नासिख़' की तरह बाल की खाल नहीं निकालते थे, न 'ग़ालिब' की तरह विचारों और कल्पना की उड़ान में काव्योद्यान के नाज़ुक फूलों और बेलों को कुचलते चले जाते थे। किन्तु वर्णन-सौन्दर्य और भावोत्कर्ष के इन दोनों चरम बिन्दुओं के बीच उन्होंने ऐसा सम्यक् मार्ग निकाला था कि रसज्ञों को अबतक उनकी काव्य-कला की सराहना करनी पड़ती है। उनके विचारों को समझने के लिए दिमाग़ लड़ाना नहीं पड़ता, न उनके वर्णन-सौन्दर्य की बारीकियों को आतशी शीशे की मदद से देखना पड़ता है। अपनी प्रकृति-प्रदत्त प्रतिभा के बल पर उन्होंने एक ऐसी सहजता-पूर्ण वर्णन-शैली निकाली थी, जो प्रभाव से ओत-प्रोत थी और यही 'मोमिन' की स्थायी सफलता का रहस्य है। इसी कारण भौतिक प्रेम के प्रभाव-पूर्ण वर्णन में 'मोमिन' की शैली अब तक काम आती है। इस शताब्दी के पूर्वार्ध में 'हसरत' मौहानी ने इसी शैली को अपना कर ग़ज़लों में अद्वितीय सफलता प्राप्त कर ली है। नयी चेतना के प्रकाशन के माध्यम के रूप में 'मोमिन' की शैली इसी समय नहीं, आगे भी कई दशकों तक पथ-प्रदर्शन करती रहेगी।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है 'मोमिन' निस्संदेह अति अरबी फ़ारसी-युक्त भाषा का प्रयोग करते थे। रोज़मर्रा की बोल-चाल में साहित्य-सर्जन का मूल्य उस ज़माने में नहीं समझा गया था और साहित्य-निर्माताओं का सारा ध्यान सारल्य की अपेक्षा परिष्कार की ओर लगा रहता था। सामंत-वादी युग में, जब कि साहित्य और कला के दरवाज़े जनसाधारण के लिए खुले नहीं होते बल्कि अभिजात वर्गों तक ही यह रुचि सीमित रहती है तो स्वभावतः ध्यान परिष्कार की ओर अधिक होता है। फिर भी उर्दू के विकास में यह बात उल्लेखनीय है कि उस घोर सामंतवादी युग में भाषा की न सही, तो भावों की सरलता तो क़ायम ही रही। इसके कई सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं, जिन पर इस समय बहस करना निरर्थक है। 'मोमिन' ने फ़ारसी के शब्द ही नहीं, वाक्य-विन्यास का भी बहुत प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी वे फ़ारसी के प्रसिद्ध मिसरों को, जो कहावतें बन गये हैं या फ़ारसी कहावतों को ही उर्दू में अनूदित-सा कर देते हैं। यद्यपि ऐसे शेरों में अनुवाद का उखड़ापन नहीं मालूम

होता या यह भी नहीं मालूम होता कि कवि ने भाव कहीं और से लिया है (जो उनकी काव्य-प्रतिभा का अकाट्य प्रमाण है) फिर भी उर्दू में शेर पढ़नेवालों को, जब तक वे फ़ारसी के उक्त मुहावरे आदि न जानते हों, यह शेर पूरा मज़ा नहीं दे पाते, बल्कि बहुत मामूली और भरती के शेर मालूम होते हैं। तात्पर्य यह कि उनके शेरों का पूरा आनन्द लेने के लिए फ़ारसी का भी अच्छा ज्ञान आवश्यक है।

फिर भी 'मोमिन' स्वाभाविक कवि थे। कभी-कभी काव्य-प्रवाह में वे सीधे और साफ़ शेर इतने प्रभावपूर्ण ढंग से कह देते थे, जिनकी सादगी दिल में खुपी जाती है। उदाहरणार्थ--

तुम हमारे किसी तरह न हुए
वरना दुनिया में क्या नहीं होता

'मोमिन' की मसनवियाँ अपने ढंग की अनोखी हैं। ज़बान की सफ़ाई और सरलता तो उनमें कूट-कूट कर भरी है, किन्तु विषय में उच्चता जैसी कोई चीज़ नहीं है जिसके बल पर मसनवी मसनवी होती है। इनकी तुलना 'मीर' 'हसन' या 'शौक़' की भी मसनवियों से करना बेकार है। विषय निरंतर एक ही रहता है—विरह-काल में प्रिय-मिलन के क्षणों को याद करके रोना। यह सही है कि अनुभूति की तीव्रता और वर्णन के प्रभावशाली होने ने इन मसनवियों की लाज बचा ली है।' 'मोमिन' अपने प्रिय-मिलन के क्षणों का वर्णन करने में इतने डूब जाते हैं कि अश्लीलता की सीमा के अंदर भी जा पड़ते हैं। एक मसनवी में तो उन्होंने रतिक्रिया का भी सजीव और विस्तृत वर्णन कर डाला है। लैंगिक नैतिकता की दृष्टि से इन मसनवियों पर ज़रूर आपत्ति की जा सकती है, लेकिन शुद्ध कलात्मक दृष्टि से देखने पर ऐसे वर्णन भी अत्यंत उत्कृष्ट दिखाई देते हैं और उनमें खजुराहो के मंदिरों की कला के दर्शन होते हैं।

'मोमिन' ने क़सीदे भी लिखे हैं, किन्तु वे विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं। सांसारिक व्यक्तियों की प्रशंसा में—जैसा कि पहले कहा जा चुका है—उन्होंने दो ही क़सीदे लिखे हैं, शेष धार्मिक महापुरुषों की प्रशंसा में हैं। उनके क़सीदों में

काव्य-नियमों का पूरा पालन है, किन्तु उनमें प्राणों की कमी मालूम होती है और वे 'सौदा' ही नहीं 'ज़ौक़' के क़सीदों से भी काफ़ी नीचे हैं।

'मोमिन' के कुछ शेर उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं—

असर उसको ज़रा नहीं होता
रंज राहत फ़ज़ा नहीं होता
उसने क्या जाने क्या किया लेकर
दिल किसी काम का नहीं होता
तुम मेरे पास होते हो गोया
जब कोई दूसरा नहीं होता
क्यों सुने अर्ज़े-मुज़तरिब 'मोमिन'
सनम आख़िर ख़ुदा नहीं होता

ये उज़्रे इम्तहाने-जज़्बे-दिल कैसा निकल आया
मैं इल्ज़ाम उसको देता था क़सूर अपना निकल आया

आँखों से हया टपके है अन्दाज़ तो देखो
है बुल्हविसों पर भी सितम, नाज़ तो देखो
उस ग़ैरते-नाहीद की हर तान है दीपक
शोला सा लपक जाये है आवाज़ तो देखो
जन्नत में भी 'मोमिन' न मिला हाय बुतों से
जौरे अजले तफ़रिक़ - परवाज़ तो देखो

हम समझते हैं आज़माने को
उज़्र कुछ चाहिए सताने को
कोई दिन हम जहाँ में बैठे हैं
आसमां के सितम उठाने को

वो जो हममें तुममें क़रार था तुम्हें याद हो कि न याद हो
वही यानी वादा निबाह का तुम्हें याद हो कि न याद हो

वो जो लुत्फ़ मुझ पे थे पेश्तर वो करम जो था मेरे हाल पर
मुझे सब है याद जरा जरा तुम्हें याद हो कि न याद हो
कोई बात ऐसी अगर हुई कि तुम्हारे जी को बुरी लगी
तो बयां से पहले ही भूलना तुम्हें याद हो कि न याद हो

तू कहाँ जायेगी कुछ अपना ठिकाना कर ले
हम तो कल ख़्वाबे-अदम में शबे-हिजरां होंगे
मिन्नते - हज़रते ईसा न उठायेंगे कभी
ज़िन्दगी के लिए शरमिन्दए-अहसां होंगे ?
उम्र तो सारी कटी इश्क़े-बुतां में 'मोमिन'
आख़िरी वक़्त में क्या ख़ाक मुसलमां होंगे

शेख़ इब्राहीम 'ज़ौक़'—'ग़ालिब' 'मोमिन' और 'ज़ौक़' उन्नीसवीं शताब्दी की मध्यकालीन दिल्ली की कविता की बागडोर सँभाले हुए हैं। कुछ लोग इन लोगों को एक दूसरे का प्रतिद्वंद्वी समझते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि समकालीन होते हुए भी यह तीनों उस्ताद अपने अलग-अलग रंगों में बेजोड़ हैं। उनकी प्रतिद्वंद्विता का या उनकी एक दूसरे से तुलना करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हमें इन तीनों महाकवियों को एक दूसरे से बिलकुल अलग करके देखना होगा।

'ज़ौक़' १२०४ हि० (१७८९ ई०) में दिल्ली के एक ग़रीब सिपाही शैख़ रमज़ान के एकमात्र पुत्र थे। बचपन में मुहल्ले के एक अध्यापक हाफ़िज़ ग़ुलाम रसूल से शिक्षा प्राप्त करते थे। हाफ़िज़ जी स्वयं भी कवि थे और मियाँ इब्राहीम के सहपाठी मीर काज़िमहुसैन 'बेक़रार' भी बचपन से कविता करते थे। इसी संसर्ग से मियाँ इब्राहीम भी कविता करने लगे। मीर काज़िम हुसैन एक सम्पन्न परिवार के लड़के थे और कुछ दिनों बाद अपने युग के प्रख्यात कवि शाह 'नसीर' से संशोधन कराने लगे। 'ज़ौक़' को भी उन्होंने शाह साहब का शागिर्द बनवा दिया और कुछ ही वर्षों में 'ज़ौक़' की प्रतिभा का प्रस्फुटन होने लगा।

लेकिन संभवतः शाह 'नसीर' को अपने नये शिष्य में अपना प्रतिद्वंद्वी दिखाई दिया। वे इनको हतोत्साह करने लगे। एक ग़ज़ल पर—जो इन्होंने 'सौदा'

की बड़ी मुश्किल 'ज़मीन' पर बड़ी मेहनत से लिखी थी——इन्हें उत्साहित करने की बजाय फटकार दिया। इन्हें बड़ा रंज हुआ, लेकिन एक बुज़ुर्ग मीर कल्लू 'हक़ीर' के प्रोत्साहन पर उन्होंने बग़ैर संशोधन के वही ग़ज़ल मुशायरे में पढ़ी और प्रशंसा प्राप्त की। इसके बाद उस्ताद से इनका सम्बन्ध टूट गया। बल्कि जब शाह 'नसीर' हैदराबाद से लौट कर फिर मुशायरे करवाने लगे तो 'ज़ौक़' उनमें प्रतिद्वंद्वी की हैसियत से जाने लगे और अपना लोहा मनवा लिया।

उस्ताद से आज़ाद हुए तो सोचा कि शहर में होनेवाली नामवरी को शाही क़िले में भी पहुँचाया जाय। लेकिन यह ठहरे ग़रीब सिपाही के बेटे, बग़ैर किसी की मध्यस्थता के क़िले में कैसे जा पाते? यहाँ भी उनके पुराने सहपाठी मीर काज़िम हुसैन 'बेक़रार' ने सहायता की और इन्हें क़िले में पहुँचा दिया।

तत्कालीन सम्राट् अकबर शाह यद्यपि 'शुआ' तख़ल्लुस करते थे और कुछ कविता भी कर लेते थे तथापि उन्हें इस क्षेत्र में अधिक रुचि नहीं थी। युवराज मिर्ज़ा अबू ज़फर (जो बाद में बहादुरशाह द्वितीय के नाम से सम्राट् हुए) कविता के पीछे पागल थे, उन्हीं के पास 'ज़ौक़' को पहुँचा दिया गया। 'ज़फ़र' पहले शाह 'नसीर' से संशोधन कराते थे। 'नसीर' हैदराबाद चले गये तो कुछ दिन मिर्ज़ा काज़िम हुसैन 'बेक़रार' से संशोधन कराने लगे। फिर 'बेक़रार' भी मि० एल्फिंस्टन के मीर-मुंशी होकर पश्चिम की ओर चले गये तो 'ज़फ़र' ने नवयुवक 'ज़ौक़' को उस्ताद बना लिया और चार रुपया महीना वेतन नियत कर दिया।

इस अल्प वेतन का कारण एक तो यह था कि 'ज़फ़र' को बादशाह राज्याधिकार से च्युत करना चाहते थे और उनके लिए नियत ५००० रुपये की बजाय उन्हें ५०० रुपया प्रतिमास ही ख़र्च मिलता था, और दूसरी बात यह थी कि युवराज के मुख़्तारे-आम मिर्ज़ा मुग़ल बेग थे, जो निरक्षर-प्राय लेकिन ज़बर्दस्त तिकड़मी थे। युवराज की जिस पर कृपा होती थी, उसे यह दूर हटाने का प्रयत्न करते। 'ज़ौक़' का वेतन चार रुपये प्रति मास से आरंभ हुआ और दो बार वेतन-वृद्धि हुई तो पहली बार पाँच रुपये और दूसरी बार सात रुपये प्रतिमास वेतन हो गया। 'ज़ौक़' के पिता ने उन्हें इस वेतन पर नौकरी करने से मना भी किया, किन्तु उन्होंने युवराज का साथ छोड़ना पसंद न किया।

युवराज की उस्तादी के साथ ही 'ज़ौक़' दिल्ली के प्रमुख रईस और मिर्ज़ा 'ग़ालिब' के ससुर नवाब इलाही बख़्श के पास भी पहुँचा दिये गये। नवाब इलाही बख़्श बड़े दानशील और परिमार्जित रुचि के रईस थे, शाह 'नसीर' के शागिर्द थे और हर रंग में कविता करते थे। शाह 'नसीर' चले गये तो उनकी जगह 'ज़ौक़' को दे दी। कभी-कभी उस्ताद को भेंट-स्वरूप कुछ देते रहते थे।

'ज़ौक़' अपने इन दोनों शागिर्दों से उम्र में ही नहीं, रुत्बे में भी बहुत कम थे। ख़ानदानी ग़रीबी ने पढ़ने भी बहुत न दिया था। इसीलिए यह अपनी उस्तादी की लाज बचाने के लिए ख़ुद ही काव्य-कला की कठोर साधना करने लगे और अपनी जन्मजात प्रतिभा के बल पर शीघ्र ही इस कला में निपुण हो गये। विशेषतः नवाब इलाही बख़्श ख़ाँ की उस्तादी ने इन्हें हर रंग का उस्ताद बना दिया।

काव्य-साधना के अलावा 'ज़ौक़' को विद्याध्ययन का भी शौक़ था और इसकी कमी उन्हें बराबर खटकती रहती थी। इनके एक पुराने गुरु मौलवी अब्दुर्रज्ज़ाक़ अवध के नवाब के मुख़्तार राजा साहबराय के पुत्र को समस्त प्रचलित विद्याएँ सिखाते थे। एक दिन मौलवी साहब के साथ 'ज़ौक़' भी चले गये तो राजा साहब इनकी रुचि और प्रतिभा देख कर बड़े प्रसन्न हुए और अपने पुत्र के साथ ही इनकी पूर्ण शिक्षा का भी प्रबंध कर दिया। इस प्रकार इस निस्स्वार्थ सहायक ने उनके जीवन की एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति कर दी। लेकिन असली सहायक तो इनकी जन्मजात प्रतिभा थी। कविता अध्ययन का यह हाल था कि पुराने उर्दू तथा फ़ारसी के उस्तादों के साढ़े तीन सौ दीवानों को छान कर उनके उत्कृष्ट शेरों का संकलन तय्यार किया। स्मरण-शक्ति इतनी तेज़ थी कि अपने प्रत्येक कथन की पुष्टि में उस्तादों के शेर पढ़ा करते थे। तफ़सीर (क़ुरान की व्याख्या) में—विशेषतः सूफी दर्शन में—वे पारंगत थे; रमल और ज्योतिष में भी उनकी अच्छी पैठ थी, इतिहास, तर्कशास्त्र (मंतिक़) और गणित में वे पटु थे, संगीत की उन्हें अच्छी जानकारी थी—संक्षेप में उनका अध्ययन गहरा और सर्वतोमुखी था। उनके क़सीदों आदि में विभिन्न विद्याओं के जितने पारिभाषिक शब्द आते हैं, उतने किसी कवि के यहाँ

नहीं हैं। इसीलिए उन्हें 'ख़ाक़ानी-ए-हिन्द' की उपाधि मिली, क्योंकि फ़ारसी के प्राचीन कवि ख़ाक़ानी की विशेषता भी यही थी कि वह क़सीदों में बहुत पाण्डित्य-प्रदर्शन करता था। तारीफ़ की बात यह है कि 'ज़ौक़' को यह सम्मान १९ वर्ष की अल्पावस्था में ही मिल गया था।

जवानी में ज़ौक़ ने रंगरलियाँ भी कीं, किन्तु ३६ वर्ष की अवस्था में उन्होंने समस्त पापों से तौबा कर ली और इसकी 'तारीख़' कही "ऐ ज़ौक़' बिगो सेह बार तौबा" (ऐ 'ज़ौक़' तीन बार तौबा कह)।

१८३८ ई० में बहादुरशाह बादशाह हुए तो मिर्ज़ा मुग़लबेग मन्त्री हो गये। अपना तो पूरा कुनबा क़िले में भर लिया, लेकिन उस्ताद की तनख्वाह सात रुपये पर बढ़ी तो तीस रुपये महीना हो गयी। 'ज़ौक़' इस अपमान को भी पी गये, बादशाह से कुछ न कहा। हैदराबाद से दीवान चन्दू लाल के बुलाने पर भी उन्होंने 'ज़फ़र' का दामन न छोड़ा। अंत में मिर्ज़ा मुग़ल बेग के षड़यन्त्रों का भण्डा फूटा और वे अपने कुनबे सहित निकाले गये तो 'ज़ौक़' का वेतन सौ रुपया महीना हो गया। १८५१ ई० में बादशाह के बीमारी से उठने पर क़सीदा कहा तो एक हाथी चाँदी के हौदे के साथ और ख़ान बहादुरी की उपाधि पायी। फिर एक क़सीदा पेश किया तो जागीर में एक गाँव दिया गया। इस प्रकार उनके अंतिम कुछ वर्ष सुखपूर्वक बीते।

अंत में १२७१ हि० (१८५४ ई०) में सत्रह दिन की बीमारी के बाद 'ज़ौक़' का देहावसान हो गया। मरने के तीन घंटे पहले यह शेर कहा था—

कहते हैं 'ज़ौक़' आज यहाँ से गुज़र गया
क्या ख़ूब आदमी था ख़ुदा मग़फ़रत करे

और इसमें संदेह नहीं कि 'ज़ौक़' ख़ूब आदमी थे। संतोष, सौहार्द, प्रेम, दया और सहिष्णुता के उच्च मानवीय गुण उनमें कूट-कूट कर भरे थे। 'ज़ौक़' के अलावा और कोई ऐसा संतोषी उर्दू कवि नहीं दिखाई देता, जो इतने कम वेतन पर दिल्ली के क़िले की नौकरी करता रहे और बुलावे आने पर भी हैदराबाद न जाय। उनका जीवन-वृत्त इस बात का साक्षी है कि सारी ज़िन्दगी उन्होंने

आर्थिक कठिनाइयों में गुज़ार दी, लेकिन कभी—अपने एक आध अंतरंग मित्रों या बुज़ुर्गों को छोड़कर—अपने आश्रयदाता की बुराई नहीं की। बहादुरशाह से उनका केवल नौकर-मालिक का ही सम्बन्ध न था, वे बादशाह को दिल से चाहते थे। नमाज़ के बाद उसकी सलामती के लिए दुआ ज़रूर मांगा करते थे। वैसे भी उनकी सहानुभूति का क्षेत्र बड़ा विस्तृत था, दुआ करते समय एक भंगी के बीमार बैल का ध्यान आ गया तो उसे भी निरोग करने के लिए भगवान् से प्रार्थना की। दया का यह हाल था कि सारी आयु भर में एक चिड़िया तक का अपने हाथ से वध नहीं किया, सांप तक को मारने में दया आ जाती थी।

शारीरिक सौन्दर्य के नाम पर 'ज़ौक़' में कुछ भी न था। ठिगना क़द, दुबला बदन, साँवली रंगत, चेहरे का नक्शा खड़ा-खड़ा और चेहरे पर चेचक के गहरे-गहरे निशान—लेकिन आँखों में प्रतिभा की चमक और चेहरे पर मानसिक तथा आत्मिक श्रेष्ठता का तेज था, जो कि उनके चेहरे को कुरूप नहीं लगने देता था। बदन में फुर्ती थी और आवाज़ में गूँज और सुरीलापन, जिसके कारण मुशायरों में ग़ज़लों का प्रभाव और अधिक पड़ता था। कपड़े अक्सर सफ़ेद पहनते थे।

'ज़ौक़' को रात-दिन कविता के अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता था। उनका मकान बहुत ही छोटा था, उसे बदलने की कोई ज़रूरत नहीं समझी। छोटे-से आंगन में खुर्री चारपाई पर बैठे रहते थे, हुक़्क़ा मुँह से लगा रहता था, लिखते जाते थे या कुछ पढ़ते रहते थे। और कोई दिलचस्पी नहीं थी।

धर्म के बड़े पक्के थे। शारीरिक अस्वास्थ्य के कारण रोज़े नहीं रख पाते थे, लेकिन नमाज़ पाँचों समय पढ़ा करते थे। फिर भी धार्मिक कट्टरता-जैसी कोई चीज़ उनके अंदर नहीं थी।

संतान में केवल एक पुत्र था, जिनका नाम ख़लीफ़ा मुहम्मद इस्माईल था। 'ज़ौक़' के मरने के तीन वर्ष बाद ग़दर में उनकी भी मृत्यु हो गयी। अब उनके वंशजों में कोई नहीं है।

'ज़ौक़' का काव्य—पहले ही कहा जा चुका है कि 'ज़ौक़' के समकालीन कवियों 'ग़ालिब' और 'मोमिन' से उनकी तुलना नहीं की जा सकती। 'ग़ालिब' ने तो अनुभूति और कल्पना को चरम बिन्दु पर पहुँचाकर ऐसी शैली स्थापित की,

जिसका अनुसरण उनकी होड़ में 'यगाना' चंगेज़ी ने तो थोड़ा-बहुत किया भी, लेकिन और किसी के लिए संभव भी नहीं हुआ। 'मोमिन' की वर्णन-शैली की परम्परा अब तक चली आती है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि वे अपनी शैली के आविष्कारक थे। संक्षेप में 'ग़ालिब' और 'मोमिन' की संवेदना के पीछे कोई परम्परा नहीं है।

इसके विपरीत 'ज़ौक़' की संवेदना का आधार परम्परागत था। उन्होंने शायद अनजाने ही कविता को शिल्प (Craft) के रूप में ग्रहण किया, कला (Art) के रूप में नहीं। इसीलिए उनके यहाँ पर परम्परा के ग्रहण और उसके विकास के तत्त्व अन्य समकालीनों से अधिक मिलते हैं। शायद इसीलिए उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी, बल्कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशकों में भी जो सम्मान प्राप्त था, वह अब कुछ कम हो गया है क्योंकि साहित्यिक मूल्य पहले से बदल गये हैं।

'ज़ौक़' मुख्यतः आकारवादी कवि हैं। उनके यहाँ इसका महत्त्व कम है कि क्या कहा जाता है और वह संवेदना को किस प्रकार आलोड़ित करता है, इसका महत्त्व अधिक है कि वर्णन-सौन्दर्य कितना है और सौन्दर्यबोध की तुष्टि किस सीमा तक होती है। इसीलिए 'ज़ौक़' के काव्य में शब्दों के चयन, मुहावरों के प्रयोग और मुश्किल रदीफ़ क़ाफ़ियों में प्रवाहमान कविता करने की कला पूरी तरह उभर कर आयी है और इसी क्षेत्र में नूतनता और मौलिकता के प्रदर्शन का आग्रह मिलता है। 'ज़ौक़' ने अपने पूर्ववर्ती सभी उस्तादों—'मीर', 'सौदा', 'जुरअत' आदि—के रंग में शेर कहे और बड़ी सफलता के साथ कहे। फिर भी नयी-नयी तराश-ख़राश के शब्दों और वाक्य-विन्यासों के आधार पर वर्णन-सौंदर्य पैदा करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति के आधार पर उन्हें 'सौदा' का अनुयायी कहना अधिक उचित है। क़सीदों में भी वे 'सौदा' का अनुसरण करते हैं और निस्संदेह 'सौदा' के बाद क़सीदे के क्षेत्र में 'ज़ौक़' से बड़ा कोई कवि नहीं हुआ।

फिर भी यह ग़लतफ़हमी न होनी चाहिए कि वे शाब्दिक खिलवाड़ में विश्वास करते थे। बात में बात पैदा करने और बाल की खाल निकालने की 'नासिख़' जैसी प्रवृत्ति 'ज़ौक़' के यहाँ कहीं नहीं दिखाई देती। कुछ पत्थर तोड़

रदीफ़ क़ाफ़ियों की ग़ज़लों को छोड़कर 'ज़ौक़' के सारे काव्य में उनकी आकारवादी प्रवृत्ति के बावजूद एक तरह की सादगी है। वे मामूली बातें कहते हैं, लेकिन अक्सर कुछ ऐसी सादगी के साथ कहते हैं कि हृदय पर उनका प्रभाव पड़ता ही है। भाषा में उनके यहाँ फ़ारसीपन आज की दृष्टि से भी अधिक नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में तो ऐसी सुगम और सुबोध भाषा का प्रयोग निस्संदेह कला का चमत्कार कहा जाना चाहिए। इसका बहुत कुछ श्रेय 'ज़फ़र' को मिलना चाहिए जो सरल और प्रभावशाली शब्दावली और वाक्यावली में विश्वास करते थे और स्वयं भी इन्हीं का प्रयोग करते थे।

'ज़ौक़' आर्थिक रूप से चाहे कष्ट में रहे हों, लेकिन अन्य दृष्टियों से भाग्यशाली थे। निर्धन कुल में जन्म लेकर उन्होंने उच्चतम समाज में भी अपने लिए सम्मान ही प्राप्त किया। नौजवानी से ही ख़्याति उनके पाँव चूमने लगी थी और मृत्यु ने भी उनके साथ अहसान किया कि उनके आश्रयदाता 'जफ़र' के, जिनसे उन्हें दिली लगाव था, दुर्दिन आने के पूर्व ही उनकी आँखें बंद हो गयीं। उनका नाम अमर करने के लिए उनके शागिर्द भी ऐसे हुए जो काव्य-गगन के तारे बनकर चमके। इनमें सबसे पहले स्वयं 'ज़फ़र' का नाम आता है। नवाब मिर्ज़ा ख़ाँ 'दाग़' महाकवि के रूप में और मौलना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' कवि, आलोचक और साहित्य में नवीन-युग के प्रवर्तक के रूप में ख्याति पा चुके हैं। अन्य शागिर्दों में सय्यद ज़हीरुद्दीन 'ज़हीर' (जिनके चार दीवान हैं, तीन प्रकाशित और एक अप्रकाशित) और उनके छोटे भाई सय्यद शुजाउद्दीन 'अनवर' भी काफ़ी प्रसिद्ध हो गये हैं।

दुर्भाग्यवश 'ज़ौक़' की लगभग सभी रचनाएँ ग़दर में नष्ट हो गयीं। कुछ ग़ज़लें और क़सीदे मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने बचा लिये, कुछ ग़ज़लें 'ज़ौक़' के अंधे शिष्य हाफ़िज़ वीरान को याद थीं। उन्हीं को जमा करके अब कुल एक दीवान मिलता है, जिसमें १६७ ग़ज़लें, २४ क़सीदे और फुटकर कविताएँ हैं। 'आज़ाद' के कथनानुसार 'ज़ौक़' की एक अपूर्ण मसनवी भी थी, जिसमें ५०० शेर हो चुके थे। ग़दर में अन्य काव्य के साथ यह मसनवी भी लुट-पुट गयी।

'ज़ौक़' के कलाम का नमूना निम्नलिखित शेरों में मिलता है—

उसे हमने बहुत ढूँढ़ा, न पाया
अगर पाया तो खोज अपना न पाया
जिस इंसां को सगे-दुनिया न पाया
फ़रिश्ता उसका हम पाया न पाया
चिराग़े-दाग़ लेकर दिल में ढूँढ़ा
निशां पर सब्रो-ताक़त का न पाया
नज़ीर उसका कहाँ आलम में ऐ 'ज़ौक़'
कहीं ऐसा न पायेगा न पाया

जीते ही जी क्या मुल्के-फ़ना में साथ बशर के झगड़े हैं
मर के इधर से जब कि छुटे तो जाके उधर के झगड़े हैं
कैसा मोमिन, कैसा काफ़िर, कौन है सूफ़ी, क्या है रिन्द
सारे बशर हैं बन्दे हक़ के सारे शर के झगड़े हैं
ग़म कहता है दिल में रहूँ मैं जल्वए-जानां कहता है मैं
किसको निकालूँ किसको रक्खूँ यह तो घर के झगड़े हैं
'ज़ौक़' मुरत्तिब क्योंकि हो दीवां शिकवए-फ़ुरसत किससे करें
बांधे गले में हमने अपने आप 'ज़फ़र' के झगड़े हैं

अब तो घबरा के ये कहते हैं कि मर जायेंगे
मर गये पर न लगा जी तो किधर जायेंगे
आग दोज़ख़ की भी हो जायेगी पानी पानी
जब ये आसी अरक़े-शर्म से तर जायेंगे
'ज़ौक़' जो मदरसे के बिगड़े हुए हैं मुल्ला
उनको मैख़ाने में ले आओ, संवर जायेंगे

लायी हयात आये क़ज़ा ले चली चले
अपनी ख़ुशी न आये न अपनी ख़ुशी चले
दुनिया ने किसका राहे-फ़ना में दिया है साथ
तुम भी चले चलो यूँही जब तक चली चले

बहादुर शाह 'ज़फ़र'—बादशाहों का काम मुख्यतः राज्य-संचालन होता है। चूँकि वह अपने पूरे समाज के उच्चतम मूल्यों का प्रतिनिधि होता है, इसलिए उसमें राजनीतिज्ञ की दूरदर्शिता और सेनानायक का शौर्य होने के साथ ही यदि कलाकार की दृष्टि भी हो तो सोने में सुहागा हो जाता है। किन्तु ऐसे पूर्ण-गुण-सम्पन्न नरेश तो समस्त मानव इतिहास के पन्नों में दो-चार ही मिलते हैं—जैसे शार्लमान और अकबर—और इसीलिए उन्हें महान् कहा जाता है। किन्तु यदि किसी राजा में एक ही गुण हो तो सब से पहले राजनीतिज्ञता आवश्यक है। जो बादशाह कोरा कलाकार हो—चाहे वह 'ज़फ़र' की भाँति सूफ़ीवाद से प्रभावित करुणात्मक काव्य-रचना करे या वाजिद अली शाह की भाँति विला-सोन्मुख हो—राज्य-संचालन के अयोग्य हो जाता है और उसके समय में राज्य-शक्ति का अंत तक हो सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में दिल्ली और लखनऊ दोनों राज्यों के कर्णधार कला-साधना के इतने पीछे पड़ गये थे कि अपने राज्यों की पहले से गिरती हुई दशा को बिलकुल न सँभाल सके।

किन्तु यहाँ हमें राजनीति से अधिक लेना-देना नहीं है। देखना केवल यह है कि बहादुरशाह 'ज़फर' का साहित्य में क्या स्थान है। इस दृष्टि से देखने पर 'ज़फ़र' सफल,कवि के रूप में दिखाई देते हैं।

'ज़फ़र' का जन्म २४ अक्तूबर १७७५ ई० में अपने पितामह शाहआलम द्वितीय के शासनकाल में हुआ। दिल्ली का साम्राज्य नादिरशाह और अहमद शाह अब्दाली के आक्रमणों तथा मराठों की ज़बर्दस्ती और सिखों की लूटपाट के कारण काफ़ी अशक्त हो गया था, चुनाँचे शाह आलम भी अपनी भौतिक पराजयों को आत्मिक आनंद में भुलाना चाहते थे और कविता करने लगे थे। उनका तख़ल्लुस 'आफताब' था। क़िले में भी ज़ोरों से शेर-शायरी का चरचा रहता था। मिर्ज़ा अबूज़फ़र को भी ('ज़फ़र' का असली नाम यही था, बहादुर शाह तो उन्होंने सम्राट् बनने पर अपना नाम रखा) बचपन से ही शायरी का चस्का लग गया था। इसके अतिरिक्त शाहज़ादों के योग्य अन्य शिक्षाएँ—धर्म, इतिहास, अरबी, फ़ारसी, सुलेख, घुड़सवारी, शस्त्रास्त्र-चालन आदि—पूरी तरह मिलीं। 'घुड़सवारी' में तो मिर्ज़ा अबूज़फ़र अपने ज़माने के भारत के 'ढाई सवारों' में गिने जाते थे। इसके अलावा शाही जीवन की रंगरलियों और

कबूतरबाज़ी, मुर्ग़बाज़ी आदि मनोरंजन के साधनों आदि में भी वे लगे रहते थे। साथ ही वे सूफ़ी संत फ़ख़रुद्दीन चिश्ती तथा उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र क़ुत्बुद्दीन के भी मुरीद रहे और सांसारिक लाभ के अतिरिक्त आध्यात्मिक लाभ भी किया।

लेकिन मिर्ज़ा अबूज़फ़र ने बचपन में ही अपने राज्य-परिवार की शक्ति-हीनता और दुर्दिनों को भी अपनी आँखों से देखा। शाह आलम माधव जी सिंधिया पर आश्रित था। १७८० ई० में जब सिंधिया राजपूतों से भिड़ा हुआ था, ज़ाब्ता ख़ाँ के लड़के ग़ुलाम क़ादिर रुहेला ने दिल्ली पर कब्ज़ा कर लिया। उसने राज-परिवार पर तरह-तरह के ज़ुल्म ढाये, यहाँ तक कि बूढ़े शाह आलम को दरबार में ही पटक कर उसकी आँखें निकाल लीं। चार दिन बाद माधव जी सिंधिया ने आकर ग़ुलाम क़ादिर को हराया, उसे यातनाएँ दे-देकर मार डाला और शाह आलम को फिर गद्दी पर बिठा दिया। किन्तु अब शासन-प्रबंध मरहठों ने अपने अधिकार में कर लिया और बादशाह के लिए नौ लाख रुपया वार्षिक वज़ीफ़ा नियत कर दिया। इस प्रकार शाह आलम नाम मात्र को सम्राट् रह गये।

इस प्रकार आरंभ में ही 'ज़फ़र' के चारों ओर परवशता का ही वातावरण रहा। लेकिन उन्हें आगे भी बहुत कुछ देखना था। १८०३ ई० में जनरल ऑक्टरलोनी ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और दिल्ली के वास्तविक शासक मरहठों की बजाय अँगरेज़ हो गये। दिल्ली में कम्पनी का हुक्म भी चलने लगा। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि मरहठों की बजाय अँगरेज़ों की आधीनता में राज-परिवार अधिक सुखी रहा।

१८०६ ई० में 'ज़फ़र' के पिता अकबर शाह द्वितीय गद्दी पर बैठे। यह भी कविता करते थे किन्तु अपने नामचार के ही राज्याधिकार पर अधिक ध्यान देते थे। कुछ-कुछ पुरानी प्रतिष्ठा क़ायम करने का इन्होंने प्रयत्न किया, किन्तु अँगरेज़ों के फ़ौलादी पंजों के आगे इनकी एक न चली। कुछ न हुआ तो परिवार में ही गड़बड़ी पैदा करने लगे। गद्दी का अधिकार अबूज़फ़र का था, किन्तु अपनी बेगम मुमताज़ महल के कहने में आकर अकबर शाह ने मुमताज़ महल के पुत्र मिर्ज़ा जहाँगीर को उत्तराधिकारी घोषित कर दिया और अबू-

ज़फ़र के लिए कह दिया कि यह मेरा पुत्र ही नहीं है। इसका मुक़दमा भी चला। जहाँगीर को दिल्ली स्थित रेज़ीडेंट मि० अस्डीन पर गोली चलाने पर नज़रबन्द करके इलाहाबाद भेज दिया गया, जहाँ बहुत शराब पीने के कारण १८२१ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। इस प्रकार अबूज़फ़र का उत्तराधिकार सुरक्षित हो गया।

३० दिसम्बर १८३७ ई० को अकबर शाह की मृत्यु होने पर अबूज़फ़र गद्दी पर बैठे और बहादुर शाह द्वितीय के नाम से प्रसिद्ध हुए। लेकिन इनके ज़माने में कम्पनी ने धीरे-धीरे रहे बचे अधिकार भी लेन शुरू कर दिये। बादशाह के बारह-तेरह शहज़ादों में उन्होंने फूट डलवायी और वे एक दूसरे की जान लेने पर उतारू हो गये। मिर्ज़ा मुग़ल नामक एक कुटिल व्यक्ति बादशाह का मन्त्री था, उसने भी अँगरेज़ों से मिलकर बादशाह को बहुत हानि पहुँचायी। ग़दर के पहले ही एक एक करके बादशाह के चार शहजादे शाहरुख, बलाक़ी, दारा-बख़्त, मिर्ज़ा फ़ख़रू जवानी में ही मर गये थे। अँगरेज़ों ने मिर्जा क्वेश से और भी कड़ी शर्तें लिखवाकर उसे युवराज घोषित कर दिया। अँगरेज़ अधिकारियों के पत्रों में भी उनके लिए राज्याधिकार सूचक सम्बोधन का प्रयोग बंद हो गया। बहादुर शाह विवश होकर सब देखते रहे और सहते रहे।

१८५७ का विद्रोह—इस विद्रोह की घटनाएँ सर्वविदित हैं। दो शहजादों—मिर्ज़ा मुग़ल और मिर्ज़ा ख़िज़र सुल्तान ने विद्रोहियों का साथ दिया। विद्रोहियों ने अँगरेजी रेज़ीडेण्ट मि० फ्रेज़र तथा अन्य अधिकारियों को क़िले के बाहर मार डाला। बहादुर शाह के नाम वे फ़रमान और हुक्म जारी होने लगे। किन्तु यह समझना भूल है कि बहादुर शाह ने अपनी इच्छा से विद्रोहियों का नेतृत्व किया। वास्तव में वे विद्रोहियों के वश में भी इसी प्रकार हो गये थे जैसे कि पहले अँगरेज़ों के वश में थे। अंत में अँगरेज़ों की जीत हुई। मिर्ज़ा मुग़ल और मिर्ज़ा ख़िज़र सुल्तान को दिल्ली दरवाज़े के पास गोली मार दी गयी और उनके सिर काट कर बादशाह के पास भेज दिये गये। ख़ुद बादशाह को भी मक़बरा हुमायूँ से, जहाँ वे अपने परिवार के साथ छुपे थे, गिरफ़्तार कर लिया। अंत में उन पर मुक़दमा चला और उन्हें निर्वासन का दंड दिया गया। बेगम ज़ीनत महल, शहज़ादा जवांबख़्त और अन्य १४

शहज़ादों और बेगमों के साथ बादशाह को रंगून भेजकर नज़रबंद कर दिया गया, जहाँ ७ नवम्बर १८६२ ई० को उनका देहावसान हो गया।

बहादुर शाह के सारे जीवन-वृत्त को देखने से मालूम होता है कि उनमें राजोचित गुण न थे। उन्होंने सारे जीवन अपने सहायकों को संगठित करके अधिकार-प्राप्ति के लिए अपनी अक्षमता प्रदर्शित की। राज्याधिकार के लिए भी वे पूर्णतः अँगरेज़ों पर आश्रित रहे और यदि मिर्ज़ा जहाँगीर असमय ही काल-कवलित न हो जाते तो उम्र में बड़े होने पर भी 'ज़फ़र' को गद्दी मिलती या नहीं इसमें संदेह है। आदमियों की परख़ उनमें नहीं थी। मिर्ज़ा मुग़ल ने उनके युवराज्य काल से ही उन पर जादू सा फेर दिया था और उन्हें यह भी पता न चला कि मिर्ज़ा मुग़ल उनके प्रिय मित्रों, यहाँ तक कि उस्ताद 'ज़ौक़' के साथ भी कैसा व्यवहार करते हैं। ग़दर हुआ तो विवशतः विद्रोहियों के साथ भी हो लिये, किन्तु उन्हें भी कोई नेतृत्व न दे सके बल्कि उनके कारनामों पर कुढ़ते ही रहे। शहज़ादों ने उनके सामने ही एक दूसरे के विरुद्ध षड़यन्त्र आरंभ कर दिये थे किन्तु उन्हें हालत सँभालते ही न बनी।

इन राजोचित गुणों के अभाव ने उन्हें राज्यच्युत कर दिया, किन्तु इस अभाव की पूर्ति उनके मानवीय गुणों ने की, जिनके आधार पर उनकी कला-चेतना ने ऐसा मोड़ लिया कि वे साहित्य-संसार में अमर हो गये। १८५७ के विद्रोह के सिलसिले में उनका नाम इतिहास में जैसा अमर है, साहित्य के इतिहास में करुणरस से ओतप्रोत उनके चार दीवान भी उन्हें वैसा ही अमरत्व प्रदान करते हैं। उनके काव्य की समीक्षा के पूर्व उनकी चेतना के आधार उनकी मानसिक अवस्था और संस्कारगत रुचि पर एक नज़र डाल लेनी चाहिए।

'ज़फ़र' के स्वभाव में परवश राजवैभव, विलास-प्रियता और सूफ़ियों के आध्यात्मिक प्रभाव का सम्मिश्रण मिलता है। इसलिए उनके स्वभाव में कर्मक्षेत्र में बढ़ने की प्रेरणा तो नहीं है, किन्तु उनका सौंदर्यबोध बहुत निखरा है, साथ ही प्रेम और सौहार्द की भावनाएँ उनमें अत्यधिक दिखाई देती हैं। काव्य के क्षेत्र में उनकी रुचि अत्यन्त परिष्कृत थी और उन्होंने अपने ज़माने के चोटी के उस्ताद शाह 'नसीर' से काव्य-दीक्षा ली और उनके बाद 'ज़ौक़' जैसे विद्वान् तथा अधिकारी कवि को अपना गुरु बनाया। 'ज़ौक़' के

मरने के बाद अपने नज़रबंद होने के चार-पाँच वर्षों तक वे 'ग़ालिब' से भी इस्लाह लेते रहे। पहले भी उन्होंने 'ग़ालिब' को अपने वंश का इतिहास लिखने को कहा था और नज्मुद्दौला बदीरुल्मुल्क की उपाधि से विभूषित किया था। अपने काल के अन्य गुणियों—'इश्क़', 'अज़ीम', 'शिकेबा', 'ममनूँ', 'क़ासिम', सना उल्ला खाँ 'फ़िराक़', क़मरुद्दीन 'मिन्नत' आदि से उनका दरबार भरा रहता था। काव्य के अतिरिक्त उस गयी गुज़री हालत में भी भवन-निर्माण, मेलो-तमाशों, शादी-ब्याह और बीमारी से उठने के जश्नों आदि में उन्होंने अपनी ज़िन्दादिली का सबूत दिया, यद्यपि वे हर समय अनुभव करते थे कि यह रहे बचे वैभव भी अस्थायी हैं।

सूफ़ी आध्यात्मिकता का प्रभाव उनके सार्वभौमिक सौहार्द से स्पष्ट होता है। उन्होंने कभी अपनी ओर से हानि नहीं पहुँचायी और (शायद एक आध उदाहरणों को छोड़कर) किसी का हक़ मारने की भी कोशिश न की। अपने अपमान को भी वे शांतिपूर्वक पी जाते थे और अपने पितामह शाह आलम की भाँति बड़े से बड़े विरोधी के प्रति उनके मन में कटुता या दुर्भावना न रहती थी। संक्षेप में वे पूरे संन्यासी थे, जिन्हें भाग्य ने ग़लती से गद्दी पर बिठा दिया था।

'ज़फ़र' को मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद तथा कुछ अन्य आलोचकों ने कवि ही नहीं माना है। 'आज़ाद' का तो कहना यह है कि उनके चार दीवानों में से पहले का आधा भाग शाह 'नसीर' द्वारा और शेष साढ़े तीन दीवान 'ज़ौक़' द्वारा संशोधित ही नहीं, लगभग रचित हैं। 'ज़फ़र' के समर्थकों का कहना है कि यह बात ग़लत है, 'ज़ौक़' और 'ज़फ़र' का रंग एक दूसरे से बिलकुल अलग है। दोनों पक्षों से काफ़ी कहा जा सकता है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इस बहस का अधिक महत्त्व नहीं है। 'ज़फ़र' के चारों दीवानों में एक रंग की कविता मिलती है और यदि किसी और ने स्वयं ही किसी कारण उन्हें अपनी कविता अर्पित कर दी हो तो हमें उन कविताओं को 'ज़फ़र' की रचना मानने में कोई हिचक न होनी चाहिए, विशेषतः जब कि ऐसा कोई स्पष्ट सबूत हमारे पास न हो जिससे यह कविताएँ 'ज़फ़र' के अतिरिक्त अन्य किसी कवि की रचनाएँ प्रमाणित हो सकें।

'ज़फ़र' की रचनाओं के तीन स्पष्ट गुण देखने को मिलते हैं—(१) करुण प्रभाव, (२) सरलता और स्पष्टता तथा (३) माधुर्य और गीतात्मकता। विचार तत्त्व उनके यहाँ बहुत ऊँचा नहीं है और ओज गुण भी अपेक्षाकृत कम पाया जाता है। उनके काव्य को हम मध्यम श्रेणी का काव्य कह सकते हैं।

लेकिन उर्दू काव्य—विशेषतः दिल्ली-शैली का काव्य—एक बात के लिए सदैव ही 'ज़फ़र' का ऋणी रहेगा। वह बात यह है कि 'ज़फ़र' ने शायद अकेले अपने दम पर उर्दू कविता के स्वरों में काफ़ी गंभीरता ला दी और इस प्रकार लखनवी शैली की उच्छृंखल और विलासपूर्ण बहाव के ज़ोर को ख़त्म करके उसे ऐसे मार्ग पर चला दिया जहाँ से आगे आने वाली पीढ़ियों को अपनी नयी चेतना के प्रकाशन के लिए उर्दू कविता बिलकुल अनुपयुक्त न मालूम हो और वे उसे छोड़ न बैठें। बाद में चलकर विषय के क्षेत्र में 'हाली' और 'आज़ाद' तथा भाषा और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में 'दाग़' ने जो नयी राहें खोलीं, उनके लिए पृष्ठभूमि तय्यार करने का श्रेय 'ज़फ़र' के प्रभाव को मिलना चाहिए। वे ख़ुद चाहे बड़े शायर न हों, लेकिन अपने काल के प्रमुख कवियों के आश्रयदाता ही नहीं, एक प्रकार पथप्रदर्शक थे (क्योंकि उनकी अपनी विशेष रुचि थी, जिसकी 'ज़ौक़', 'ग़ालिब' आदि पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सकते थे)। शाह 'नसीर' तथा लखनवी कवियों के अतिशय आकारवाद में उन्होंने तीव्र संवेदना का पुट देने का भी आग्रह किया और इस आग्रह की स्वभावतः उनके आश्रित महाकवि उपेक्षा न कर सके और दिल्ली की कविता ने 'मीर' की सादगी-पसंद परम्परा को एक बार फिर मज़बूती से पकड़ लिया। 'ज़ौक़' और 'ग़ालिब' ही नहीं, 'मोमिन' की बाद वाली रचनाओं की सादगी इसका सबूत है।

इसके अलावा ख़ुद 'ज़फ़र' की रचनाओं के गुणों—करुणा और माधुर्य—की कोई उपेक्षा नहीं कर सकता। 'ज़फ़र' की करुणा 'मीर' की भाँति सर्वव्यापी न हो, लेकिन उसमें तीव्रता और टीस काफ़ी है। 'ज़फ़र' की कुछ ग़ज़लें उल्लास के रंग में हैं, लेकिन अधिकतर उनके शेरों में ऐसी व्यथा दिखाई देती है जो सुननेवालों का कलेजा काट देती है। उन्होंने शब्दावली भी भाव के अनुरूप ही—कोमल और चुटीली—व्यवहार की है। उनके यहाँ अरबी

फ़ारसी के कठिन शब्द बहुत कम मिलेंगे। इसी शब्दावली के अनुसार उनके यहाँ कविता का मंद-मंद प्रवाह है। उनकी गति सम है, न बहुत तेज़ और न अटकती हुई। मुहावरों आदि के प्रयोग ने इस वर्णन-शैली को और मधुर तथा प्रभावपूर्ण बना दिया है और ग़ज़ल के लिए बहुत ही उपयुक्त अभिव्यक्ति-शैली का प्रादुर्भाव किया है।

इसके अलावा यह भी मानना पड़ेगा कि सूफ़ीवाद की जो परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी में अपेक्षाकृत कमज़ोर पड़ गयी थी, उसे 'ज़फ़र' ने फिर एक बार सँभाल दिया। इसी भावभूमि पर उनकी चेतना में विशालता, सार्वभौमिकता और गंभीरता के तत्त्व बहुत आ गये। सूफ़ीवादी दर्शन 'ज़फ़र' के यहाँ बहुतायत से मिलता है। यद्यपि उनमें भी 'ज़फ़र' की चेतना में कोई मौलिकता नहीं है, तथापि एक बिगड़ी हुई अवस्था में साहित्यिक चेतना को गंभीरता और नैतिक आधार पर जीवन-दर्शन की ओर तो मोड़ ही दिया गया है।

'ज़फ़र' की रचनाओं के नमूने निम्नलिखित शेरों में मिलेंगे—

दिया अपनी ख़ुदी को जो हमने उठा वो जो परदा सा बीच में था, न रहा
रहा परदे में अब न वो परदानशीं कोई दूसरा उसके सिवा न रहा
न थी हाल की जब हमें अपने ख़बर रहे देखते औरों के ऐबो-हुनर
पड़ी अपनी बुराइयों पर जो नज़र तो निगाह में कोई बुरा न रहा
'ज़फ़र' आदमी उसको न जानियेगा हो वो कैसी साहबे-फ़हमो-ज़का
जिसे ऐश में यादे-ख़ुदा न रही जिसे तैश में ख़ौफ़े-ख़ुदा न रहा

पसे-मर्ग मेरे मज़ार पर जो दिया किसी ने जला दिया
उसे आह! दामने-बाद ने सरे-शाम ही से बुझा दिया
मैंने दिल दिया मैंने जान दी मगर आह तूने न क़द्र की
किसी बात को जो कभी कहा उसे चुटकियों में उड़ा दिया

लगता नहीं है जी मेरा उजड़े दयार में
किसकी बनी है आलमे-नापायादार में

उम्रे-दराज़ माँग के लाये थे चार दिन
दो आरज़ू में कट गये दो इन्तज़ार में
है कितना बदनसीब 'ज़फ़र' दफ़्न के लिए
दो गज़ ज़मीं भी मिल न सकी कूए-यार में

न किसी की आँख का नूर हूँ न किसी के दिल का क़रार हूँ
जो किसी के काम न आ सके वो मैं एक मुश्ते-ग़ुबार हूँ
मेरा रंग रूप बिगड़ गया मेरा यार मुझसे बिछुड़ गया
जो चमन ख़िज़ां से उजड़ गया मैं उसी की फ़स्ले-बहार हूँ

बहार आयी है भर दे बादए-गुलगूँ से पैमाना
रहे लाखों बरस साक़ी तेरा आबाद मैख़ाना
मुझे आना मिले क्यों कर तेरी महफ़िल में जानाना
मेरी सूरत फ़क़ीराना तेरा दरबार शाहाना
'ज़फ़र' वह ज़ाहिदे-बेदर्द की हू-हक़ से बेहतर है
करे गर रिन्द दर्दे-दिल से हा-आ-हूए-मस्ताना

: ७ :

मरसिया

उर्दू कविता में वास्तव में मरसिया ही वह काव्यरूप है, जिसे उचित रूप से 'क्लासीकल' (चिरप्रतिष्ठित प्राचीन) की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसमें 'इपिक' (वीर गाथा काव्य) और 'ट्रेजेडी' (दुखान्त महाकाव्य) दोनों की विशेषताएँ होती हैं और यह उर्दू काव्य की अमूल्य निधि हैं।

मरसिया अरबी शब्द है, जिसका अर्थ है मरने वाले के गुणों का इस प्रकार वर्णन करना जिससे सुनने वालों के हृदय में करुणा का संचार हो। अरब की पुरानी कविता में मरसिये का ग़ज़ल और क़सीदे की भाँति विशेष स्थान था। जब किसी का कोई प्यारा मर जाता था तो यदि वह कविता कर सकता था तो कबीले-कबीले जाकर अपने करुण रस से ओतप्रोत शेर सुनाता था, लोग उसके चारों ओर जमा हो जाते थे और उसके साथ ही आँसू बहाने लगते थे। खना और मुतमिम बिन नवेरा द्वारा रचित इस प्रकार के मरसिये बहुत प्रसिद्ध हैं। हारूँ का मन्त्री जाफ़र बरमकी अत्यन्त लोकप्रिय था। जब उसे हारूँ ने मरवा दिया तो उस पर बहुतायत से मरसिये लिखे गये। फ़ारसी काव्य में इस प्रकार का करुण काव्य बहुत कम पाया जाता है, केवल आरंभ काल में फ़िरदौसी द्वारा रचित महाकाव्य 'शाहनामा' में सुहराब की मृत्यु पर उसकी माँ का रुदन हृदयवेधक है। इसी प्रकार महमूद ग़जनवी की मृत्यु पर उसके दरबारी कवि फ़र्रुख़ी ने अत्यन्त प्रभावशाली मरसिया लिखा है। मुहतशिम काशी ने तत्कालीन बादशाह तहमास्प के आदेश पर इमाम हुसैन का एक छोटा-सा मरसिया लिखा था। इसके अलावा शैख़ सादी और अमीर ख़ुसरो के भी दो मरसिये मशहूर हैं। मुक़्बिल के मरसिये भी मशहूर हैं।

उर्दू काव्य के आरंभ से ही मरसिया-लेखन का रिवाज रहा है। पहले ही कहा जा चुका है कि उर्दू में साहित्य का आरंभ धार्मिक प्रेरणावश हुआ

है। इसी प्रवृत्ति का एक दूसरा पहलू मरसिया-लेखन था, जो उर्दू काव्य के आरंभ से ही दिखाई देता है। किन्तु उर्दू में मरसिये के इतिहास का दिग्दर्शन कराने के पूर्व एक और बात की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है।

मरसिया किसी की मृत्यु पर भी लिखा जा सकता है। उर्दू में भी इस प्रकार के मरसिये बहुतायत से हैं, जिनमें किसी व्यक्ति विशेष के निधन पर संताप प्रकट किया गया है। उदाहरण के लिए 'मोमिन' द्वारा रचित 'माशूक़ का मरसिया', 'हाली' का 'ग़ालिब का मरसिया', 'इक़बाल' का 'दाग़ का मरसिया', 'माजिद' का 'अकबर इलाहाबादी का मरसिया', 'सरूर' का अपने पुत्र की मृत्यु पर लिखा हुआ मरसिया और चकबस्त द्वारा रचित तिलक, गोखले आदि के मरसिये उल्लेखनीय हैं। किन्तु केवल 'मरसिया' कहने से जिस कविता का बोध होता है और जिस काव्य ने उर्दू में क्लासीकल का दर्जा प्राप्त कर लिया है, वह हज़रत इमाम हुसैन और उनके बहत्तर साथियों के प्राणोत्सर्ग का वर्णन है, जिसे उर्दू में आरंभ से ही प्रमुख स्थान प्राप्त है और जिसे उन्नीसवीं शताब्दी में लखनऊ में उसकी चरम सीमा तक पहुँचा दिया गया। आश्चर्य की बात है कि ईरान में शियों की बहुसंख्या के बावजूद केवल मुहतशिम काशी का ही एक मरसिया मिलता है और अरब में इस विषय पर लिखे गये मरसियों का मुश्किल से पता चलता है। शायद इसका कारण तत्कालीन शासकों का अत्याचार और दबाव रहा हो।

चुनांचे हिन्दी पाठकों के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें करबला में इमाम हुसैन की शहादत के बारे में मोटे तौर पर जानकारी हो, तभी वे मरसियों के मर्म को समझने में समर्थ होंगे। हज़रत हुसैन हज़रत अली के कनिष्ठ पुत्र थे। हज़रत अली मुहम्मद साहब के दामाद थे और उनकी मृत्यु के बाद इस्लामी संसार के ख़लीफ़ा हुए थे। किन्तु उनके समय तक इस्लामी संसार में शासन-सत्ता की छीना-झपट शुरू हो गयी थी। सीरिया के गवर्नर मुआविया ने उनकी सत्ता मानने से इनकार कर दिया। इस विद्रोह में मिस्र का मुसलमान हाकिम अमरू भी था। यह झगड़ा तय ही होने को न आता था। अंत में कुछ मुसलमानों ने तय किया कि इन तीनों को एक साथ मार दिया जाय तो झगड़ा

पटे। इन आक्रमणों में हज़रत अली तो मर गये, लेकिन मुआविया इलाज से बच गया। अली के मरने पर उनके बड़े लड़के हसन ने ख़िलाफ़त सँभाली। मुआविया ने कूफ़ा में उन पर हमला किया और हसन को उससे संधि करनी पड़ी। बाद में मुआविया ने पीने के पानी में षड्यन्त्र-पूर्वक विष मिलवा कर उन्हें मरवा डाला और संधि के नियमों के विपरीत अपने लम्पट और दुराचारी पुत्र यज़ीद को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

मुआविया के मरने के बाद यज़ीद ने अपने को ख़लीफ़ा घोषित कर दिया और आदेश दिया कि सारे मुसलमान उसे आध्यात्मिक नेता मानें। हज़रत अली के छोटे पुत्र हज़रत हुसैन ने इस बात से इनकार कर दिया। उनको क़ाबू में लाने के लिए यज़ीद ने फिर षड़यन्त्र का सहारा लिया। उसने कूफ़ा के मुसलमानों द्वारा हुसैन को संदेश भिजवाया कि हमलोग यज़ीद का विरोध करेंगे और आपको खलीफ़ा बनायेंगे यदि आप यहाँ ख़ुद आयें। हुसैन ने अपने विश्वस्त साथी, मुसलिम को इस बात का पता लगाने को भेजा। षड्यन्त्र पक्का था, बेचारे मुसलिम को भी पता न चला और उसने हुसैन को लिख दिया कि ये लोग दिल से आपके साथ हैं। अब हज़रत हुसैन अपनी बीमार पुत्री सुग़रा को मदीने में ही छोड़कर कुछ साथियों को लेकर कूफ़ा चले। जब वे रास्ते में थे तो उन्हें ख़बर लगी कि कूफ़ावालों ने षड्यन्त्र किया है और मुसलिम तथा उसके दो अल्पायु पुत्रों को मार डाला है।

हज़रत हुसैन ने अब लौटना उचित न समझा। उनका इरादा था कि यज़ीद को समझा-बुझाकर रास्ते पर लायें। उन्होंने अपने साथियों को वापस कर दिया, किन्तु बहत्तर आदमियों ने किसी तरह उनका साथ छोड़ना पसंद नहीं किया। उधर यज़ीद ने कूफ़ा के हाकिम उबैदुल्ला को, जो उसका मातहत था, आदेश दिया कि हुसैन को वहीं घेर कर उन्हें मजबूर करो कि वे मुझे ख़लीफ़ा मान लें। उबैदुल्ला की सत्तर हज़ार फ़ौज ने इमाम हुसैन के मुट्ठी भर आदमियों को करबला के मैदान में घेर लिया। उन्होंने इन लोगों का पानी लाने का मार्ग भी बन्द कर दिया, ताकि रेगिस्तान की ग्रीष्म ऋतु में प्यास के मारे इन लोगों का मनोबल टूट जाये। इसमें उबेदुल्ला को सफलता न मिली। तीन दिन तक प्यास से तड़पने के बाद भी इन लोगों ने—जिनकी ओर उबे-

दुल्ला का एक न्यायप्रिय सेनापति हुर भी आ मिला था—एक-एक करके युद्ध में अपने प्राण दे दिये, किन्तु आन न छोड़ी। सबके अंत में हज़रत हुसैन भी लड़कर शहीद हो गये। इसके बाद उनकी स्त्रियों को अत्यन्त अपमानपूर्वक गले में रस्सी बाँधकर यज़ीद के दरबार में ले जाया गया और क़ैद कर दिया गया, जहाँ हुसैन की अल्पायु पुत्री सकीना का देहान्त हो गया। बाद में यज़ीद की पत्नी हिन्दा ने इन लोगों को रिहाई दिलवायी।

मरसियों में जिन पात्रों का उल्लेख होता है, वे निम्नलिखित हैं—(१) हज़रत इमाम हुसैन, जिनके चरित्र में शौर्य, गंभीरता, सत्यनिष्ठा और दया अपने प्रखरतम रूपों में मिलती हैं। जहाँ तक हो सकता है हिंसा रोकने की चेष्टा करते हैं, अपने और अपने साथियों के कष्ट की परवा किये बग़ैर लड़ाई रोकने की कोशिश करते हैं, लेकिन सत्य के पालन के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने को तय्यार रहते हैं। (२) हज़रत अब्बास, जो हज़रत हुसैन के रिश्ते के भाई हैं। शौर्य और क्रोध की जीती-जागती मूर्ति, पानी लाने की कोशिश में हाथ कट जाते हैं तो मुँह से ही मश्क पकड़कर लाने लगते हैं, किन्तु बीच में ही शहीद हो जाते हैं। इमाम हुसैन के आदेशों पर कहीं भी बढ़ या रुक सकते हैं। (३) अली अकबर, हज़रत हुसैन के अठारह वर्षीय ज्येष्ठ पुत्र, जिनका विवाह होनेवाला था और जो वीरतापूर्वक लड़ते हुए मारे गये। (४) अली असग़र, हजरत हुसैन के छः महीने के कनिष्ठ पुत्र, जिन्हें गोद में लेकर हज़रत हुसैन उनके लिए पानी माँगने गये थे, किन्तु अत्याचारियों ने जिन्हें तीरों से बींध दिया था। (५) औन और मुहम्मद, हज़रत हुसैन की छोटी बहन ज़ैनब के दो अल्पायु पुत्र जो बड़ी बहादुरी से लड़े और मारे गये। जब लड़ाई का झंडा अब्बास को दिया गया तो यह दोनों क्षुब्ध हुए क्योंकि इससे पहले झंडे का हक़ इनके पिता का था, किन्तु इनकी वफ़ादारी में कमी न हुई। (६) हुर, जो पहले उबे-दुल्ला की सेना में थे, फिर हज़रत हुसैन से आ मिले और उनकी ओर से लड़ते हुए मारे गये। (७) हजरत शहरबानो, हज़रत हुसैन की धर्मपत्नी जो नौशेरवाँ बादशाह की पोती थीं। (८) हज़रत ज़ैनब, हुसैन की छोटी बहन, जिन्होंने भाई के लिए अपने बच्चों को प्रसन्नतापूर्वक रणभूमि में मरने के लिए भेज दिया। इन्हें अली अकबर से भी बड़ा प्रेम था और वे भी इन्हें अपनी माँ

से अधिक मानते थे। (९) सुग़रा, इमाम हुसैन की बेटी जिन्हें बीमारी के कारण मदीने में छोड़ दिया था, यद्यपि वे भी पिता के साथ चलने की बड़ी इच्छुक थीं। (१०) सकीना, हज़रत हुसैन की अल्पायु पुत्री जो बंदीगृह के कष्ट सहन न कर सकने के कारण मर गयीं। (११) हज़रत क़ासिम, जो हज़रत हुसैन के भतीजे थे। (१२) हज़रत इमाम ज़ैनुल आबदीन, जो बीमारी के कारण लड़ न सके थे और क़ैद हो गये थे। (१३) हज़रत हुसैन के अन्य साथी अब्तमामा, सअद, जहीर क़ैन, असद, आबिस, इब्न मुजाहिर, हिलाल आदि (इनके नाम बहुत कम आते हैं)। (१४) उबैदुल्ला की सेना का क्रूर और दुरात्मा सेनापति शिम्र, जिसने हज़रत हुसैन की गर्दन ख़ुद काटी थी और उनके सिर को भाले की नोक पर रखकर घुमाया था और उनके मरने के बाद उनके परिवार की स्त्रियों के गहने लूटे थे और मारा-पीटा था।

मरसिये का विकास—उर्दू में, जैसा पहले कहा जा चुका है, आरंभ से ही मरसिये लिखे जाते रहे हैं। उत्तर भारत में औरंगज़ेब के ज़माने में ही राम राव, सेवा आदि मरसिया-गो हुए हैं। दकन में भी हाशिमी, अशरफ़, रूही, सय्यदन, हाशिमी आदि बहुत से मरसिया-गो हुए हैं। इसके बाद फ़ोर्ट विलियम कालेज के मियाँ मिस्कीं आते हैं, जिन्होंने केवल मरसिये लिखे हैं और जिनकी मरसिया-गोई का 'सौदा' ने भी लोहा माना है। किन्तु इतने मरसिया-गोयों के बावजूद साहित्यिक दृष्टि से मरसिये में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। कारण यह था कि मरसिया-लेखन को लोग धार्मिक कर्त्तव्य और स्वर्गप्राप्ति का मार्ग समझते थे। मरसिये आजकल की भाँति मुसद्दस रूप में भी नहीं कहे जाते थे, बल्कि ग़ज़ल और अधिक से अधिक मुरब्बा के रूप में कहे जाते थे। उनका विषय भी अत्यन्त सीमित था, यानी रोना-रुलाना। इस काल के मरसियों का रूप आजकल के सलाम और नौहों में देखा जा सकता है। इसके बाद 'सौदा' ने मरसिये में उन्नति की। उन्होंने केवल रोने-रुलाने को क़ाफ़ी न समझा और करबला काण्ड का वर्णन साहित्यिकता-पूर्वक किया। मुसद्दस रूप में मरसिया पहले-पहल 'सौदा' के ही यहाँ मिलता है। पहले 'मीर' के मरसियों को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था, किन्तु हाल की खोजों के परि-

णामस्वरूप "मीर' का मरसिया-गो के रूप में भी महत्त्व स्वीकार किया गया है। मीर ज़ाहक और उनके पुत्र मीर हसन ने भी कुछ मरसिये लिखे हैं।

किन्तु मरसिये की वास्तविक उन्नति लखनऊ में आकर हुई। आश्चर्य की बात यह है कि जिस ज़माने में लखनवी कविता का जन्म हुआ, जिसमें ग़ज़ल से गंभीरता उड़ गयी और रेख़्ती जैसी वाहियात चीज़ का प्रचलन हो गया, उसी ज़माने में मरसिया जैसा गंभीर काव्य-रूप अपने उत्थान के चरम बिन्दु को पहुँचा। मीर ज़मीर ने मरसिये के आठ अंग निर्धारित किये, उसमें साहित्यिकता का समावेश किया और साथ ही मरसिये को बग़ैर गाये हुए साधारण स्वर में पढ़ने की परम्परा डाली। मीर ज़मीर द्वारा निर्धारित मरसिये के आठ अंग इस प्रकार हैं —(१) 'चेहरा', यह मरसिये की भूमिका होता है और प्रकृति-चित्रण, मरसिये के पात्र के गुणों के वर्णन या कवि की अपनी गर्वोक्ति के रूप में होता है, (२) 'सरापा', इसमें मरसिये के पात्र के चरित्र और नख-शिख आदि का वर्णन होता है, (३) 'रुख़सत', इसमें मरसिये के पात्र का युद्ध-क्षेत्र में जाने के समय प्रियजनों से विदा लेने का मार्मिक वर्णन होता है, (४) 'आमद', इसमें पात्र का रणक्षेत्र में शान के साथ आने का ओजपूर्ण वर्णन होता है, (५) 'रजज़', यह अरब की पुरानी परम्परा पर आधृत चीज़ है, जिसमें योद्धा अपने शत्रुओं को ललकारते हुए वंश आदि के आधार पर अपनी श्रेष्ठता का वर्णन करता है, (६) 'जंग', इसमें योद्धा के रणकौशल का वीर-रसपूर्ण वर्णन होता है और इसी सम्बन्ध में उसके घोड़े, तलवार आदि की प्रशंसा भी कर दी जाती है, (७) 'शहादत', चूँकि इमाम हुसैन के सभी साथी लड़ाई में काम आये थे, इसलिए मरसिये के पात्र की वीरगति का भी वर्णन आवश्यक होता है, इसमें मरते-मरते भी योद्धा का उच्च चरित्र दिखाया जाता है, (८) 'बैन', इसमें मरसिया के पात्र के मरने पर उसके प्रियजनों के शोक-प्रदर्शन को कारुणिक और मार्मिक ढंग से दिखाया जाता है, दरअसल मरसिया यही होता है।

मीर अनीस के बाद प्यारे साहब रशीद ने मरसियों में उल्लास का समावेश करने के लिए 'बहार' और 'साक़ीनामा' नामक दो अंग और जोड़े, किन्तु यह

मूल विषय से इतनी विपरीत दिशा में पड़ते थे कि इन्हें अच्छी नज़र से नहीं देखा गया और इसीलिए यह नये अंग लोकप्रिय न हो सके।

इस सिलसिले में दो बातें याद रखनी चाहिए। एक तो यह कि एक मरसिये का मुख्य पात्र एक (या कभी-कभी दो, जबकि वे दोनों अभिन्न हों) होता है। दूसरे यह कि प्रत्येक मरसिये में आठों अंग होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, मीर अनीस का पहला मरसिया जिसमें इमाम हुसैन की पैदायश का हाल है, स्वभावतः ही 'रुख़सत', 'आमद', 'जंग' और 'शहादत' से रहित है। कभी 'चेहरा' ख़त्म करके 'सरापा' से मरसिया शुरू कर दिया जाता है, कभी पहले तीन अंग उड़ाकर आमद से ही मरसिया आरंभ होता है, कभी-कभी बीच के कुछ अंग ग़ायब कर दिये जाते हैं।

मरसिये की विशेषता—मरसिये का सबसे उन्नत रूप उन्नीसवीं शताब्दी के स्वनामधन्य मरसिया-लेखकों अनीस और दबीर की रचनाओं में मिलता है। इसलिए मरसिये की विशेषताओं पर ध्यान देते समय इन दोनों—विशेषतः अनीस—की रचनाओं को निगाह में रखना चाहिए।

मरसिये को हिन्दी काव्य-शास्त्र की परिभाषाओं के अन्दर खण्ड काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। इनका आकार भी साधारणतः बहुत बड़ा नहीं होता—साधारणतः छः-छः मिसरों के सत्तर-अस्सी बन्दों का एक-एक मरसिया होता है—और महाकाव्य की भाँति इनमें प्रत्येक रस का भी समावेश नहीं किया जाता। इनमें मुख्यतः करुण, वीर और रौद्र रसों की प्रधानता रहती है, गौण रूप से भयानक और अद्भुत रस भी आ जाते हैं, किन्तु शान्त, हास्य, वीभत्स तथा शृंगार रसों का समावेश बिलकुल नहीं होता। इसी प्रकार ऋतुओं आदि के वर्णन की विभिन्नता के स्थान पर केवल सुबह, दोपहर, रात्रि आदि का वर्णन-वैचित्र्य मिलता है। इस स्थिति में भी काफ़ी विभिन्नता मिलती है, क्योंकि रेगिस्तान में दोपहर और रात्रि के मौसम में ज़मीन-आसमान का अन्तर होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि मीर ज़मीर के समय से मरसियों ने पद्यमय कथा का रूप ले लिया है। इसीलिए मरसिया-गोई की श्रेष्ठता इसीमें समझी जाती है कि उसमें कहानी के समस्त अंग आ जायें। सारी ऐतिहासिक कथाओं

की भाँति मरसिये की भी यह दिक़्क़त है कि उसमें कथानक के परिवर्तन की गुंजायश नहीं रहती। यह तो ठीक है कि मरसियों की कहानी अपने में इतनी पूर्ण है कि उसमें रद्दोबदल की ज़रूरत नहीं होती, फिर भी एक ही कहानी को बार-बार सुनाकर भी उसमें सुननेवालों की दिलचस्पी क़ायम रखना मुश्किल काम है। इसे अनीस और दबीर का कमाल ही कहना चाहिए कि उन्होंने केवल वर्णन-शक्ति के ही बल पर अपने हज़ारों मरसियों में ऐसा प्रभाव पैदा कर दिया है कि हर एक मरसिये को दिलचस्पी के साथ पढ़ा जाता है। आगे हम यह बताने का प्रयत्न करेंगे कि इन लोगों ने कथाकार और कवि दोनों का कर्तव्य एक साथ कैसे निबाहा है।

कथाकार ऐतिहासिक कथा लिखते समय अपनी कथावस्तु की पूर्णता के लिए ऐतिहासिक तथ्यों में अपनी कल्पना से कुछ जोड़ने-घटाने की भी छूट लेता है। मरसिया-गोयों ने भी यह छूट ली है। उदाहरणतः ज़ैनब के पुत्रों औन और मुहम्मद का झंडा न मिलने पर नाराज़ होना ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। फिर भी मरसिया-गोयों ने इमाम हुसैन के साथियों की वफ़ादारी को और उभार कर दिखाने के लिए इन छोटे-छोटे योद्धाओं के आत्मसंयम की सृष्टि करके कथा को कितना चमका दिया है, यह बताने की ज़रूरत नहीं है। इसी प्रकार दबीर ने अपनी ओर से यह क़िस्सा जोड़ दिया है कि हलब के बादशाह ने अपनी बेटी की सगाई अली अकबर के साथ कर दी थी और उनके शहीद होने के बाद उनकी भावी पत्नी ने उनकी लाश पर आकर मातम किया है। इसी तरह शहर बानो का अली अकबर पर नाराज़ होना कि हज़रत हुसैन को अकेले छोड़कर क्यों चले आये, ऐतिहासिक दृष्टि से बिलकुल निराधार है।

प्रत्येक कथा में नाटक के तत्त्व आवश्यक होते हैं। नाटकीय तत्वों के समावेश में मरसिये बेजोड़ साबित हुए हैं। नाटक के आधारभूत तत्त्व कार्यात्मक संघर्ष, भावनात्मक संघर्ष और विशिष्ट चरित्र-चित्रण होते हैं। इन सबका पूर्ण समन्वय कर देने पर नाटकीय एकता की प्राप्ति होती है, जो प्रत्येक नाटक के लिए अनिवार्य होती है। मरसिये में यह नाटकीय एकता और इसके जनक तत्त्व अपने पूरे ज़ोर में दिखाई देते हैं। आधुनिक कथाओं या नाटकों से मरसिये

एक ही बात में पिछड़ जाते हैं। वह यह कि मरसियों के चरित्रों का विकास नहीं होता, जो चरित्र जैसा है, अंत तक वैसा ही रहता है।

किन्तु इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि मरसियों की अपनी सीमाएँ भी हैं। चूँकि उनके साथ धार्मिक भावनाएँ भी जुड़ी हुई हैं, इसलिए उनके कुछ चरित्रों का अति आदर्शवादी और अन्य चरित्रों का अति निकृष्ट रहना आवश्यक है। उनमें प्रत्येक प्राचीन गाथा की भाँति सत्य और असत्य का सीधा संघर्ष दिखाया गया है और कोई चरित्र ऐसा नहीं दिखाया जा सकता जिसमें अच्छाई और बुराई दोनों हों या वह अच्छाई से बुराई की ओर या बुराई से अच्छाई की ओर क्रमशः अग्रसर हो। यहाँ तक कि हुर की प्रशंसा उसी समय से आरंभ कर दी जाती है, जब वह उबैदुल्ला की सेना में होता है। इस प्रकार मरसिये पूर्णतः यथार्थवादी तो हो ही नहीं सकते थे, हाँ आदर्शवादी यथार्थवाद के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

अब आरंभ से मरसिये के नाटकीय तत्वों को देखिए। कार्यात्मक संघर्ष तो सारी कहानी का ही आधार है। मुट्ठी भर सत्याग्रहियों का हँसते-हँसते प्राणोत्सर्ग कर देना स्वयं ही इतना बड़ा संघर्ष है कि उससे आगे मानव कल्पना जा ही नहीं सकती। मरसिया-गोयों को इस बारे में आसानी आरंभ से ही रही है।

लेकिन मुश्किल आ पड़ती है भावनात्मक संघर्ष की। जब कहानी सीधी-सीधी सत्य और असत्य की लड़ाई की है तो भावनात्मक संघर्ष का सवाल कैसा? यहीं पर मरसिया-गोयों का कमाल दिखाई देता है कि उन्होंने कहानी के आदर्श में मानवीय भावनाओं का पुट देकर कैसे भावनात्मक संघर्ष दिखाये हैं और किस प्रकार इन संघर्षों से निकालते हुए कथा को आदर्शवादी अंत तक पहुँचाया है। साथ ही तारीफ़ यह है कि पात्रों का अपना स्थायी चरित्र एक मिनट के लिए भी नहीं बदला है। भाई-भाई में, भाई-बहन में, बुआ-भतीजे में बहसें होती हैं, लोग एक दूसरे से रूठते हैं, किन्तु इन सारी बहसों और मानसिक संघर्षों में सभी का चरित्र निखरता चला जाता है और कहानी अपने लक्ष्य की ओर निश्चित गति से बढ़ती जाती है। इन मानसिक द्वंद्वों से स्पष्ट होता है कि सारे पात्र इसी धरती के प्राणी हैं, भावनारहित फ़रिश्ते या मशीनें नहीं हैं। इस बात से प्रभाव बहुत बढ़ जाता है।

उदाहरण के लिए करबला में खेमे गाड़ कर अब्बास और उनके कुछ साथी पानी लेने जाते हैं। उबेदुल्ला की सेना आकर उन्हें रोकती है। ये लोग लड़ाई पर तय्यार हो जाते हैं, अब्बास के क्रोध का ठिकाना नहीं है। लेकिन हुसैन लड़ाई टालना चाहते हैं, दौड़े हुए आते हैं और अब्बास को अपनी सौगंध दे देते हैं कि लड़ाई से दर-गुज़र करो। इसके बाद के अनीस के तीन बन्द देखिए—

आक़ा ने दी जो अपने सरे-पाक की क़सम
बस थरथरा के रह गया वह साहबे-करम
पर थी शिकन जबीं पे न होता था ग़ैज़ कम
चुप हो गये क़रीब जब आये शहे-उमम
गर्दन झुका दी, ता न अदब में ख़लल पड़े
क़तरे लहू के आँखों से लेकिन निकल पड़े

तेग़ो-सिपर के फेंक के बोला वो नामवर
कह दीजे उनसे काट के ले जायें मेरा सर
हुक्मे-ख़ुदा है हुक्मे-शहंशाहे-बह्रो-बर
अब कुछ कहूँ ज़बान से क्या ताब क्या जिगर
मैं हूँ ग़ुलाम आपके अदना ग़ुलाम का
आक़ा मुझे ख़याल था बाबा के नाम का

गर्दन में हाथ डाल के हज़रत ने यह कहा
क्यों काँपते हो ग़ैज़ से भाई, ये क्या? ये क्या?
लो अब उठा लो तेग़ो-सिपर तुम पे मैं फ़िदा
दरिया को तुम तो ले चुके ऐ मेरे महलक़ा
वह शेर हो कि धाक है सारी ख़ुदाई में
देखो कोई तुम्हारे सिवा है तराई में

मरसियों के चरित्रों में नाटकीय विभिन्नता इतनी दिखायी गयी है कि कभी-कभी चरित्र कमज़ोर से होते मालूम होते हैं और अस्वाभाविक लगते हैं। दरअस्ल यह नाटकीयता के चरम विकास की निशानी है। प्रत्येक मनुष्य

में ओज और करुणा की भावनाएँ समय-समय पर उठती हैं। साधारण जीवन में वे एक-दूसरे को संतुलित किये रहती हैं, नाटक में अपने शुद्ध प्रखरतम रूप में दिखा दी जाती है। इमाम हुसैन के धैर्य में क्या कमी हो सकती है, लेकिन अब्बास के मरने पर उनकी यह दशा दिखायी गयी है—

भाई के आगे भाई तड़प कर जो मर गया
सदमा ग़ज़ब का सिब्ते-नबी पर गुज़र गया
ख़न्जर अलम का दिल से जिगर तक उतर गया
चिल्लाते थे कि शेर हमारा किधर गया
लेते थे बोसे झुक के तने-पाश-पाश के
उठ-उठ के गिर्द फिरते थे भाई की लाश के

कुछ लोगों को आपत्ति भी है कि हज़रत हुसैन में मरसिया-गोयों ने करुणा और विवशता के भाव इतने दिखा दिये हैं जो उनके उत्कृष्ट शौर्यपूर्ण चरित्र से मेल नहीं खाते। वैसे भी अरबी चरित्र इतना विवश नहीं हुआ करता। इसका उत्तर केवल यही हो सकता है कि नाटकीयता की रक्षा के लिए यह बात ज़रूरी थी। परम्परानुसार मुहर्रम में हज़रत हुसैन की शहादत का मातम होता है। इस भाव को प्रखर करने के लिए हज़रत की बेकसी पर ज़ोर देना ज़रूरी था। जहाँ तक शौर्य की भावना का सम्बन्ध है, वह अब्बास और अली अकबर दोनों में अपनी चरम सीमा तक पहुँच ही गयी है, हुसैन के भी शौर्य पर ज़ोर देने पर उन दोनों के चरित्र में वह प्रखरता न रहती, जो इस समय है। उनकी विवशता और शान्तिप्रियता की पृष्ठभूमि में यज़ीद पक्ष की नृशंसता और हृदयहीनता भी ख़ूब उभारकर दिखायी गयी है।

प्रत्येक नाटक में कथनोपकथन का बहुत महत्त्व होता है। मरसिया-गोयों ने इस बारे में भी बड़ी अहतियात से काम लिया है। किन्तु इसके पहले एक बात और समझ लेनी चाहिए। मरसिया-गोयों ने ठोस तथ्यों में ऐतिहासिक यथार्थ पूरी तरह क़ायम रखा है। उदाहरणार्थ, लड़ाई का वर्णन करते हैं तो तीर, ढाल, तलवार और भाले का ही उल्लेख करते हैं, उन्नीसवीं शताब्दी की तोप और बन्दूक़ को नहीं ला घुसेड़ते; यद्यपि रेगिस्तान की सुबह की सुन्दरता का वर्णन करते

समय फूल ज़रूर खिलाने लगते हैं। किन्तु कथनोपकथन में उन्हें इतिहास से कोई सीधी सामग्री नहीं मिली। साथ ही आधुनिक कथाशिल्प की भाँति उन्होंने खोज करके सातवीं शताब्दी के अरब जीवन के ब्योरों को अंकित नहीं किया, बल्कि पात्रों के परस्पर व्यवहारों को उन्नीसवीं शताब्दी की मुस्लिम संस्कृति की पृष्ठभूमि में चित्रित कर दिया। मरसियों में छोटा भाई अपने को बड़े भाई का ग़ुलाम कहता है, बड़ी बहन के महमिल के पास जाकर अदब से 'हुज़ूर' सम्बोधन करता है, औरतें राँड़ होने पर चूड़ियाँ तोड़ने और नथ उतारने की बात करती हैं, परदे की इतनी सख़्ती है कि नौकरों को आवाज़ दी जाती है कि महमिल का परदा उड़ने न पाये। यह स्पष्टतः सातवीं सदी के अरब जीवन का नहीं, उन्नीसवीं सदी के मुस्लिम अभिजात वर्ग के जीवन का चित्र है।

मरसिया-गोयों का उद्देश्य नितान्त यथार्थ उपस्थित करना न था, बल्कि श्रोताओं की जानी-पहचानी मान्यताओं के माध्यम से मरसियों के पात्रों का अधिकाधिक प्रभावशाली चित्र उपस्थित करना था। उनकी मजबूरी लगभग ऐसी ही थी, जैसे कि आधुनिक चलचित्रों में हज़रत मूसा का अँगरेज़ी में बातें करते दिखाया जाना। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर देखिए तो मालूम होगा कि प्रत्येक चरित्र के हाव-भाव और बातचीत, यहाँ तक कि घटनाओं की प्रतिक्रियाएँ भी उसके पद की मर्य्यादा के अनुरूप होती हैं। बच्चों की बातों में प्यार भरा हठ, स्त्रियों की बातचीत में ठेठ ज़नाने हाव-भाव और स्त्रियों की भाषा और मुहावरों का प्रयोग, बड़ों का लड़ाई के मैदान में या एक-दूसरे से बात करते समय परिष्कृत तथा ओजपूर्ण भाषा तथा बच्चों से बात करते समय कोमल और सरल शब्दों का प्रयोग आदि दर्शनीय है। उदाहरणों से यह बात और अधिक स्पष्ट होगी। सुग़रा को जब बीमारी के कारण हुसैन पीछे छोड़ने लगते हैं, तो वह ठेठ क्वाँरी जवान लड़कियों के लहजे में शिकायत करते हुए ताना देती है—

प्यारी हैं जो दो बेटियाँ वह जायेंगी हमराह
क्या उन्स कि मैं गोर-किनारे भी तो हूँ आह
बाबा को, न अम्मा को, न बहनों को मेरी चाह
सब जीते रहें, ख़ैर हमारा भी है अल्लाह

भूले से न अब ख़ातिरे-नाशाद करेंगे
मैं क़ब्र में जब हूँगो तो सब याद करेंगे

एक और उदाहरण लीजिए। हज़रत अब्बास जब लड़ने जाते हैं तो सकीना, जो उनसे बहुत हिली थी, बच्चों की-सी ज़िद करके उन्हें रोकती है। अब्बास उसे बहलाते हैं कि हम तुम्हारे लिए पानी लेने जाते हैं। सकीना इस पर नहीं मानती। इस मार्मिक वार्तालाप को अनीस ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक कविता के सीमित क्षेत्र में दिखा दिया है—

ख़ेमे में हुआ गुल कि जले हज़रते-अब्बास
सब बोले कि लो और भी सरवर हुए बेआस
घबरा के सकीना ने कहा तब ये ब-सद यास
यह कहते हो तुम मुझको तो जाने दो चचा पास

मुँह शह से वो मोड़ेंगे न मानूँगी कभी मैं
अम्मू मुझे छोड़ेंगे न मानूँगी कभी मैं

अब्बास पुकारे मैं इस आवाज़ के क़ुरबान
हम जाते हैं पानी के लिए आओ मेरी जान
दामन से लिपट कर ये लगी कहने वो नादान
मैं घर से तुम्हें जाने न दूँगी किसी उनवान

बाबा का मेरे कोई मददगार नहीं है
सदक़े गयी, पानी मुझे दरकार नहीं है

जब हुर ने अपने भाई, बेटे और ग़ुलाम से पूछा है कि किसका साथ देना चाहिए तो वे कहते हैं—

बेटे ने कहा शह की ग़ुलामी है सआदत
आँखों से चलेंगे कि ये है ऐन इबादत
भाई ने कहा कुफ़्र है हाकिम की अताअत
कुछ डर नहीं, बस आज से की तर्क रिफ़ाक़त

मजलूम से, दो रोज के प्यासे से लड़ें हम ?
क्या खूब ! मुहम्मद के नवासे से लड़ें हम ?

अब्दे-हुरे-गाजी ने कहा तोल के शमशीर
गर लाख हों जानें तो निसारे-सरे-शब्बीर
दुनिया में न होगा उमरे-सअद-सा बेपीर
कहिए तो करूँ उसके मिटा देने की तदबीर
हाफ़िज है खुदा जोर से तलवार के चलिए
उस फ़ौज में चलिए तो इसे मार के चलिए

बात तीनों ने एक ही कही है, लेकिन लहजा अलग-अलग है। बेटे और भाई ने एकदम से कहा कि हम हुसैन के साथ हैं। उन्हें किसीकी अनुमति नहीं लेनी थी। गुलाम ने यद्यपि तलवार खैंच ली, फिर भी कहता है: 'कहिए तो करूँ उसके मिटा देन की तदबीर'। फिर वह हुसैन की तरफ़ से लड़ने में भी अग्रगामी नहीं होना चाहता। तलवार खुद खैंच ली है, लेकिन कहता है, 'उस फ़ौज में चलिए तो इसे मार के चलिए।' गुलाम का इससे अधिक कुछ कहना उद्दण्डता होती।

इस नाटकीय पूर्णता के साथ ही मरसियों में काव्यगुण भी अपनी चरम सीमा पर दिखाई देते हैं। कविता की पहली शर्त भावोद्रेक है। मरसियों में वीर, रौद्र और करुण भाव अपनी चरमावस्था में दिखाई देते हैं। अली अकबर की मरणावस्था में इमाम हुसेन की दशा देखिए—

दुश्मन को भी न बेटे का लाशा खुदा दिखाय
हजरत जमीं पे गिर के पुकारे कि हाय हाय
जिन्दा रहे ये पीर, जवाँ यूँ जहाँ से जाय
ऐ लाल ! तीन रोज के फ़ाक़े में जख्म खाये
शायद जिगर के जख्म से तुमको क़रार हो
जख्मी तुम्हारी छाती पे बाबा निसार हो

ध्यान देने की बात यह है कि इस बन्द में केवल शब्द ही सरल और कोमल नहीं हैं, बल्कि वाक्यांश भी चलताऊ हैं, जैसे कि दुख की अवस्था में अनायास

निकल जाते हैं। इस करुण रस के चित्रण के मुक़ाबले में वीर-रस के झनझनाते हुए शब्द और वाक्य-विन्यास देखिए। यह दृश्य उस समय का है, जबकि हज़रत हुसैन की सेना लड़ाई के लिए उतावली है—

ग़ुस्से से आफ़ताब हुए महवशों के रंग
फ़ौजों पे जा पड़ें ये दिलों को हुई उमंग
तन तन के बर्छियाँ जो सँभालीं बराय-जंग
बेचैन हो गये फ़रसे अबलक़ो-सुरंग
पासे-अदब से शाह की सफ़ बढ़ के थम गयी
पटरी हर इक सवार की घोड़े पे जम गयी

रौद्र-रस के चित्रण के लिए गरजते-गूँजते शब्द आवश्यक होते हैं। अब इस बन्द को देखिए, जिसमें उबेदुल्ला की फ़ौज का अब्बास को पानी लेने से रोकना और अब्बास का बिफरना दिखाया गया है—

"हम घाट रोकने के लिए आये हैं इधर
है आज शब को दाख़िला-ए-शिम्र की ख़बर"
सुनते हो यह तराई में गूँजा वो शेरे-नर
त्योरी चढ़ी के तेग़ के क़ब्ज़े पे की नज़र
कम था न हमहमा असदे-किर्दगार से
निकला डकारता हुआ जैग़म कछार से

'नासिख़' और 'आतिश' के काल तक उर्दू कविता में जितनी परिपक्वता आ गयी थी, वह सब पूर्ण रूप से मरसियों में दिखाई देती है। शब्दों और वाक्यांशों का विषय के अनुसार उचित चयन देख ही चुके। उपर्युक्त उदाहरणों में हर जगह भाषा का सुथरापन, मुहावरों का सुन्दर प्रयोग और काव्यप्रवाह देखने को मिल जाता है। दरअस्ल काव्य के गुणों की दृष्टि से कुल मिलाकर मरसिये का मुक़ाबला कोई और काव्यरूप नहीं कर सकता। साथ ही मरसियों में दो गुण—वास्तविक प्रकृति-चित्रण और वात्सल्य रस—ऐसे हैं जो उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम समय तक उर्दू के किसी और काव्य-रूप में नहीं आ सके थे। इन सबके भी एकआध उदाहरण देखिए।

मदीने में छोड़ी जानेवाली बीमार सुग़रा छः महीने के छोटे भाई अली असग़र को विदा कर रही है—

थर्राते हुए हाथ उठाकर वो पुकारी
इस हाथ के इस चाँद से मुखड़े के मैं वारी
आख़िर कोई दिन में है बस अब मौत हमारी
भय्या ! नहीं जीने की मैं फ़ुरक़त में तुम्हारी
फिर आके जब इस झूले को आबाद करोगे
तुम भी मेरी गोदी को बहुत याद करोगे

प्रातः बेला का वर्णन रूपक के साथ देखिए—

आमद वो आफ़ताब की, वह सुबह का समाँ
था जिसकी ज़ौ से वज्द में ताऊसे-आसमाँ
ज़र्रों की रौशनी पे सितारों का था गुमाँ
नहरे-फ़रात बीच में थी मिस्ले कहकशाँ
हर नख़्ल पर ज़ियाए-सरे-कोहे-तूर थी
गोया फ़लक से बारिश-बाराने-नूर थी

रेगिस्तान की गर्मी का वर्णन—

वह गर्मियों के दिन, वो पहाड़ों की राहे-सख़्त
पानी न मंज़िलों न कहीं सायए-दरख़्त
डूबे हुए पसीने में हैं ग़ाज़ियों के रख़्त
सँवला गये हैं रंगे-जवानाने-नेकबख़्त
राकिब अबाएँ चाँद से चेहरे पे डाले हैं
तौसे हुए समन्द ज़बानें निकाले हैं

घोड़े की प्रशंसा अनीस यूँ करते हैं—

जुर्रत में रश्के-शेर तो हैकल म पीलतन
पोई के वक़्त कब्के-दरी, जस्त में हिरन

बिजली किसी जगह तो कहीं अब्रे-क़तराज़न
बन बन के आने जाने में ताऊस का चलन
सीमाब था ज़मीं पे, फ़लक पर सहाब था
दरिया पे मौज था तो फ़लक पर उक़ाब था

और तलवार की तारीफ़ यह है—

चमकी, गिरी, उठी, इधर आयी, उधर गयी
ख़ाली किये परे तो सफ़ें ख़ूँ में भर गयी
काटे कभी क़दम कभी बालाए-सर गयी
नद्दी ग़ज़ब की थी कि चढ़ी और उतर गयी
इक शोर था, ये क्या है जो क़ह्रे-समद नहीं
ऐसा तो रोदे-नील में भी जज़्रो-मद नहीं

प्रमुख मरसिया-गो

उर्दू के प्रारंभिक मरसिया-गोयों के नामों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। मीर ज़मीर ने मरसिये के विषय में विस्तार करके मरसिये का जो उन्नत रूप निर्धारित किया, उसका भी उल्लेख हो चुका। यहाँ यह बात कहना और ज़रूरी है कि मीर ज़मीर ने मरसियों की ज़बान भी पहले से ज्यादा साफ़ कर दी थी और अभी तक के मरसिया-गोयों ने मरसिया में जैसे खड़खड़ाते हुए शब्द भर दिये थे, उन्हें मीर ज़मीर के ज़माने में निकाल दिया गया था। मीर ज़मीर 'नासिख़' के समकालीन थे और कविता में उनसे अत्यधिक प्रभावित। इसलिए ज़बान की सफ़ाई और बन्दिशों की चुस्ती तो उनके यहाँ ख़ूब आ गयी है, लेकिन भावों की स्वाभाविकता, सरलता और प्रभाव उनके यहाँ उनके समकालीन और प्रतिद्वंद्वी मीर ख़लीक़ से कुछ कम हैं। फिर भी उनके यहाँ शब्दों का ओज वही देखने को मिलता है, जो क़सीदों में होता है और इस आधार पर उनके मरसिये अत्यन्त उत्कृष्ट हो गये हैं।

मीर ख़लीक़—मीर ख़लीक़ उर्दू के सबसे प्रसिद्ध मरसिया-गो मीर अनीस के पिता थे। इनके पिता मीर हसन थे, जिनकी मसनवी 'सहरुलबयान' उर्दू की

श्रेष्ठतम मसनवी कही जाती है। मीर हसन के पिता मीर ज़ाहक थे, जिनकी 'सौदा' से हजवों में चोटें चलती थीं। अनीस ने एक जगह गर्वोक्ति की है कि "पाँचवीं पुश्त है शब्बीर की मद्दाही में।" इससे मालूम होता है कि मीर हसन, मीर ज़ाहक तथा ज़ाहक के पिता मीर अज़ीज़ुल्ला ने भी मरसिये लिखे होंगे। लेकिन इन तीनों के मरसिये उपलब्ध नहीं हैं। मीर ख़लीक़ के मरसियों का एक संग्रह अवश्य प्रकाशित हुआ है। उसमें बहुत से मरसिये ऐसे हैं, जो मीर अनीस के नाम से मशहूर हैं। अन्य मरसियों को भी शिबली साहब भाषा और शैली के आधार पर अनीस का ही बताते हैं। दरअस्ल कविता के मामले में भाषा और शैली की इतनी स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खैंची जा सकती, विशेषतः जब दोनों कवि पिता पुत्र हों। फिर शिबली की बात मान ली जाये तो साबित होता है कि मीर ख़लीक़ ने मरसिये लिखे ही नहीं। ऐसा है तो समस्त इतिहास-कारों की यह बात झूठी पड़ जाती है कि मीर ख़लीक़ और मीर ज़मीर अपने काल के अद्वितीय मरसिया-गो थे। दरअस्ल जो मरसिये अनीस और ख़लीक़ दोनों के यहाँ मिलते हैं, उनके बारे में भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे अनीस ने ही लिखे होंगे। पुत्र की रचना पिता के नाम से छपे, इससे अधिक युक्तिसंगत बात तो यह होगी कि पिता ने कुछ मरसिये लिखँकर पुत्र को अपने नाम से पढ़ने को दे दिये हों और बाद में वे पिता की हस्तलिपि में पाये गये हों—विशेषतः ऐसी अवस्था में जब कि एक तो आर्थिक संकट के कारण मीर ख़लीक़ स्वयं लिखकर दूसरों को देने लगे थे और दूसरे मीर अनीस को उन्होंने ग़ज़ल के क्षेत्र से घसीटकर मरसिये के मैदान में ला खड़ा किया। अतएव इन मरसियों पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

मीर ख़लीक़ का घराना दिल्ली का था और उनके परिवार की भाषा भी दिल्ली की थी। इसलिए उनकी भाषा में कहीं-कहीं ठेठ दिल्ली के मुहावरे आ जाते हैं। इसके अतिरिक्त शाब्दिक चमत्कार से अधिक कविता के प्रभाव पर ध्यान देने की दिल्ली की परम्परा का भी उन्होंने पालन किया है। मीर ख़लीक़ से इनकी रचनाएँ प्रभावोत्पादक अधिक हैं और इसी परम्परा को उनके पुत्र मीर अनीस ने बहुत आगे बढ़ा दिया।

मीर बबर अली 'अनीस'—अनीस का जन्म १८०२ ई० में फ़ैज़ाबाद में हुआ था। मुहल्ला गुलाबबाड़ी उनका जन्मस्थान था। कुछ दिनों बाद उनके पिता मीर ख़लीक़ लखनऊ में आकर बस गये। उनकी शिक्षा बहुत अधिक तो नहीं हुई, लेकिन फिर भी उन्होंने अरबी-फ़ारसी अच्छी ख़ासी पढ़ ली। कविता की ओर उनका झुकाव बचपन से ही था और मरसिये भी वे शुरू से ही लिखते थे। ग़ज़लों में उनकी प्रसिद्धि होने लगी तो पिता ने उनको मरसिया ही कहने की ओर प्रेरित किया, क्योंकि मरसिया कहने से धार्मिक कर्तव्य भी पूरा होता था। मीर अनीस के मरसियों की ख्याति उनके पिता के ही समय से होने लगी थी। फ़ैज़ाबाद में यह अपना तख़ल्लुस 'हज़ीं' करते थे, लेकिन लखनऊ आकर उन्होंने नासिख़ के कहने पर तख़ल्लुस बदल दिया। नासिख़ ने आरंभ से ही भविष्यवाणी की थी कि अनीस महाकवि होंगे। यह भविष्य-वाणी सत्य हुई और अनीस का उर्दू काव्य में स्थान इतना ऊँचा हो गया कि लोग उनको 'भारत का शेक्सपियर' और उर्दू कविता का होमर, वर्जिल और वाल्मीकि कहने लगे। उन्होंने उर्दू काव्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति की है।

अनीस ने कई हज़ार मरसिये, सलाम, रुबाइयाँ और क़िते लिखे हैं। कहा जाता है कि उन्होंने ढाई लाख शेर लिखे, लेकिन उनकी समस्त रचनाएँ प्रकाशित नहीं हुई। उनकी जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे पाँच जिल्दों में प्रकाशित हुई हैं। मीर साहब के प्रशंसकों का कहना है कि इनमें से बहुत कुछ बाद में उनके शागिर्दों ने जोड़ा है। मौलवी अब्दुलग़फ़ूर 'नस्साख़' ने एक पुस्तिका मीर अनीस और मिर्ज़ा दबीर की काव्य-संबंधी त्रुटियों के बारे में लिखी थी। इसका उत्तर नासिख़ के शिष्य मिर्ज़ा मुहम्मद रज़ा 'मोजिज़' ने अपनी पुस्तक 'तज़हीरुल-औसाख़' में दिया था। इस पुस्तक में लिखा है कि मुहर्रम की मजलिसों में पढ़ने के ख़्याल से शागिर्दों ने कहीं उनके मरसियों में से कुछ निकाल डाला है, कहीं जोड़ भी दिया है, ताकि (उनकी समझ में) प्रभाव अधिक पड़ सके। इसके अलावा बहुत-से मरसिये श्रोताओं ने मजलिसों में ही जल्दी में लिखे हैं, जिनमें जो स्थान छूट गये हैं, उन्हें दूसरे लोगों ने अपनी ओर से भरा है। इसीलिए भाषा और अभिव्यक्ति संबंधी कई भूलें हो गयी हैं। साथ ही यह भी बात है कि अनीस के ज़माने में ही भाषा में तेज़ी से सुधार हो रहा था, इसलिए उनकी

युवावस्था की रचनाओं में कुछ पुरानापन होना स्वाभाविक है। कुछ भी हो, अनीस की सारी रचनाएँ समतल नहीं हैं, कुछ बहुत ही उत्कृष्ट हैं, कुछ अति साधारण हैं।

डाक्टर रामबाबू सक्सेना ने लिखा है—"इनको शारीरिक व्यायाम का भी बहुत शौक़ था। शस्त्र-सञ्चालन मीर काज़िम अली और उनके बेटे अमीर अली से उन्होंने सीखा था, जो उस समय इस कला में बहुत प्रसिद्ध थे। अनीस अच्छे घुड़सवार भी थे। मरसिये में रणक्षेत्र का दृश्य दिखाने में यह बातें उनकी बहुत सहायक हुईं।" हमें इस कथन पर आश्चर्य है। मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने उनका जो चित्र खैंचा है, उससे मालूम होता है कि अनीस दुबले-पतले गोरे चिट्टे आदमी थे, बदन में ख़ून बहुत कम था। मिम्बर (मंच) पर जाकर मरसिया पढ़ते थे तो पहले कुछ बन्द लोगों को सुनाई ही नहीं देते थे, फिर जब जोश में आते थे तो सारी मजलिस को रुला देते थे। समझ में नहीं आता, किसकी बात सही मानी जाय। जिसे शुरू से कसरत का शौक़ होगा और जो अच्छा घुड़सवार होगा, वह दुर्बल और रक्ताभाव से पीड़ित कैसे होगा? यह ज़रूर है कि डेढ़ सौ वर्ष पूर्वकालीन भारत में अभिजात वर्ग में कसरत, घुड़सवारी, तलवार-बाज़ी, भाला चलाने आदि की शिक्षा का इतना प्रचलन था कि हरएक को उसकी जानकारी थी। चुनाँचे अनीस को भी अगर इन बातों की पूरी जानकारी थी, तो इससे यह साबित नहीं होता कि उन्हें इसका शौक़ भी रहा होगा। बचपन में इन बातों की कुछ शिक्षा भी उन्होंने पायी होगी, लेकिन उनमें उन्नति करने का कोई सबूत नहीं है।

अनीस की प्रकृति में संतोष तथा स्वाभिमान दोनों पर्याप्त मात्रा में थे। अपने घराने की भाषा और लखनवी मुहावरों में जहाँ अन्तर होता था, वे अपने घराने की भाषा का ही प्रयोग करते थे। उनके रहन-सहन का ढंग नियमित था। पहले से सूचना दिये बग़ैर कोई व्यक्ति उनसे नहीं मिल सकता था। अमीरों-रईसों की चापलूसी उन्होंने नहीं की, बल्कि साधारणतः उनसे मिलने में भी परहेज़ करते थे। यहाँ तक कि वाजिद अली शाह द्वारा आयोजित एक मुशायरे में भी वे बड़ी मुश्किल से गये थे। उनकी वेशभूषा भी सदा एक-सी रहती थी। इस वज़ेदारी और उनकी कवित्व-प्रतिभा के कारण उनकी बड़ी प्रतिष्ठा भी थी।

कभी किसीके आगे हाथ नहीं फैलाया फिर भी अमीर-उमरा मरसिया-लेखन के कारण उन्हें काफ़ी धन श्रद्धापूर्वक भेंट कर दिया करते थे। एक बार तो हैदराबाद में नवाब तहव्वुर जंग ने अपने हाथ से उनकी जूतियाँ उठाकर पालकी में रखी थीं।

अवध की नवाबी के समय तक अनीस को कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। अवध शियों का गढ़ था। शासक वर्ग के शिया होने के कारण मुहर्रम की बड़ी धूम थी। मुहर्रम के मातम का समय साधारणतः दस दिन होता है, अवध में पूरे चालीस दिन चिहल्लुम तक मातम किया जाता था। इन दिनों दरबार का सारा काम रुक जाता था और विलासी सामन्तवर्ग अपने भोग-विलास का पूर्ण परित्याग कर देता था। इस काल में जगह-जगह मजलिसें होती थीं, जिनमे करबला-काण्ड का वृत्तान्त सुनाया जाता था और श्रोतागण छाती पीटकर मातम करते थे। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर दबीर को बुलाकर और नवाब वाजिद अली शाह अनीस और दबीर दोनों से मरसिये सुना करते थे। स्पष्ट है कि ऐसे वातावरण में मरसिया-गोयों का कितना सम्मान होता होगा और उन्हें लखनऊ छोड़कर जाने की आवश्यकता क्यों पड़ती होगी।

लेकिन अवध् की नवाबी समाप्त होने पर पुरानी हालत न रही। पहले तो दो-तीन वर्ष अनीस ने यह सोचकर लखनऊ नहीं छोड़ा कि लखनऊ के बाहर उनकी रचनाओं की क़द्र नहीं होगी, किन्तु फिर उन्हें भी परिस्थितियों ने विवश किया कि बाहर की यात्रा करें। उन्होंने दो बार पटना की यात्रा की—एक १८५९ ई० में और दूसरी १८६० ई० में। दूसरी बार पटना से लौटते हुए वे कुछ दिन बनारस में भी रुके थे। फिर १८७१ ई० में वे कुछ दिनों के लिए हैदराबाद गये थे और वापसी में कुछ दिन इलाहाबाद में रहे थे।

अनीस जहाँ-जहाँ भी जाते थे, उनकी मरसिये की मजलिस में हज़ारों की भीड़ लग जाती थी। तारीफ़ की बात यह थी कि उनके मरसिया-पाठ में नाटकीयता बिलकुल न होती थी। गाकर मरसिया पढ़ने का रिवाज तो उनके पिता के ही ज़माने से उठ गया था। किन्तु मीर ख़लीक़ अङ्ग-सञ्चालन द्वारा प्रभाव पैदा किया करते थे, अनीस ने यह भी छोड़ दिया। वे केवल आँख और कभी-कभी कुछ गर्दन हिला देते थे। केवल स्वर के उतार-चढ़ाव के बल पर

श्रोताओं पर जादू डाल देते थे। इस प्रकार मरसिया-पाठ करने का अभ्यास उन्होंने आरंभकाल से ही किया था, जब वे दर्पण सामने रखकर कविता-पाठ का ढंग पक्का करते थे।

अनीस का देहान्त १८७४ ई० में लखनऊ में हुआ और वे अपने घर में ही दफ़्न हुए।

मिर्ज़ा सलामत अली 'दबीर'—अनीस के प्रतिद्वंद्वी दबीर प्रत्येक अर्थ में उनकी टक्कर के कवि थे। वे भी दिल्ली के एक सम्मानित वंश से थे। उनके पिता मिर्ज़ा ग़ुलाम हुसेन दिल्ली उजड़ने के बाद अवध में आकर बस गये और यहीं उन्होंने विवाह किया। शांति स्थापित होने पर वे फिर वहाँ चले गये। दबीर दिल्ली में ही १८०३ ई० में पैदा हुए, लेकिन सात वर्ष की अवस्था में वे लखनऊ आ गये। यहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा बहुत अच्छी तरह से हुई। आरंभ से ही उनकी रुचि मरसिया-लेखन की ओर थी, इसलिए वे मरसिये का कायाकल्प करनेवाले प्रसिद्ध उस्ताद मीर ज़मीर के शागिर्द हो गये। दबीर जन्मजात कवि थे। अतएव शीघ्र ही उनके उस्ताद, लखनऊ के कवि समाज तथा शिया वर्ग ने उनकी अत्यन्त प्रशंसा की और वे बहुत प्रसिद्ध हो गये।

दबीर अपने उस्ताद का बड़ा सम्मान करते थे। मीर अनीस से इनकी प्रतिद्वंद्विता का एक आधार यह भी था कि अनीस इनके उस्ताद के प्रतिद्वंद्वी ख़लीक़ के पुत्र थे। एक बार दबीर से जलन रखनेवाले उनके कुछ प्रतिद्वंद्वियों ने नवाब इफ़्तख़ाँरुद्दौला की मजलिस में मरसिया पढ़ने के दौरान में उनके और मीर ज़मीर के बीच वैमनस्य पैदा कर दिया, किन्तु दोनों पक्षों ने समझदारी से काम लिया और झगड़ा आगे नहीं बढ़ा। उस्ताद शागिर्द फिर आपस में मिल गये।

मीर अनीस जब फ़ैज़ाबाद से आये तो लखनऊ में दबीर का पहले ही रंग जमा हुआ था। फिर भी अनीस ने आते ही अपनी धाक बिठा ली। दोनों के बीच ज़ोरदार काव्य-प्रतिद्वंद्विता पैदा हुई, जिससे दोनों को लाभ हुआ क्योंकि दोनों ने अपनी-अपनी त्रुटियाँ दूर करने का यथासंभव प्रयत्न किया।

अवध की नवाबी की समाप्ति पर दबीर भी अनीस की तरह बहुत दिनों तक लखनऊ में रहे, किन्तु बाद में इन्हें भी बाहर की यात्राएँ करनी पड़ीं।

१८५८ ई० में वे मुर्शिदाबाद गये और १८५९ में पटना। १८७४ में उनकी आँखें ख़राब हो गयी थीं। वाजिद अली शाह ने उन्हें मटिया बुर्ज में बुलवाकर उनका इलाज कराया, जिससे उन्हें फिर दिखाई देने लगा। फिर भी वे अधिक दिनों तक दुनिया न देख सके। १८७५ ई० में लखनऊ में उनका देहावसान हो गया और वे अपने घर में ही दफ़्न किये गये।

मिर्ज़ा दबीर ने लगभग तीन हज़ार मरसिये लिखे हैं। आज के आलोचक चाहे उन्हें मीर अनीस से नीचा दरजा दें, किन्तु यह स्पष्ट है कि अपने ज़माने में उनकी प्रतिष्ठा बहुत अधिक थी। इसका कारण यह था कि उनमें विद्वत्ता बहुत थी और उनकी रचनाओं में कल्पना की उड़ान बहुत ऊँची होती थी। नवाब ग़ाज़ीउद्दीन हैदर तथा नवाब वाजिद अली शाह दोनों नियमित रूप से दबीर को अपने मरसियों की मजलिसों में बुलाया करते थे। बहुत से अमीर-उमरा उनके शागिर्द हो गये। यहाँ तक कि बेगमें और सामन्तवर्ग की अन्य महिलाएँ भी उनकी शिष्या हो गयीं। मिर्ज़ा रजब अली बेग 'सरूर' ने अपनी कथा पुस्तक 'फ़सानए अजायब' में मिर्ज़ा दबीर की मरसिया-गोई का उल्लेख किया है।

दबीर के पुत्र मिर्ज़ा मुहम्मद जाफ़र 'औज' भी मरसिया-लेखन में पटु थे। उन्होंने अपने पिता की ही शैली अपनायी। अपने पिता की ही भाँति वे भी बड़े विद्वान् और काव्यशास्त्र में अत्यन्त निपुण थे। छन्दःशास्त्र सम्ब्रन्धी एक पुस्तिका भी उन्होंने लिखी है। उनके मरसिये भी पटना, रामपुर और हैदराबाद के दरबारों में प्रसिद्ध हुए थे और इन जगहों तथा लखनऊ के रईसों से उन्हें मरसिया-पाठ के लिए प्रचुर धन प्राप्त हुआ था।

अनीस और दबीर की तुलना—अनीस और दबीर की तुलना उर्दू काव्यालोचना का प्रमुख अंग-सी बन गयी है। स्वयं उनके काल में तो यह हाल था कि मरसियों के शौक़ीन दो गिरोहों में बँट गये थे। अनीस के प्रशंसक 'अनीसिए' कहलाते थे और दबीर के 'दबीरिए'। ये लोग मजलिसों में पहुँचते और अपने प्रशंसा-पात्र के प्रतिद्वंद्वी के मंच पर आते ही उसकी त्रुटियों को खोज-खोजकर निकालते थे। चूँकि तहज़ीब और तकल्लुफ़ का ज़माना था, साथ ही मजलिसों का वातावरण धार्मिक होता था, इसलिए यह आलोचना भी

व्याजस्तुति में ही होती थी यानी त्रुटि पर ही ख़ूब वाह-वाह की जाती थी। इनके अलावा भी लेख और पुस्तिकाएँ लिखी जाती थीं। हाँ, अनीस और दबीर की प्रशंसा करनी पड़ेगी कि उन्होंने इन बातों को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया और अंत तक परस्पर मैत्री क़ायम रखी। कहा जाता है कि अनीस के मरने के बाद दबीर ने भी मरसिये कहना छोड़ दिया था और कहा करते थे, "तूरे-सीना बेकलीम उल्लाह-ओ-मिम्बर बे अनीस।"

इन दोनों के समय में और उसके बाद भी बहुत दिनों तक दोनों को बराबरी का मरसिया-गो माना जाता रहा, किन्तु शिबली के 'मवाज़िनए-अनीसो-दबीर' के प्रकाशन के बाद से अनीस को दबीर से श्रेष्ठ कवि कहा जाने लगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि मौलाना शिबली ने दबीर को ज़रूरत से ज्यादा नीचा शायर मानकर संतुलित आलोचना का सबूत नहीं दिया है और ऐसे कुछ शेर और मिसरे उनके द्वारा रचित कहकर उन्हें निकृष्ट ठहराया है, जो दबीर ने लिखे ही नहीं। फिर भी आधुनिक रुचि का दबीर की बजाय अनीस की ओर अधिक झुकना बिल्कुल समझ में आनेवाली बात है। वास्तविकता यह है कि अनीस और दबीर में वही अंतर है जो 'मीर' और 'सौदा', 'ग़ालिब' और 'ज़ौक़', 'आतिश' और 'नासिख़', मीर हसन और 'नसीम' तथा मीर अम्मन और रजब अली बेग 'सरूर' में है। 'मीर', 'ग़ालिब', 'आतिश', 'अम्मन' और 'हसन' स्वाभाविक अनुभूतियों और संवेदनाओं के चित्रकार हैं। उनके प्रतिद्वंद्वियों का अधिकतर ध्यान आकारवाद की प्रतिष्ठा की रक्षा तथा कल्पना की उड़ान के द्वारा नयी-नयी सूक्तियों की खोज पर लगा रहता है। प्रथम पक्ष आन्तरिक सौन्दर्य पर ध्यान केन्द्रित करता है और दूसरा पक्ष बाह्य सौन्दर्य पर। अनीस और दबीर के यहाँ भी यही चीज देखने को मिलती है। अनीस हृदय को द्रवित कर देने में कमाल करते हैं, दबीर नये-नये जगमगाते शब्दों के प्रयोग और अतिशयोक्ति को बहुत आगे बढ़ाकर कल्पना की उड़ान के प्रदर्शन में विश्वास करते हैं। 'मीर' और 'सौदा' की तरह अनीस और दबीर के बारे में भी कहा जा सकता है कि एक का कलाम 'आह' है और दूसरे का 'वाह'। इसी आधार पर पुराने आलोचकों ने लिख दिया है कि अनीस के यहाँ केवल 'बैन' अच्छा है।

आधुनिक आलोचक भी मानते हैं कि अनीस के यहाँ करुणा तो अधिक प्रभावोत्पादक है, किन्तु रण-वर्णन दबीर-जैसा नहीं है।

अब इन विशेषताओं को युग की रुचि की कसौटी पर परखिए। शाहजहाँ और औरंगज़ेब के काल की भारतीय फ़ारसी कविता और उन्नीसवीं शताब्दी की उर्दू कविता के क्षेत्र में संवेदना के नये क्षेत्र न खुल पाने और पुरानी संवेदनाओं के बेजान हो जाने के कारण अधिक ध्यान सूक्तियों के सर्जन और भाषा के सौष्ठव की ओर हो गया था। इसीलिए अपने-अपने युग में आकारवादियों का अधिक प्राबल्य रहा। किन्तु आधुनिक युग में अंग्रेज़ी काव्य के संसर्ग से मान्यताएँ बदल गयीं और आकारवाद लोगों को प्रसन्न करने की बजाय उबाने लगा। यही कारण है कि आज का साहित्य-प्रेमी प्राचीन काव्य में वही चीज़ अधिक चाहता है जो उसकी संवेदना को जगा दे और भावनाओं में हिलोर पैदा कर दे। इसी कारण वर्तमान शताब्दी में अनीस का अधिक मान है, यद्यपि दबीर भी उनसे कुछ कम कुशल शिल्पी नहीं हैं।

अन्य मरसिया-लेखक—यूँ तो मरसिया-लेखन के धार्मिक कृत्य होने के कारण मरसिया-लेखकों की कभी कमी नहीं रही है, किन्तु उनमें मशहूर कम ही हुए हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ख़लीक़ और ज़मीर के समकालीन दिलगीर और फ़सीह थे, लेकिन ये जल्द ही मैदान छोड़ गये। अनीस के समकालीनों में अफ़सुर्दा, नाज़िम, सिकन्दर, गदा और अहसन का नाम लिया जा सकता है।

स्वयं अनीस के घराने में मीर मूनिस, मीर नफ़ीस, आरिफ़ और जलीस के नाम प्रसिद्ध हैं। मीर मूनिस अनीस के छोटे भाई थे। वे मरसिया पढ़ते बहुत अच्छा थे। महमूदाबाद के राजा अमीर हसन ख़ाँ मरसिये में उनके शिष्य थे और उन्हें अच्छा वेतन देते थे। मीर ख़ुरशीद अली 'नफ़ीस' अनीस के बड़े लड़के थे। उन्होंने अपने पिता के शिष्यत्व में उनकी परम्परा निबाही। नफ़ीस के छोटे भाई सलीस और रईस भी मरसिया-गो थे, लेकिन नफ़ीस से कहीं कम नाम पाया। किन्तु सलीस के पुत्र (अनीस के पौत्र) मीर जलीस अपनी ग़ज़लों और मरसियों के लिए काफ़ी प्रसिद्ध रहे हैं। किन्तु जलीस से भी अधिक प्रसिद्ध सय्यद अली मुहम्मद आरिफ़ थे। यह मीर नफ़ीस के नवासे (दौहित्र)

थे। इनका जन्म १८५९ ई० में हुआ। इन्हें मीर नफ़ीस ने ही शिक्षा दिलायी और कविता में इनका मार्ग-प्रदर्शन किया। महमूदाबाद के महाराजा सर मुहम्मद अली मुहम्मद खाँ मरसिये में इनके शागिर्द थे और इन्हें सवा सौ रुपया महीना वेतन दिया करते थे। अपने ज़माने में यह लखनऊ के प्रमुख कवि और मरसिया-लेखक माने जाते हैं। इन्होंने मरसियों में मूल कथा की ओर अधिक ध्यान दिया और प्यारे साहब रशीद की तरह अन्य अंग-बहार, साक़ीनामा आदि—जोड़ने के चक्कर में नहीं पड़े। १९१६ ई० के लगभग इनका देहांत हुआ।

अनीस के घराने के अलावा उन्नीसवीं शताब्दी में सय्यद मिर्ज़ा उन्स का घराना भी मरसिया-लेखन के लिए प्रसिद्ध रहा है। मिर्ज़ा उन्स का दीवान प्रकाशित नहीं हुआ, उनके घराने में ही सुरक्षित रखा है। नवाबी ज़माने में वे प्रत्येक रविवार को अपने घर मुशायरा करते थे, जिसमें आतिश और नासिख़ के प्रमुख शिष्य तथा उस समय के अन्य प्रसिद्ध कवि भाग लिया करते थे। मिर्ज़ा उन्स का देहान्त १८८५ ई० में हुआ। इनके बड़े पुत्र हुसेन मिर्ज़ा 'इश्क़' अनीस और दबीर के समकालीन थे और श्रेष्ठ तथा निर्दोष रचना करते थे, किन्तु इनकी ख्याति उन दोनों से कहीं कम हुई। 'इश्क़' के तीसरे भाई सैयद मिर्ज़ा 'तमश्शुक़' लखनऊ में सय्यद साहब के नाम से प्रसिद्ध थे। मरसिया और ग़ज़ल कहने में बेजोड़ थे। चूंकि वे अपने बड़े भाई के प्रतिद्वंद्वी कहलाना नहीं चाहते थे, इसलिए बहुत दिनों तक करबला में ही रहे और इश्क़ के मरने पर वहाँ से लौटे। मीर अनीस उनके बड़े मित्र थे। तअश्शुक़ की ख्याति अपने काल में ख़ूब रही। तअश्शुक़ के बड़े भाई अहमद मिर्ज़ा 'साबिर' वाजिद अली शाह की बेगम मलिका जहाँ की ड्योढ़ी के दारोग़ा थे और अच्छे कवि थे। वाजिद अली शाह के पद्यमय प्रेम-पत्रों का बेगम की ओर से पद्यमय उत्तर लिखा करते थे। इन्हें मीर अनीस की पुत्री ब्याही थीं। इस विवाह से दोनों मरसिया-गोयों के घरानों में रिश्तेदारी भी हो गयी।

इस वंश के सबसे प्रसिद्ध मरसिया-गो और कवि प्यारे साहब रशीद थे। यह 'साबिर' के पुत्र और अनीस के दौहित्र थे। इन्हें अनीस के पुत्र मीर अस्करी

की बेटी ब्याही थीं। रशीद अनीस की परम्परा में थे। उन्होंने मरसिये, ग़ज़लें, सलाम, रुबाइयाँ आदि बहुत लिखी हैं। मरसिये में दो अंग-बहार और साक़ी-नामा इन्हींने जोड़े हैं। इन्होंने रामपुर और हैदराबाद के दरबारों में मरसिये पढ़कर प्रशंसा प्राप्त की। ये कलकत्ता, कानपुर आदि में भी मरसिये पढ़ने जाते थे। १९१८ ई० में इनका देहान्त हो गया।

: ८ :

अंग्रेज़ी साहित्य का प्रभाव और नया युग

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में फ़ोर्ट विलियम कालेज के नेतृत्व में उर्दू गद्य-लेखन का जो सूत्रपात हुआ वह आरंभ से ही अंग्रेज़ी रुचि के अनुसार हुआ। 'गोया' और 'सरूर' ने थोड़ा-बहुत फ़ारसी गद्य की परिपाटी को भी उर्दू की साहित्यिक गद्य में चलाना चाहा, किन्तु वे इस प्रयत्न में सफल नहीं हुए। अतएव गद्य-लेखन की परम्परा आरंभ से ही उर्दू में फ़ारसी की परम्परा से भिन्न रही। यूँ तो कालान्तर में उर्दू काव्य में भी यूरोपीय प्रभाव पड़ा और ख़ास तौर पर 'हाली' और 'आज़ाद' के आन्दोलन के फलस्वरूप यूरोपीय कविता के काफ़ी तत्त्व उर्दू कविता में ले लिये गये, फिर भी फ़ारसी की काव्य-परम्परा बहुत दृढ़ थी और उर्दू काव्य से उसे हटाने के सारे प्रयत्न विफल हुए हैं। किन्तु फ़ोर्ट विलियम कालेज के लेखन-काल के बाद भी उर्दू गद्य-लेखन की परम्परा वही सरलतापूर्ण और प्रवाहयुक्त भाषा की रही और उर्दू गद्य के अधिकांश नमूने ऐसे मिलते हैं, जिनका शब्दशः अनुवाद अंग्रेज़ी में किया जाय तो अँगरेज़ों को पढ़ने में कुछ अजीब न मालूम हो।

फ़ोर्ट विलियम कालेज के समय की गद्य रचनाएँ मुख्यतः अनुवाद हैं। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मौलिक गद्य-लेखन की परम्परा चल पड़ी और अनुवाद क्षेत्र में भी फ़ारसी की कहानियाँ और नैतिक उपदेशों की बजाय अंग्रेज़ी से गंभीर कोटि के विषयों को उर्दू में भाषान्तरित किया जाने लगा।

उर्दू में इस नवजागरण की लहर दिल्ली कालेज की स्थापना के फलस्वरूप आयी। इस कालेज की स्थापना उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में हुई थी। १८२७ ई० से इसमें अंग्रेज़ी पढ़ायी जाने लगी। १८४३ ई० में यह कालेज बादशाही पुस्तकालय में आ गया और इससे एक वर्ष पूर्व दिल्ली कालेज सोसाइटी की

स्थापना हो गयी थी, जिसके तत्वावधान में अंग्रेज़ी से गंभीर विषयों पर उर्दू में पुस्तकें अनूदित की गयीं। दुर्भाग्य से १८५७ के विद्रोह में दिल्ली कालेज भी समाप्त हो गया, किन्तु वह अपना काम पूरा कर गया। १८३२ ई० में कम्पनी की सरकार ने फ़ारसी की बजाय उर्दू को अदालती भाषा के रूप में मान्यता दे दी, जिसके कारण उर्दू को बड़ा बल मिला। इसके अतिरिक्त १८३७ ई० में कानपुर और दिल्ली तथा उसके पश्चात् लखनऊ में लीथो प्रेस खुलने के कारण उर्दू पुस्तकों के प्रकाशन में बड़ी सहायता मिली।

सर सय्यद अहमद खाँ—मुसलमानों में नयी जागृति पैदा करने में सर-सय्यद ने जो सामाजिक और शैक्षणिक सेवाएँ की हैं, वह तो प्रसिद्ध हैं ही, उर्दू भाषा और गद्य पर भी उनके कम अहसान नहीं हैं। इनके पूर्व पुरुष शाहजहाँ के समय में ईरान से भारत आये और दरबारी अमीरों में हो गये। इनके पितामह को 'जौवादुद्दौला' की उपाधि आलमगीर द्वितीय के समय में मिली थी। अकबर शाह द्वितीय ने सर सय्यद के पिता मीर तक़ी को मन्त्रिपद देना चाहा तो उन्होंने अपने संतोषी स्वभाव के कारण उसे अस्वीकार कर दिया। सर सय्यद का जन्म १८१७ ई० में दिल्ली में हुआ। उनकी माँ अज़ीमुन्निसा बेगम बड़ी शिक्षित तथा योग्य महिला थीं, उन्होंने सर सय्यद को शिक्षा दी। अपने बचपन में सर सय्यद के 'ग़ालिब', 'मोमिन', 'शेफ़्ता', 'आज़ुर्दा' आदि साहित्यिकों से घनिष्ठ सम्बन्ध थे और 'ग़ालिब' से तो इतना हेल-मेल था कि सर सय्यद उन्हें चचा कहा करते थे। १७३८ ई० में सर सय्यद ने नौकरी शुरू की। पहले सरिश्तेदार हुए, फिर उन्नति करते-करते १८४६ में सदर अमीन (सिविल जज) हो गये। इसी पद पर उनका बिजनौर, ग़ाज़ीपुर, बनारस, मुरादाबाद और अलीगढ़ को तबादला हुआ। १८७८ ई० में उन्होंने नौकरी से अवकाशग्रहण कर लिया।

१८५७ ई० के विद्रोह में उन्होंने अँगरेजों की बड़ी सहायता की। इसके इनाम में सरकार ने उन्हें एक ताल्लुक़ा देना चाहा था, किन्तु उन्होंने इनकार कर दिया। नौकरी के ही ज़माने में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आसारुस्सना-दीद' लिखी। १८६२ ई० में ग़ाज़ीपुर पहुँचने पर उन्होंने एक साइण्टिफ़िक सोसाइटी बनायी और १८६४ ई० में अलीगढ़ आने पर यहाँ भी वही संस्था

खोली। एक अंग्रेज़ी स्कूल १८६१ में मुरादाबाद में और दूसरा १८६४ में ग़ाज़ीपुर में खोला। १८७७ ई० में उन्होंने अलीगढ़ में मुहमडन कालेज खोला जो आज विख्यात मुस्लिम यूनीवर्सिटी है। इस कालेज की उन्नति के लिए वे अन्त तक अथक परिश्रम करते रहे। १८९६ ई० में वे एक वर्ष के लिए इंग्लैण्ड गये और वापस आकर उन्होंने अपनी पत्रिका 'तहज़ीबुल इख़लाक़' निकाली। १८९८ ई० में उनका देहान्त हो गया और वे अपने कालेज की मसजिद में दफ़्न हुए।

सर सय्यद बड़े निर्भय समाज-सुधारक थे। उन्हें पुरातनवादी मुल्लाओं के घोर विरोध का सारे जीवन सामना करना पड़ा, किन्तु उन्होंने विघ्न-बाधाओं की कभी चिन्ता नहीं की। उन्होंने जो किताबें लिखीं, उनकी सूची लम्बी है। इनमें अधिकतर इस्लाम की बुद्धिवादी व्याख्या से सम्बन्धित हैं और कुछ इतिहास-संबंधी।

सर सय्यद की लेखन-शैली साफ़ और सादी है, किन्तु उसमें ओज और प्रवाह की कमी नहीं है। कठिन विषयों को भी सरलता से निभा जाते हैं। कभी-कभी विनोद का हलका-सा पुट आ जाता है। व्याकरण संबंधी नियमों की कभी-कभी वे उपेक्षा भी कर देते हैं। उनके गद्य का नमूना 'तहज़ीबुल इख़लाक़' में लिखे हुए उनके एक लेख 'रस्मो रिवाज' के निम्नलिखित उद्धरण से मालूम होगा—

"जो रसूमो-आदात कि ब-मुक़्तज़ाए-आबो-हवा किसी मुल्क में रायज हुई हैं उनके सही और दुरुस्त होने में कुछ शुबह नहीं क्योंकि वह आदतें क़ुदरत और फ़ितरत ने उनको सिखायी हैं जिसके सच होने में कुछ शुबह नहीं; मगर सिर्फ़ उनके बरताव का तरीक़ा ग़ौरतलब बाक़ी रहता है। मसलन हम यह बात देखते हैं कि कश्मीर में और लंदन में सर्दी के सबब इंसान को आग से गर्म होने की जरूरत है; पस आग का इस्तेमाल एक निहायत सच्ची और सही आदत दोनों मुल्कों की क़ौमों में है। मगर अब हमको यह देखना है कि आग के इस्तेमाल के लिए यह बात बेहतर है कि मकानात में हिन्दी क़वायद से आतिशख़ाना बनाकर आग की गर्मी से फ़ायदा उठावें या मिट्टी की काँगड़ियों में आग जलाकर गर्दन में लटकाये फिरें जिससे गोरा-गोरा पेट और सीना काला और भोंडा हो जाये।"

प्रोफ़ेसर रामचन्द्र—प्रो० रामचन्द्र दिल्ली कालेज के प्रमुख अध्यापकों में से थे और गणित के विशेषज्ञ थे। यह ईसाई हो गये थे। इस बात से इन्हें इतनी भर्त्सना मिली थी कि यह बड़े कटु हो गये थे, लेकिन दिल के बहुत अच्छे आदमी थे। गणित के अतिरिक्त, जिसमें वे यूरोप तक प्रसिद्ध हो गये थे, उनकी फ़ारसी और अरबी में भी पैठ थी। वे बाद में शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर भी हो गये थें। उन्होंने अंग्रेज़ी और अरबी पुस्तकों से छाँटकर रोम और यूनान के विद्वानों का वृत्तान्त 'तज़किरतुल्कामिलीन' के नाम से लिखा था। इसके अलावा 'उसूले-इल्मे-हैयत' और 'अजायबे-रोज़गार' नाम से दो विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें भी लिखी हैं। प्रो० रामचन्द्र की लेखन-शैली भी सादी और सरल है। उसमें पुराने तरीक़े की अनुप्रासयुक्त और लच्छेदार शब्दावली कहीं नहीं है। कहीं-कहीं अरबी के शब्द अधिक आ जाते हैं। प्रख्यात गद्यलेखक नज़ीर अहमद, ज़काउल्ला और मुहम्मद हुसैन आज़ाद प्रो० रामचन्द्र के प्रिय शिष्यों में से थे।

इस ज़माने के दो और गद्यलेखक पुराने ढंग की अनुप्रासयुक्त और लच्छेदार इबारत लिखने में प्रसिद्ध हुए हैं। एक तो मौलाना ग़ुलाम इमाम 'शहीद' हैं, जो अधिकतर धार्मिक विषयों पर गद्य और पद्य में लिखते थे और दूसरे मुंशी ग़ुलाम ग़ौस 'बेख़बर', जो 'ग़ालिब' के प्रिय मित्रों में से थे। मौलाना 'शहीद' इलाहाबाद में पेशकार थे लेकिन हैदराबाद और रामपुर के दरबारों में भी इनकी क़द्र थी। इनकी पुस्तकें 'मजमूअ-ए-मीलादे-शरीफ़' और 'बहारे-बेख़िज़ाँ' हैं। बेख़बर १८२५ ई० में नेपाल में पैदा हुए थे। पश्चिमोत्तर प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के लेफ्टीनेण्ट गवर्नर के मीरमुंशी थे। १८८५ ई० में इन्होंने पेंशिन ली और १९०५ ई० में इनका देहान्त हुआ। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—'ख़ूनाब-ए-जिगर' और 'फ़ुग़ाने-बेख़बर'।

नज़ीर अहमद—उर्दू के प्रथम उपन्यासकारों में मौलवी नज़ीर अहमद का नाम काफ़ी प्रसिद्ध है। यह १८३१ ई० में बिजनौर के राहर नामक गाँव में पैदा हुए थे। १८४५ ई० में वे दिल्ली आ गये। यहाँ पहले मौलवी अब्दुल ख़ालिक़ से पढ़े, जिनकी पौत्री से बाद में उनका विवाह हो गया। फिर वे दिल्ली कालेज में पढ़ने लगे। 'हाली', मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद', ज़काउल्ला आदि

उनके सहपाठी थे। कालेज छोड़ने पर उन्होंने बीस या पच्चीस रुपये मासिक पर पंजाब में अध्यापन-कार्य आरंभ किया। धीरे-धीरे यह इंस्पेक्टर आफ़ स्कूल्स हो गये। ग़दर में इन्होंने एक अँगरेज महिला की प्राणरक्षा की थी, जिस पर इन्हें पदक और पुरस्कार मिला। १८६१ ई० में उन्होंने इण्डियन पीनल कोड का 'ताज़ीराते-हिन्द' के नाम से अनुवाद किया। अब यह पहले तहसीलदार और फिर डिप्टीकलेक्टर बन्दोबस्त बना दिये गये। फिर इन्हें हैदराबाद बुला लिया गया, जहाँ यह उन्नति करते-करते मेम्बर बोर्ड आफ़ रेवेन्यू के पद तक पहुँच गये। हैदराबाद से पेंशिन लेने के बाद ये दिल्ली आ गये और साहित्य-सेवा तथा धर्मकार्य में लग गये। इनका देहावसान १९१२ ई० में हो गया। इन्हें १८९० ई० में सरकार से 'शमसुलउलेमा', १९०२ ई० में एडिंबरा यूनी-वर्सिटी से एल-एल० डी० तथा १९१० ई० में पंजाब यूनीवर्सिटी से डी० ओ० एल० की उपाधियाँ मिलीं। इन्होंने लगभग तीस पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें 'मिरातुलउरूस', 'बिनातुन्नाश', 'तौबतुन्नुसूह', 'इब्नुलवक़्त' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी गद्य में सादगी और सरलता है, किन्तु कुछ फीकापन भी है। अरबी फ़ारसी के शब्द भी प्रयोग करते हैं, लेकिन वह प्रवाह में कभी-कभी रुकावट डालते हैं। फिर भी कहानी के विकास में इस सादी भाषा से बड़ी सहायता मिली है। इनकी भाषा का नमूना तौबतुन्नुसूह के निम्नलिखित उद्धरण से मालूम होगा—

"नुसूह ने नमाज़े-अस्र से फ़ारिग़ होकर मँझले बेटे अलीम को पुछवाया कि देखो मदरसे से आये या नहीं। मालूम हुआ कि अभी आये हैं और कपड़े उतार रहे हैं तो कहला भेजा कि अपनी ज़रूरतों से फ़ारिग़ होकर ज़रा की ज़रा मेरे पास हो जायँ। थोड़ी देर में अलीम मदरसे का लिबास उतार किताबें ठिकाने से रख बाप की ख़िदमत में जा हाज़िर हुआ। देखते ही बाप ने कहा 'आओ साहब ! आजकल तो मैंने सुना है तुमको बहुत ही मेहनत करनी पड़ रही है।'

ज़काउल्ला—मौलवी ज़काउल्ला ने अपना जीवन भारतीय विद्यार्थियों के शिक्षण के लिए अर्पित कर दिया था। इनके पिता का नाम हाफ़िज़ सना-उल्ला था, जो बहादुरशाह द्वितीय के सब से छोटे पुत्र मिर्ज़ा कोचक सुल्तान के

शिक्षक थे। मौलवी ज़काउल्ला १८३२ ई० में दिल्ली में पैदा हुए। बारह वर्ष की अवस्था में दिल्ली कालेज में दाख़िल हुए। शिक्षा पूरी करने के बाद वहीं गणित पढ़ाने लगे। बाद में आगरा कालेज में उर्दू-फ़ारसी के प्राध्यापक हो गये और सात वर्ष तक रहे। १८५५ में डिप्टी इंस्पेक्टर आफ़ स्कूल्स हुए और ११ वर्षों तक बुलन्दशहर और मुरादाबाद में काम किया। १८६९ में दिल्ली नॉर्मल स्कूल के हेडमास्टर हुए और १८७२ ई० में म्योर सेन्ट्रल कालेज में फ़ारसी-अरबी पढ़ने लगे। ३६ वर्ष की नौकरी के बाद १८८६ ई० में पेंशिन ली और १९१० ई० में देहान्त हुआ। १८५६ ई० से अन्त तक वे साहित्यिक क्षेत्र में रहे। उन्होंने १४३ पुस्तकें लिखीं, साथ ही प्रमुख उर्दू पत्रिकाओं में उनके लेख भी छपते रहते थे। वे प्रत्येक विषय पर लिख सकते थे, किन्तु उन्होंने कोई ऐसी पुस्तक नहीं छोड़ी है, जिसे साहित्य में प्रमुख स्थान दिया जाय। सरकार ने उन्हें शमसुलउलेमा की उपाधि दी और सर सय्यद के प्रमुख सहायक होने के कारण उनका मान भी बहुत था।

मौलवी ज़काउल्ला नये ढंग की सरल, किन्तु आकर्षक उर्दू लिखते थे। उसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द कुछ अधिक होते थे, यद्यपि उनका प्रयोग बड़े सुथराव के साथ हुआ है। उनकी सरल भाषा का नमूना निम्नलिखित है—

"हवा में क्या अनोखी सिफ़ात हैं कि जब ऊपर जाये तो आसमान बन जाये और नीचे रहे तो जब तक ख़ाक उड़ाकर हमारे चेहरों पर न मले तो मालूम ही न हो कि वह मौजूद है। जब दरख़्तों के पत्तों की खड़खड़ और चिड़ियों की चूं-चूं की आवाज़ कान में आय तो मालूम हो कि हवा छुपी हुई अपने रूप में बहरूप भर रही है।"

नवाब मेहदी अली ख़ां 'मुहसिनुलमुल्क'—यह सर सय्यद अहमद के सबसे बड़े सहयोगी थे। १८३८ ई० में इटावा में पैदा हुए थे। इन्होंने दस रुपया महीना पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी में क्लर्की शुरू की और उन्नति करते-करते १८६१ ई० में तहसीलदार और १८६७ ई० में डिप्टी कलक्टर हो गये। फिर १८७२ ई० में हैदराबाद में राजस्व विभाग के इन्स्पेक्टर जनरल हो गये जहाँ उन्नति करके १८७६ ई० में मालमन्त्री और १८८२ ई० में वित्तीय तथा राजनीतिक सचिव के पद पर पहुँचे। वहीं उन्हें 'मुनीर नवाज़ जंग', 'मुहसिनिद्दौला'

और 'मुहसिनुलमुल्क' के ख़िताब मिले। वे इंग्लैंड भी गये थे, जहाँ उन्होंने प्रधानमन्त्री ग्लैडस्टन से भेंट की। अवकाश-ग्रहण के बाद अन्त समय तक अलीगढ़ में रहे। उनका देहावसान १९०७ ई० में हुआ। पहले यह सर सय्यद के विरोधी थे और इन्होंने १८६३ ई० में उनके विरुद्ध एक लेख लिखा था। फिर धीरे-धीरे ये उनसे प्रभावित हुए और उनके बड़े सहायक बन गये। इनकी अधिकतर रचनाएँ लेखों के रूप में हैं, जो अधिकतर धर्म और इतिहास से सम्बद्ध हैं। केवल एक पुस्तक 'लयात बन्नियात' धर्म संबंधी लिखी है और एक पुस्तक का अनुवाद किया है। इनके लेखों में सरलता और प्रवाह के साथ ही साहित्यिकता भी प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। भाषा का नमूना यह है—

"जब मैं इस तिलिस्मख़ाने की मग़रिबी जानिब पहुँचा तो एक चारदीवारी देखी जो मेरे ख़याल से भी ज़ियादा मज़बूत थी। क़ुदरत ने ऐसा सुनहरा रंग दिया था कि जब सूरज की किरन उस पर पड़ती तो वह दीवारे-ज़र निगार कुन्दन की तरह चमकती जिससे आँखों को चकाचौंध हो जाती।"

इनके अलावा नवाब मुश्ताक़ हुसेन 'विक़ारुल-मुल्क' (१८३९–१९१७) और मौलवी चिराग़ अली (१८४४–९८) भी सर सय्यद के प्रमुख साथियों में थे। ये दोनों ब्रिटिश सरकार की नौकरी करने के बाद हैदराबाद चले गये थे। मौलवी चिराग़ अली बड़े विद्वान् थे। उन्होंने धर्म और इतिहास-संबंधी पाँच-छः पुस्तकें लिखीं। उनकी भाषा बड़ी ज़ोरदार है, यद्यपि उसमें साहित्यिक गुण कम हैं।

उर्दू पर अंग्रेज़ी के मेल-जोल से सर सय्यद और उनके साथियों द्वारा गद्य के क्षेत्र में जो प्रभाव पड़ रहे थे, उनकी छाया पद्य पर भी पड़ी। अभी तक उर्दू काव्य पर पूर्णतः फ़ारसी का ही आधिपत्य था। विषयवस्तु और अभिव्यक्ति की शैली, दोनों में फ़ारसी का ही बोलबाला दिखायी देता था, यद्यपि भाषा को 'दाग़' और उनके समकालीनों ने पूर्णतः भारतीय बना दिया था। किन्तु नये ज़माने को देखते हुए चेतना को केवल भौतिक और आध्यात्मिक प्रेम और अभिव्यक्ति को केवल प्रियतम तथा गुलो-बुलबुल और शमा-परवाने तक सीमित रखना नव-जागरणवादियों को अच्छा न लगा और मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' और ख़्वाजा अल्ताफ़ हुसेन 'हाली' ने प्रकृति-चित्रण,

सामाजिक उन्नति आदि के नये विषय लाकर और ग़ज़ल तथा क़सीदे की बजाय नज़्म पर ज़ोर देकर नया क्षेत्र खोल दिया और पुराने साहित्यिक मूल्यों, अतिशयोक्ति आदि, के विरुद्ध जिहाद बोल दिया।

मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद'—मौलाना मुहम्मद हुसेन आज़ाद उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में दिल्ली में पैदा हुए थे। उनके पिता मौलवी बाक़र अली 'ज़ौक़' के घनिष्ठ मित्रों में से थे। 'आज़ाद' भी 'ज़ौक़' के शागिर्द हो गये थे। उन्होंने दिल्ली कालेज में भी पढ़ा था। १८५७ ई० के विद्रोह में मौलवी बाक़र अली मारे गये और 'आज़ाद' का घर भी लुट गया और उनकी पूर्णतः तथा उनके उस्ताद 'ज़ौक़' की अधिकतर काव्य-कृतियाँ नष्ट हो गयीं। अब वे जीविका को खोज में निकले। कुछ दिनों तक लखनऊ में फ़ौजी स्कूल में अध्यापक रहे। १८६४ ई० में वे लाहौर गये और गवर्नर के मीर मुंशी पण्डित मनफूल से मिले और उनकी सिफ़ारिश से शिक्षा-विभाग में पन्द्रह रुपये मासिक पर नौकर हो गये। शिक्षा विभाग के डायरेक्टर मेजर फुलर ने उनसे कई लाभप्रद पाठ्य-पुस्तकें लिखवायीं। 'आज़ाद' ने 'अंजुमने पंजाब' की स्थापना में भी प्रमुख भाग लिया और जब १८७६ ई० में कर्नल हालराइड शिक्षा-संचालक हुए तो उन्होंने 'आज़ाद' के द्वारा अंजुमन के तत्वावधान में नयी तरह के मुशायरों को नींव डलवायी, जिसमें मिसरा तरह की बजाय काव्य-विषय दिया जाता था। 'आज़ाद' ने १८६५ और १८८३ ई० में दो बार ईरान की यात्रा की। उन्हें फ़ारसी से रुचि तो पहले भी थी, ईरान जाकर वे आधुनिक फ़ारसी से भी परिचित हो गये। कर्नल हालराइड ने उन्हें पहले 'अतालीके-पंजाब' और फिर 'पंजाब मेगेज़ीन' में सहायक सम्पादक भी नियुक्त किया। इसके बाद वे लाहौर के गवर्नमेंट कालेज में अरबी-फ़ारसी के प्राध्यापक हो गये। १८८७ ई० में महारानी विक्टोरिया की स्वर्ण-जयन्ती पर उन्हें 'शमसुल उलेमा' की उपाधि मिली, किन्तु दो वर्ष बाद अथक परिश्रम और अपनी पुत्री की मृत्यु के कारण उनका मस्तिष्क विकृत हो गया। २६ जनवरी १९१० ई० को उनका देहान्त हो गया।

'आज़ाद' की रचनाओं की सूची यह है—(१) फ़ारसी रीडर—दो भाग, (२) पुरानी उर्दू रीडर—दो भाग, (३) क़ायदा और क़वायदे-

उर्दू, (४) जामेउल-क़वायद, (५) क़ससे-हिन्द—२ भाग, (६) नयी उर्दू रीडर—३ भाग, (७) आबे-हयात, (८) नैरंगे-ख़याल, (९) सुख़न-दाने-फ़ारस, (१०) क़न्दे-पारसी, (११) नसीहत का करनफूल, (१२) दीवाने-ज़ौक़, (१३) नज़्मे-आज़ाद, (१४) दरबारे-अकबरी, (१५) निगारिस्ताने-फ़ारस, (१६) सिपाको-नमक, (१७) जानवरिस्तान, और (१८) अलहयात।

इस सूची को देखने से मालूम होता है कि 'आज़ाद' गद्य और पद्य दोनों में लिखते थे। फिर भी उनका अधिकतर रुजहान गद्य की ही ओर था। 'नज़्मे-आज़ाद' में उनकी छिटपुट कविताएँ हैं, जो उन्होंने नयी ढंग की कविता का नमूना दिखाने के लिए लिखी हैं। यह अधिकतर छोटी-छोटी सीधी और सरल भाषा में लिखी हुई नज़्में हैं, पुराने अलङ्कारों आदि को छोड़ दिया गया है और विषय भी साधारण जीवन से लिये गये हैं। इन नज़्मों का ऐतिहासिक मूल्य तो है, किन्तु साहित्यिक मूल्य उतना नहीं।

'आज़ाद' का गद्य ज़रूर ऐसा है, जो उन्हें अमर बनाये रखेगा। उन्होंने 'आबे-हयात' के रूप में सबसे पहला उर्दू काव्य का इतिहास लिखा, जिसमें भाषा-शास्त्र सम्बन्धी बहस भी की गयी है। यद्यपि इसमें कुछ ऐसी बात भी उन्होंने लिख दी हैं, जो आज ग़लत मानी जाती हैं, फिर भी इसका महत्त्व बहुत है। सुखनदाने-फ़ारस आदि द्वारा उन्होंने फ़ारसी साहित्य का भी विधिवत् परिचय कराया। 'आज़ाद' का गद्य अत्यन्त आकर्षक होता है। उन्होंने रूपकों (allegories) का प्रयोग भी उर्दू में सर्वप्रथम किया है। उनकी भाषा का नमूना यह है—

> "देखो यह दोनों बाग़ आमने-सामने लगे हैं। तुमने मुक़ाबला किया? दोनों के रंग-ढंग में क्या फ़र्क़ है? भाषा का फ़सीह इस्तेआरे की तरफ़ भूलकर भी क़दम नहीं रखता। जो-जो लुत्फ़ आँखों से देखता है और जिन ख़ुश आवाज़ियों को सुनता है, या जिन ख़ुशबूयों को सूँघता है, उन्हीं को अपनी मीठी ज़बान से बेतकल्लुफ़, बेमुबालिगा साफ़-साफ़ कह देता है।"

मौलाना अल्ताफ़ हुसेन 'हाली'—'हाली' १८३७ ई० में पानीपत में अ रियों के एक प्रतिष्ठित परिवार में पैदा हुए थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा पुर ज़माने-जैसी हुई। सत्रह वर्ष की अवस्था में उनकी इच्छा के विपरीत उनका विवाह कर दिया गया था, किन्तु वे उसी वर्ष दिल्ली भाग आये और प्रसिद्ध धर्म-प्रचारक तथा अध्यापक मौलवी नवाज़िश अली से अरबी पढ़ने लगे और डेढ़ वर्ष में उसमें निपुण होकर घर लौट गये। १८५६ ई० में उन्होंने हिसार में कलक्टरी में नौकरी कर ली, किन्तु १८५७ ई० के विद्रोह में फिर पानीपत चले गये। तीन-चार वर्षों के बाद जहाँगीराबाद (ज़िला बुलन्द-शहर) के रईस नवाब मुस्तफ़ा खाँ 'शेफ्ता' के मुसाहिब हो गये। यहाँ के साहित्यिक वातावरण में वे कविता भी करने लगे और 'ग़ालिब' के शिष्य हो गये। आठ वर्ष तक उन्होंने 'शेफ़्ता' के पुत्रों को पढ़ाया और उनके मरने पर लाहौर में गवर्नमेंट बुक डिपो में नौकरी कर ली। लगभग चार वर्ष वहाँ रहने के बाद वे दिल्ली में ऐंग्लो-एरेबिक कालेज में अध्यापक हो गये। यहीं वे सर सय्यद के सम्पर्क में आये और उनकी प्रेरणा से प्रसिद्ध 'मुसद्दस' लिखा। उन्हें हैदराबाद से भी पहले पचहत्तर रुपये और फिर सौ रुपये की मासिक वृत्ति मिलती थी। नौकरी से अवकाश ग्रहण करने के बाद वे पानीपत चले आये। १९०४ ई० में उन्हें सरकार ने 'शमसुल उलेमा' की उपाधि दी। १९१४ ई० में उनका देहान्त हो गया।

'हाली' की रचनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) मसनवियाँ 'मनाज़िरा तअस्सुबो-इन्साफ़', 'रहमो-इन्साफ़', 'बरखा रुत', 'निशाते-उम्मीद' और 'हुब्बे वतन', (२) मुसद्दसे हाली, (३) शिकवाए-हिन्द, (४) कुल्लियाते-हाली, जिसमें उनकी ग़ज़लों आदि के साथ उनका प्रसिद्ध आलोचना निबन्ध 'मुक़दमए-शेरो-शायरी' भी है, (५) मुनरजाते बेवा और चुप की दाद, (६) यादगारे-ग़ालिब, (७) ग़ालिब और हकीम महमूद खां के मरसिये, (८) फ़ारसी कविता-संग्रह।

जैसा कि पुस्तक-सूची से स्पष्ट है 'हाली' मुख्यतः कवि थे। फिर भी उनका 'मुक़दमए-शेरो-शायरी' आलोचना क्षेत्र में बेजोड़ चीज़ है। इसमें उन्होंने काव्य-क्षेत्र में मान्यता-प्राप्त समस्त मूल्यों को उखाड़ फेंका और आकारवादी

प्राणरहित कविता की धज्जियाँ उड़ा दीं। उन्होंने बहुत ज़ोरों से अंग्रेज़ी काव्य से विषय वस्तु के लेने और जीवन के सीधे-सादे और प्राणवान् चित्रण की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। सुधार के जोश में उन्होंने ग़ज़ल पर भी बेतरह हमले किये और छोटी नज़्मों की आवश्यकता बतायी।

'हाली' की गद्य-शैली 'आज़ाद' से मिलती-जुलती है, यद्यपि उसमें 'आज़ाद' जैसी रंगीनी पैदा नहीं हो सकी है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उनकी रचनाएँ तर्क सम्बन्धी अधिक थीं। भाषा का नमूना यह है—

> "क़ौम की हालत तबाह है। अज़ीज़ ज़लील हो गये हैं, शरीफ़ ख़ाक में मिल चुके हैं, इल्म का ख़ात्मा हो चुका है, दीन का सिर्फ़ नाम बाक़ी है, इफ़लास की घर-घर पुकार है, पेट की चारों तरफ़ दुहाई है। इख़्लाक़ बिलकुल बिगड़ गये हैं और बिगड़ते जाते हैं। तअस्सुब की घनघोर घटा तमाम क़ौम पर छायी हुई है, रस्मो-रिवाज की बेड़ी एक-एक पाँव में पड़ी है, जहालत और तक़लीद सबकी गर्दन पर सवार है।"

पद्य के क्षेत्र में 'हाली' का योगदान एक तो वही है, जो 'आज़ाद' का, यानी नये विषयों पर छोटी-छोटी नज़्में लिखना। इसके फलस्वरूप उनकी मसनवियाँ लिखी गयी हैं। फिर भी इन मसनवियों—मुनाजाते-बेवा, बरखा रुत आदि—में सादगी के साथ प्रवाह और चुस्ती आदि के ऐसे गुण हैं, जिसके कारण साहित्यिक रुचि के लोगों का इस नयी शैली की ओर झुकाव हुआ और यह आन्दोलन सफल हो सका। सच्ची बात यह है कि 'हाली' जैसा प्रतिभाशाली कवि न होता तो नवीन स्वाभाविकतावादी आन्दोलन कभी सफल नहीं हो सकता। 'हाली' की सफलता यह है कि ग़ज़ल-जैसे क्षेत्र में उन्होंने अतिशयोक्ति और अन्य अलंकारों से बिलकुल पीछा छुड़ाकर सीधी-सादी बातों में भी इतना आकर्षण पैदा कर दिया है कि वे उर्दू साहित्य की अमूल्य निधि हो गये हैं। उदाहरणार्थ उनका एक शेर ही यथेष्ट है—

वह बात और ही है कि हम जिस पे मरते हैं
दुनिया में लाख तुझसे सही, तू मगर कहाँ

लेकिन दरअस्ल उन्हें अमरत्व प्रदान किया उनके मुसद्दस ने, जिसमें

उन्होंने मुसलमानों के भव्य अतीत की याद दिलाकर उनकी तत्कालीन दुर्दशा से उसका मुक़ाबला किया और मुसलमानों को झटके के साथ जगाया। इसमें 'हाली' की कविता के स्वाभाविक गुणों, सरलता और प्रवाह के साथ ही उनकी तीव्र संवेदना भी शामिल थी, जिसने इस लम्बी कविता में बिजली का सा प्रभाव भर दिया। उदाहरणार्थ इसके दो बन्द दिये जाते हैं—

करो क़द्र इस अम्नो-आज़ादगी की
कि है साफ़ हर सिम्त राहे-तरक़्क़ी
हर इक राह रौ का ज़माना है साथी
ये हर सू से आवाज़े-पैहम है आती

न दुश्मन का ख़तरा न रहज़न का डर है
निकल जाओ रस्ता अभी बे-ख़तर है

बहुत क़ाफ़ले देर से जा रहे हैं
बहुत बोझ बार अपने लदवा रहे हैं
बहुत चल-चलाओ में घबरा रहे हैं
बहुत से न चलने से पछता रहे हैं

मगर इक तुम्हीं हो कि सोते हो ग़ाफ़िल
मुबादा कि ग़फ़लत में खो दी हो मंज़िल

मौलवी मुहम्मद इस्माईल—इस्माईल साहब का ख़ास कारनामा बच्चों के लिए छोटी-छोटी सरल और सुबोध नज़्में नयी परिपाटी में लिखने का है। वे १८४० ई० में मेरठ में पैदा हुए थे। वे शिक्षा विभाग में पहले क्लर्क हुए, फिर मेरठ, सहारनपुर आदि के सरकारी स्कूलों में फ़ारसी के हेड मौलवी रहे। १८८८ ई० में आगरा के सेन्ट्रल नार्मल स्कूल में आ गये और वहीं से १८८९ ई० में पेंशिन ली। १९१७ ई० में उनका देहावसान हो गया। मौलवी साहब ने बहुत-सी उर्दू रीडरें लिखी थीं। बच्चों के लिए मौलिक कविताओं के अतिरिक्त अंग्रेज़ी कविताओं का भी उर्दू में अनुवाद किया,

है। उनकी सरलता के साथ भाषा का प्रवाह और बन्दिश की चुस्ती भी देखते बनती है। मौलवी साहब नयी पद्धति की नज़्मों के अतिरिक्त ग़ज़लें और क़सीदे भी अत्यन्त सफलतापूर्वक लिखते थे। उनका कुल्लियात प्रकाशित हो चुका है।

मुंशी दुर्गा सहाय 'सुरूर'—राष्ट्रीयतावादी कवियों में 'सुरूर' का नाम अग्रगण्य है। यह जहानाबाद ज़िला पीलीभीत में १८७३ ई० में पैदा हुए थे। इनके पिता का नाम हकीम प्यारेलाल था। तहसीली स्कूल से मिडिल पास करने के बाद इन्होंने फ़ारसी और अंग्रेज़ी अपने तौर पर पढ़ी। इनके फ़ारसी के शिक्षक मौलवी करामत हुसेन 'बहार' ही इनके काव्य-गुरु भी थे। मुंशी दुर्गा सहाय ने पहले 'वहशत' तख़ल्लुस किया, फिर 'सुरूर' हो गये। १८९९ ई० से उनकी रचनाएँ साहित्यिक पत्रिकाओं में निकलने लगी थीं। कुछ वर्षों बाद उनके एकमात्र पुत्र का देहान्त हो गया। 'सुरूर' इस सदमे को सँभालने के लिए बेतरह शराब पीने लगे। अन्त में इसी अत्यधिक मद्यपान के कारण ३ दिसम्बर १९१० ई० को उनका देहावसान हो गया।

'सुरूर' पर भी 'हाली' और 'आज़ाद' के उठाये हुए आन्दोलन का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने अधिकतर नज़्में नये रंग में लिखी हैं। उनकी ग़ज़लें आदि भी उच्चकोटि की हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो भाव-चित्रण, करुणा और प्रभाव है, जो उनकी प्रत्येक पंक्ति में दिखाई देती है। दूसरी विशेषता उनका देश प्रेम है। इसी रास्ते पर आगे चलकर चकबस्त ने अपना डंका बजा दिया। जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, 'सुरूर' भाव-चित्रण के साथ ही ऐतिहासिक और धार्मिक क्षेत्र में भी सफलतापूर्वक आगे बढ़ते हैं। उनकी 'जमुना' और 'गंगा' कविताएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। मौलिक कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने कई अंग्रेज़ी की कविताओं के भी बड़े सफल अनुवाद किये हैं। उनकी कुछ नज़्में नैतिक-सामाजिक विषयों पर भी हैं, किन्तु उनमें नीरसता नहीं आने पायी है।

'सुरूर' की शैली बड़ी ही परिष्कृत है। उसमें प्रवाह और भाषा-सौष्ठव तो है ही, एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि उन्होंने उर्दू कविता में नये-नये हिन्दी शब्दों का भी समावेश किया है और इस ख़ूबसूरती से किया है कि अगर

उनकी जगह फ़ारसी-अरबी के शब्द ले आये जायें तो शेरों का माधुर्य ही नष्ट हो जाय।

'सुरूर' के दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'खमखान-ए-सुरूर' और 'जामे-सुरूर'।

अन्य कवि—इस नये आन्दोलन के सिलसिले में कुछ नाम और उल्लेखनीय हैं। सूरज नरायन 'मेह्र' (जिनका संग्रह 'कलामे मेह्र' के नाम से छपा है) और मुंशी नौबत राय 'नज़र' लखनवी (१८६६–१९२३ ई०)। 'मेह्र' ने अंग्रेज़ी नज़्मों के अनुवादों के अलावा सरल भाषा में ही प्रत्येक विषय पर कविता की है, जिसका आनन्द बच्चे-बूढ़े सभी उठा सकते हैं। 'नज़र' अपने काल के प्रमुख साहित्यिकों में थे। उन्होंने 'ज़माना' 'अदीब' आदि कई पत्रिकाओं में काम किया था। उनकी ग़ज़लों ने उन्हें प्रसिद्धि दी, क्योंकि उनमें नरमी, मिठास और प्रभावोत्पादन के गुण यथेष्ट मात्रा में थे। नये ज़माने के अनुसार उन्होंने भी कुछ नज़्में लिखीं, किन्तु उनमें वे ग़ज़लों की भाँति प्रसिद्ध नहीं हुए। मुंशी द्वारका प्रसाद 'उफ़ुक़' और लेखक के पिता मुंशी गोरखप्रसाद 'इबरत' के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

: ९ :

आलोचना और गद्य का विकास

सर सय्यद अहमद ख़ाँ और उनके सहयोगियों ने अपने अथक परिश्रम से उर्दू के गद्य-क्षेत्र का जिस तरह विकास किया, उसका उल्लेख पहले हो चुका है। उस पीढ़ी के द्वारा तय्यार की हुई भूमि पर एक नयी पीढ़ी ने तुरन्त ही बाग़बानी शुरू कर दी और उर्दू गद्य का आँचल रंगीन फूलों से भर गया। सर सय्यद और उनके साथियों का काम मिशन की तरह था और उनका विषय-क्षेत्र अधिकतर इतिहास अथवा समाजशास्त्र होता था। मौलवी नज़ीर अहमद के उपन्यासों में भी हमें उपन्यास-कला की अपेक्षा सामाजिक जीवन के मूल्यों की रक्षा का आग्रह ही अधिक दिखाई देता है। आलोचना के क्षेत्र में 'हाली' का भी वही हाल है। बाद वाली पीढ़ी ने आत्मविश्वास के साथ कथा-साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में क़दम रखा और निश्चित गति से विकास की मंज़िलें तय करने लगी। इस पीढ़ी ने उर्दू को शिबली, शरर और सय्यद अली बिल्ग्रामी-जैसे आलोचक, सरशार और सज्जाद हुसेन जैसे उपन्यासकार और मिर्ज़ा हादी 'रुसवा' जैसे सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न लेखक दिये। आगे इन लोगों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

मौलाना शिबली नुअमानी—दिल्ली और लखनऊ दो ही उर्दू के गढ़ समझे जाते हैं। उर्दू की प्रामाणिकता इन्हीं दो स्थानों की कसौटी पर कसी जाती है। लेकिन मौलाना शिबली पहले विद्वान् थे, जिन्होंने दिल्ली या लखनऊ का न होते हुए भी सारे उर्दू संसार में अपनी रचनाओं के लिए मान्यता प्राप्त कर ली। शिबली १८५७ ई० में ज़िला आजमगढ़ के बन्दौल नामक स्थान में पैदा हुए थे। उनके पिता शैख़ हबीबुल्ला वकील थे। प्रारंभिक शिक्षा मौलवी शुकुल्ला और अरबी की उच्च शिक्षा अपने समय के विख्यात विद्वान् मौलाना मुहम्मद फ़ारूक़ चिरय्या कौटी से ग्रहण की। फिर रामपुर

जाकर मौलवी अब्दुल हक़ ख़ैराबादी और मौलवी इरशाद हुसेन से उन्होंने धार्मिक विषय पढ़े। इसके बाद लाहौर में मौलवी फ़ैज़ुलहसन और सहारनपुर में मौलवी अहमद अली से भी पढ़ा। १८७६ ई० में वे हज करने गये और रास्ते में एक फ़ारसी क़सीदा लिखा। इम्तहान पास करके कुछ दिन वकालत की, लेकिन उसमें जी न लगा तो सरकारी नौकरी कर ली और दीवानी में अमीन हो गये। इससे भी जल्द ही उकता गये और इस्तीफ़ा देकर घर बैठ रहे और सारा समय पुस्तकावलोकन तथा लेखन-कार्य में लगाने लगे।

१८८२ ई० में मौलाना अपने छोटे भाई से, जो अलीगढ़ कालेज में पढ़ते थे, मिलने के लिए गये। अलीगढ़ में सर सय्यद से उनकी भेंट हुई, जिन्होंने उन्हें कालेज में फ़ारसी का अध्यापक नियुक्त कर दिया। अलीगढ़ में मौलाना को बड़े प्रेरणादायक तत्त्व मिले। उन्होंने सर सय्यद के पुस्तकालय का लाभ उठाया, मि० आर्नाल्ड से फ्रेञ्च पढ़ी और उन्हें अरबी पढ़ायी और सबसे बड़ी बात यह हुई कि सर सय्यद के व्यक्तित्व तथा मौलाना मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' की पुस्तक 'सनैनुल-इस्लाम' से उन्हें प्राचीन इस्लामी वैभव की याद दिलाकर मुसलमानों को उनके अज्ञानपूर्ण जीवन से बाहर निकालने के लिए उन्हें बहुत प्रेरणा मिली। आर्नाल्ड साहब से उन्होंने पाश्चात्य शैली की वैज्ञानिक आलोचना भी सीखी। १८९२ ई० में उन्होंने मि० आर्नाल्ड के साथ तुर्की, सीरिया, मिस्र आदि की यात्रा की। १८९८ ई० में सर सय्यद का देहान्त होने पर शिबली अपने घर चले आये और लिखने-पढ़ने में लग गये। कुछ समय के पश्चात् वे हैदराबाद चले गये और चार वर्ष तक वहाँ शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष रहे। इसके बाद नदवतुल उलेमा की सहायता के लिए वे नौकरी छोड़कर आ गये और उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप नदवतुल उलेमा का आर्थिक और राजनीतिक संकट दूर हो गया और उसके आधुनिक विद्यालय की नींव लेफ्टीनेंट गवर्नर सर जान हीवेट द्वारा २८ नवम्बर १९०८ ई० में पड़ गयी। फिर भी मौलाना शिबली की वहाँ के पुराने ढर्रे के विद्वानों से नहीं पटी। १९१३ ई० में वे नदवा छोड़कर आजमगढ़ चले गये और वहाँ दारुल मुसन्निफ़ीन नामक साहित्यिक तथा प्रकाशन संस्था की नींव डाली। किन्तु अगले ही वर्ष १९१४ ई० में मौलाना का देहान्त हो गया।

मौलाना को १८९२ ई० में तुर्की के सुल्तान ने मजीदिया पदक प्रदान किया था और इसी के आस-पास ब्रिटिश सरकार ने उन्हें 'शमसुल उलेमा' की उपाधि भी दी थी। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के फेलो और कई शिक्षा-समितियों के सदस्य थे। हिन्दी-उर्दू तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता सम्बन्धी सरकारी समिति के भी वे सदस्य थे।

मौलाना की रचनाओं की सूची लम्बी है। उनकी प्रख्यात पुस्तकें ये हैं—(१) सीरतुन्नबी (मुहम्मद साहब की जीवनी, जिसकी वे दो ही जिल्दें लिख सके), (२) रोरुल अजम पाँच भाग (फ़ारसी साहित्य का उर्दू में विशद इतिहास), (३) अल फ़ारुक़, अलमामूँ, सीरतुन्नु अमान, अलग़ज़ाली, अलकलाम (ये पाँच पुस्तकें इस्लामी इतिहास सम्बन्धी हैं, (४) सवानेह मौलाना रूम (मौलाना रूम की जीवनी), (५) मवाज़नए-अनीसो-दबीर (मरसियों पर प्रसिद्ध आलोचना ग्रंथ), (६) सफ़र नामए रूमो-मिस्रो-शाम, (७) औरंगज़ेब आलमगीर, (८) अलबहरिया, (९) मुसलमानों की गुज़िश्ता तालीम, (१०) तारीख़े-इस्लामो-फलसफ़ए-इस्लाम, (११) हयाते-ख़ुसरो, (१२) तनक़ीदे जुरज़ी ज़ैदान, (१३) मक़ालाते शिबली, (१४) मकातीबे-शिबली, (१५) रसायले-शिबली। पद्य में ये पुस्तकें हैं—(१) दीवाने शिबली, (२) दस्तए-गुल, (३) सुब्हे-उम्मीद और (४) मजमूअए-नज़्मे-उर्दू।

आलोचक की हैसियत से शिबली ने पहली बार वैज्ञानिक ढंग से साहित्या-लोचन किया। यद्यपि अधिक लिखने के कारण कहीं-कहीं वे भूलें कर जाते हैं, फिर भी उन्होंने उर्दू आलोचना में नया रास्ता खोला, जिस पर अब सभी लोग चल रहे हैं। उनकी इतिहास की रचनाओं में ओज और आकर्षण दोनों हैं। उनकी गद्य की भाषा फ़ारसीमय कुछ अधिक होती है, फिर भी उनका शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास उचित होता है और प्रवाह बना रहता है। उनके गद्य का नमूना यह है—

> "संस्कृत की इल्मी तसनीफ़ात अगर्चे मंसूर के अहद में बग़दाद पहुँच चुकी थीं लेकिन उस ज़माने में और नये सामान पैदा हो गये। हारूँ-अर्रशीद एक दफ़ा सख़्त बीमार हुआ और गो बग़दाद तबीबों से

मामूर था ताहम उसको किसीके इलाज से शिफ़ा नहीं हुई। उस वक्त हिन्दुस्तान का एक तबीब फ़िलासफ़र भी शुहरते-आम रखता था और चूँकि दरबारे-ख़िलाफ़त और फ़र्मांरवायाने-हिन्दोस्तान से दोस्ताना मरासिम क़ायम थे और बाहम ख़तो-किताबत रखते थे, सबने उसको बुलाने की राय दी। ग़रज़ वह तबीब तलब किया गया और बग़दाद में बरामका का जो हस्पताल था उसका मुहतमिम और अफ़सर मुक़र्रर किया गया। संस्कृत की अक्सर किताबें उसने तर्जुमा करायीं। चुनाँचे सुश्रुत की किताब जो दस बाबों में है और साम्यका जिसमें ज़हरों के इलाज का बयान है, उसने तर्जुमा कीं।"

पद्य के क्षेत्र में शिबली को उतनी ख्याति तो नहीं मिली, जितनी उनके गद्य-ग्रन्थों ने उन्हें दी, फिर भी एक दृष्टि से उनका महत्त्व है। वे छोटी-छोटी नये ढंग की नज़्में बहुतायत से लिखते थे, जिनमें मुसलमानों के अतीत के आकर्षक चित्र खैंचे जाते थे। काव्यगुण तो इनमें कोई ख़ास नहीं है, किन्तु अपने क्षेत्र में तो इनका प्रभाव पड़ता ही है। भाषा पद्य में भी फ़ारसीमय है, फिर भी कठिन नहीं है। दो-तीन शेर नमूने के देखिए—

एक दिन हज़रते फ़ारूक़ ने मिम्बर पे कहा
मैं तुम्हें हुक्म जो कुछ दूँ तो करोगे मंज़ूर
एक ने उठ के कहा यह कि न मानेंगे कभी
कि तेरे अद्ल में हमको नज़र आता है फ़ितूर
गर्चे वह हद्दे-मुनासिब से बढ़ा जाता था
सबके सब मुहर-ब-लब थे चे-उनासो-चे-ज़कूर

पण्डित रतननाथ 'सरशार'—उर्दू के प्रसिद्ध उपन्यास 'फ़सानए-आज़ाद' को कौन नहीं जानता? इसके रचयिता पं० रतननाथ 'सरशार' कश्मीरी ब्राह्मण थे। वे १८४६ या १८४७ ई० में लखनऊ में पैदा हुए थे। उनकी अवस्था केवल चार वर्ष की थी, जब उनके पिता का देहान्त हो गया। बचपन में अपने समय की रीति के अनुसार अरबी-फ़ारसी पढ़ी और इन भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। जब अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार हुआ तो केनिंग

कालेज लखनऊ में दाख़िल हुए, किन्तु कोई डिग्री नहीं ले सके। जीविका के लिए खीरी के ज़िला स्कूल में अध्यापक हो गये। उसी समय कश्मीरियों की एक जातीय पत्रिका 'मुरासिलए-कश्मीर' निकलना आरंभ हुई और 'सरशार' उसमें लेख लिखने लगे। साथ ही उस समय की प्रसिद्ध पत्रिका 'अवध पंच' में भी उनके लेख आने लगे। उनकी आकर्षक लेखन-शैली के कारण उनका नाम फैलने लगा। वे अनुवाद भी ख़ूब करते थे और शिक्षा-विभाग की पत्रिका में नैतिक और विद्वत्तापूर्ण लेखों के अनुवाद भेजा करते थे। विज्ञान सम्बन्धी एक पुस्तक का अनुवाद भी उन्होंने 'शमशुज्ज़ुहा' के नाम से किया था। उनकी ख्याति यहाँ तक बढ़ी कि मुंशी नवलकिशोर ने उनको 'अवध अख़बार' का सम्पादक बनाकर रख लिया। इसी पत्र में 'फ़सानए-आज़ाद' १८७८ ई० से क़िस्तवार निकलना शुरू हुआ और दो वर्ष में पूरा हो गया। इस उपन्यास के कारण उक्त पत्र की बिक्री भी बहुत बढ़ गयी। १८९५ ई० में 'सरशार' हैदराबाद चले गये। इसके पहले कुछ दिनों तक उन्होंने इलाहाबाद हाईकोर्ट में अनुवादक का काम भी किया था। हैदराबाद में वहाँ के महामन्त्री महाराजा सर किशन परशाद 'शाद' ने अपनी कविताओं का संशोधन उनसे कराना आरंभ किया, जिसके लिए उन्हें २००) मासिक मिलते थे। निज़ाम ने भी 'सरशार' को काफ़ी सम्मान दिया। 'सरशार' ने कुछ दिनों तक हैदराबाद में 'दबदबए-आसफ़िया' का भी सम्पादन किया। अंत में अत्यधिक मद्यपान के कारण उनका मस्तिष्क विकृत हो गया और १९०२ ई० में उनका देहान्त हो गया।

'सरशार' की रचनाओं में 'फ़सानए-आज़ाद' (चार जिल्दों में), 'सैरे-कुहसार', 'खुदाई फ़ौजदार' (सरवान्तीस के 'डान क्विकज़ोट' का स्वतन्त्र अनुवाद), 'अलिफ़ लैला बतर्ज़े-नावेल', 'जामे-सरशार', 'हुश्शू', 'पी कहाँ', 'बिछुड़ी दुल्हन', 'कुड़ुम धुम', 'रंगे स्यार', 'कामिनी', 'तूफ़ाने-बेतमीज़ी', 'शम्सुज्ज़ुहा', 'तरजुमए-तारीख़े-रूस', 'तरजुमए-ख़तूते-लार्ड डफ़रिन' आदि हैं। 'सरशार' कवि थे और अपने ज़माने के प्रख्यात कवि 'असीर' के शागिर्द थे। १८४९ ई० में उन्होंने कश्मीर कान्फ्रेंस के लिए एक क़सीदा लिखा और एक मसनवी 'तुहफ़ए-सरशार' के नाम से लिखी। फिर भी पद्य में उनका स्थान नगण्य है, वे वास्तव में उपन्यासकार ही थे।

उपन्यासकार के रूप में 'सरशार' को जो ख्याति मिली है, वह उचित ही है। यद्यपि मौलवी नज़ीर अहमद के उपन्यास 'फ़सानए-आज़ाद' से पहले प्रकाशित हो चुके थे, तथापि उन उपन्यासों का उद्देश्य नैतिक उत्थान था। 'सरशार' उर्दू के पहले यथार्थवादी कलाकार हैं। 'फ़सानए-आज़ाद' में उन्होंने लखनऊ का ही सजीव चित्रण नहीं किया, बल्कि उन्नीसवीं शताब्दी की उत्तर भारत की पूरी सभ्यता का ऐसा पूर्ण चित्र उपस्थित किया है और प्रकारान्तर से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को भी इस तरह पेश कर दिया है कि देखकर आश्चर्य होता है कि एक ही उपन्यास के अन्दर यह सब कैसे आ गया। विदेशियों के जीवन को उनकी कल्पना अच्छी तरह चित्रित कर सकी, लेकिन लखनऊ अपनी पूरी मस्तियों के साथ देखने को मिल जाता है। पुराने बिगड़े रईसों की हास्यास्पद दशा, अभिजात वर्ग के घरानों के रीति-रिवाज और महिलाओं का जीवन, बाज़ार, मेले-ठेले, फक्कड़, चोर, उचक्के, डाकू, ज़मींदार, मौलवी, पण्डित, साधू—सभी की जीती-जागती तसवीरें देखने को मिल जाती हैं और तत्कालीन भारतीय जीवन के अच्छे-बुरे सभी पहलू सामने आ जाते हैं। 'फ़सानए-आज़ाद' तथा 'सरशार' के अन्य उपन्यासों का साहित्यिक ही नहीं ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत अधिक है।

किन्तु 'फ़सानए आज़ाद' की तत्कालीन ख्याति का आधार 'सरशार' की लेखन-शैली है। इसमें संदेह नहीं कि वे अक्सर ऐसी कठिन फ़ारसी-अरबी भाषा लिखने लगते हैं, जिसे समझने में मौलवियों को भी पसीना आ जाय (संभवतः इसका कारण यह हो कि सरल भाषा लिखने पर हिन्दू होने के कारण उन्हें कम पढ़ा-लिखा न समझ लिया जाय) और कभी-कभी वे फ़ारसी और अरबी के पैरे के पैरे लिख डालते हैं, फिर भी साधारणतः—विशेषतः कथनोपकथन में—वे बड़ी ही चलताऊ और चुलबुली भाषा लिखते हैं और मुहावरों पर मुहावरे, बोलते चले जाते हैं। 'सरशार' ने यह तो दिखा ही दिया है कि वे हर प्रकार की भाषा—यहाँ तक कि अशिक्षितों की ग़लत उर्दू, बंगालियों की टूटी-फूटी उर्दू और गाँववालों की अवधी भी—अधिकारपूर्वक लिख सकते हैं, साथ ही कमाल यह है कि उनके चरित्र-वैभिन्य का भाषा-वैभिन्य भी पूरे सामञ्जस्य के साथ है। उनकी अरबी, फ़ारसी, अवधी सब अपनी-अपनी

जगह जमी हुई हैं और उनके चरित्र-चित्रण को और उभार कर रख देती हैं। उनकी भाषा का उदाहरण देखिए—

"मियाँ आज़ाद ऐसे मज़े में आये कि मुअन चल खड़े हुए। देखते क्या हैं कि बड़े-बड़े जुह्हाद और मौलाना बिल्इल्मो-अलफ़ज़्ल, औलाना और क़ाज़ी-ओ-मुफ़्ती, शैखो-शाब, अमामए-फ़ज़ीलत बरसर और क़बाए-मआरिफ़त दरबर, बा-जब्ह-ओ-दस्तार बसद फ़ख़्रो-इफ़्तख़ार चले आते हैं, चेहरे से नूरे-इलाही बरसता है। इतने में दो रिन्दाने-साग़र-नोश बसद जोशो-ख़रोश जिन्न और चुड़ैल की बातें करते उनके क़रीब आये, एक लहीमो-शहीम और दूसरा लाग़र।

"लहीम—यार तुम तो मग़ज़ के भेजे के गूदे के कीड़े तक चाट गये। बड़े बक्की हो। लाखों दफ़ा समझाया कि यह सब ढकोसला है। मगर तुम्हें तो कच्चे घड़े की चढ़ी है, तुम कब सुनने वाले हो। मर्दे-आदमी यह सब लग़ो बातें हैं, वल्लाह बनी हुई बातें हैं।"

"लाग़र—क़िब्ला, मर्दे-आदमी तो ख़ामखाह आप ही हैं। माशाअल्ला साहबे तनो-तोश, वल्लाह गैंडे बने हुए हो।..."

मौ० सय्यद अली बिलग्रामी—मौलवी साहब की ख्याति उनके अनुवादों के कारण है, किन्तु उनके अनुवाद भी साहित्यिक मूल्य के हैं। वे क़स्बा बिल-ग्राम में १८५१ ई० में पैदा हुए थे। उनके पिता जैनुद्दीन ख़ाँ डिप्टी कलेक्टरी से पेंशिन लेकर हैदराबाद में एक उच्च पद पर प्रतिष्ठित थे। वे स्वयं भी विद्वान् थे और उन्होंने सय्यद अली की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध किया। १५ वर्ष की अवस्था तक केवल अरबी-फ़ारसी पढ़ी, फिर अंग्रेज़ी पढ़ना शुरू किया तो आठ ही वर्ष में बी० ए० कर लिया। इनकी स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी, बी० ए० में इनका एक विषय संस्कृत भी था। मौलवी साहब की प्रतिभा देखकर हैदराबाद के तत्कालीन महामन्त्री सालार जंग ने उन्हें बुला लिया। वहाँ पहुँचकर उन्होंने विज्ञान का गहरा अध्ययन किया और उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैण्ड गये। सरकार ने उन्हें 'शमसुल उलेमा' की उपाधि भी दी थी। उनकी अध्ययन-प्रियता का यह हाल था कि भारत भर में शायद

ही कोई व्यक्ति इतनी भाषाएँ जानता हो, जितनी वे जानते थे। वे अरबी, फ़ारसी, उर्दू, अंग्रेज़ी, जर्मन, लैटिन, फ्रेंच, संस्कृत, बंगला, महाराष्ट्रीय, तेलंगी, गुजराती और हिन्दी जानते थे। इतनी भाषाएँ जानने के बावजूद उन्होंने स्वयं कुछ नहीं लिखा। उनके दो अनुवाद 'तमद्दुने-हिन्द' और 'तमद्दुने-अरब' बहुत प्रसिद्ध हैं। यह फ्रेंच विद्वान् डा० गुस्ताव लेबाँ की पुस्तकों के अनुवाद हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'मेडीकल ज्यूरिसप्रूडेंस' का भी उर्दू में अनुवाद किया है। वे अलीगढ़ कालेज के मामलों में भी दिलचस्पी लेते थे। 'तमद्दुने-हिन्द' और 'तमद्दुने-अरब' ने उन्हें अपने ज़माने के प्रमुख विद्वान् के रूप में मान्यता दिला दी। वास्तव में भाषा और शैली के दृष्टिकोण से ये अनुवाद, अनुवाद मालूम ही नहीं होते, बल्कि मौलिक रचना लगते हैं। भाषा में कुछ फ़ारसीपन अधिक ज़रूर है, फिर भी प्रवाह काफ़ी है और शब्दों का उचित प्रयोग हुआ है। निम्नलिखित उद्धरण से उनकी भाषा का अन्दाज़ होगा—

> "हिन्दोस्तान की तिजारत में अरबों के रक़ीब अहले-बाबुल थे। उनका ताल्लुक़ हिन्द से ख़ुश्की की राह या ख़लीजे-फ़ारस की तरफ़ से था। तिजारत का माल बाबुल से शाम को आता और वहाँ से तमाम आलम में तक़सीम होता। जो कारवाँ इस राहे-दूरो-दराज़ से आते उनके रास्ते में हेलियोपोलस (क़दीम लबलबक) और पलमीरा की तिजारतगाहें जिनके आसारे-क़दीमा इस वक़्त भी ताज्जुब-अंगेज़ हैं, और नेज़ोमा का मशहूर शहर पड़ा करता था।"

मुंशी सज्जाद हुसेन—उर्दू के हास्यरस के प्रथम पत्र 'अवध पंच' के प्राण मुंशी सज्जाद हुसेन एक खाते-पीते परिवार से थे। उनके पिता मुंशी मंसूर अली डिप्टी कलक्टरी से पेंशिन पाने के बाद हैदराबाद में सिविल जज रहे थे। सज्जाद हुसेन १८५६ ई० में काकोरी में पैदा हुए थे। उन्होंने १८७३ ई० में एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की और केनिंग कालेज, लखनऊ में एफ० ए० में भी दाख़िल हुए, लेकिन जल्द ही पढ़ाई से ऊब गये। पढ़ाई छोड़कर वे फ़ैज़ाबाद चले गये, जहाँ फ़ौज में उर्दू पढ़ाने लगे। साल भर बाद ही यह नौकरी छोड़कर उन्होंने १८७७ ई० में 'अवध पंच' जारी कर दिया। पहले ही वर्ष में

उन्होंने चोटी के लेखकों से सम्पर्क स्थापित कर लिया और पण्डित त्रिभुवन नाथ 'हिज्र', मिर्ज़ा मच्छूबेग 'सितम ज़रीफ़', सय्यद मुहम्मद ख़ाँ 'आज़ाद', सय्यद अकबर हुसेन 'अकबर' (प्रख्यात 'अकबर' इलाहाबादी), अली अहमद 'शौक़', ज्वाला प्रसाद 'बर्क़', अहमद अली कलमण्डवी आदि नियमित रूप से 'अवध पंच' में लेख लिखने लगे। आरंभ में पं० रतननाथ 'सरशार' ने भी इस पत्र में लिखा, किन्तु 'अवध अख़बार' का सम्पादकत्व सँभालने के बाद उनका 'अवध पंच' से सम्बन्ध टूट गया। सज्जाद हुसेन १८८७ ई० में कांग्रेस में शामिल हुए और अंतकाल तक उसमें रहे। १९०१ ई० में उन्हें पक्षाघात हुआ, लेकिन कुछ महीने बीमार रहकर ठीक हो गये। १९०४ ई० में पक्षाघात का दूसरा दौरा हुआ, जो ठीक न हुआ। फिर भी मुंशी साहब कई वर्षों तक जीवित रहे। अन्त में २२ जनवरी १९१५ ई० को उनका देहान्त हो गया। 'अवध पंच' १९१२ ई० में ही बन्द हो गया था।

सज्जाद हुसेन की ख्याति उनके हास्य उपन्यास 'हाजी बग़लोल' के कारण हुई है। उसका हीरो नितान्त काल्पनिक होते हुए भी अपने में बहुत दिलचस्पी रखता है और साहित्य-प्रेमियों के मनोरंजन के लिए काफ़ी मसाला दे देता है। उनके अन्य उपन्यास 'तरहदार लौंडी', 'प्यारी दुनिया', 'अहमकुज्ज़न', 'मीठी छुरी' और 'हयाते शेख़चिल्ली' हैं। ये सब भी हास्यरस से शराबोर हैं।

सज्जाद हुसेन को उर्दू का प्रथम हास्य-लेखक कहा जा सकता है। गद्य में इनका वही स्थान है, जो कविता में 'इंशा' का है। मुहावरों के आड़े-तिरछे प्रयोग और उनसे लाभ उठाने में सज्जाद हुसेन अत्यन्त पटु हैं। साथ ही साथ अजीब-अजीब उपमाओं और रूपकों से अपने हास्यरस को तेज़ करते हैं। उनकी भाषा में कभी-कभी बाज़ारीपन और कभी-कभी मौलवियाना नीरसता भी दिखाई देती है, किन्तु कुल मिलाकर उनकी भाषा बड़ी प्रवाहमय और चटपटी है और हास्यरस के लिए अत्यन्त उपयुक्त है।

सज्जाद हुसेन ने गद्य और कथा-साहित्य में पुरानी उपदेशात्मक परिपाटी को तो समाप्त किया ही, कला की दृष्टि से एक और योगदान भी किया। उन्होंने एक सीमा तक चरित्रों के विकास की परिपाटी भी चलायी।

सज्जाद हुसेन की एक समझदारी यह भी थी कि वे हास्य के भयंकर पहलुओं से भी सतर्क थे। उन्होंने कभी अपने पत्र में हास्य लेखों में धर्म अथवा राजनीति को नहीं आने दिया। इसके कारण 'अवध पंच' का हास्य शुद्ध हास्य ही रहा, कटु कभी नहीं बना। उनके उपन्यासों में भी यही सतर्कता दिखाई देती है।

'हाजी बग़लोल' से एक उद्धरण नमूने के तौर पर देखिए—

> "नाज़रीन, ज़रा इस वक़्त तनहाई में हाजी साहब कराह रहे हैं। कान लगाकर सुनिए तो क्या कह रहे हैं, मगर देखिए दूर ही रहिए। नज़दीक गये और सारा खेल बिगड़ गया। आप कह रहे हैं—'ऐ नेक बख़्त ! अफ़सोस, तुझको ख़बर नहीं कि कोई हाजी जान देता है, यूँ दम तोड़ता है। आप तो खेती-बारी में जी बहलाती होंगी, या घर के चक्की-चूल्हे में पड़ी होंगी (ऐ तौबा, मसरूफ़ होंगी), या उपलियाँ प्यारी-प्यारी बनाती होंगी। मगर यहाँ सूख-सूखकर इश्क़ की धूप में हम कंडा हुए जाते हैं। तुमको क्या नाम कि जानना चाहिए कि हम बिनवा कंडे हैं जिसकी आँच इतनी तेज़ होती है कि पताल-यन्त्र में अरक़ और तेल उसी से निकलता है।"

अब्दुल हलीम 'शरर'—'शरर' उर्दू के जबर्दस्त लिखनेवाले थे। उनकी लिखी हुई पुस्तकों की संख्या सौ से अधिक है। वे १८६० ई० में लखनऊ में पैदा हुए थे। उनके पिता तफ़ज़्ज़ुल हुसेन वाजिद अली शाह के साथ इंग्लैण्ड गये थे और वापस आकर मटिया बुर्ज में भी उन्हींके साथ रहते थे। १८६७ ई० में उन्होंने अब्दुल हलीम को भी मटिया बुर्ज बुला लिया। मटिया बुर्ज में इनकी बोलचाल की भाषा और अरबी-फ़ारसी आदि की शिक्षा भी पूर्ण हो गयी, किन्तु वहाँ के समाज ने इन्हें विलासप्रिय बना दिया। इस कारण १८७७ ई० में इनके पिता ने इन्हें लखनऊ वापस कर दिया। दो वर्ष के बाद यह पढ़ने के लिए दिल्ली भी गये। १८८० ई० में इन्हें 'अवध अखबार' का सहायक सम्पादक बनाकर लखनऊ बुला लिया गया। १८८७ ई० में इन्होंने अपना पत्र 'दिलगुदाज़' जारी किया। इसमें इनके उपन्यास धारावाहिक रूप में प्रकाशित होने लगे। किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह १८९१ ई० में

हैदराबाद चले गये। वहाँ 'तारीख़े-सिंध' लिखने पर इन्हें पाँच हज़ार रुपया मिला। इसी बीच यह इंग्लैण्ड भी गये और वहाँ अंग्रेज़ी और फ्रेंच सीखी। १८९६ ई० में यह इंग्लैण्ड से हैदराबाद वापस आये और 'दिलगुदाज़' जारी किया, किन्तु एक धार्मिक झगड़े के कारण इन्हें १८९९ ई० में लखनऊ वापस आना पड़ा। १९०७ ई० में यह फिर हैदराबाद गये और शिक्षा-विभाग के उप-संचालक हो गये, किन्तु दो वर्ष बाद निज़ाम के आदेश से इन्हें फिर हैदराबाद छोड़ना पड़ा। इसके बाद यह अन्त तक लखनऊ में रहे। दिसम्बर १९२६ ई० में इनका देहान्त हो गया।

'शरर' एक ही समय में उपन्यासकार, इतिहासकार, नाटककार और आलोचक थे। उनकी रचित पुस्तकों में २१ जीवन चरित्र, ४२ उपन्यास, १५ इतिहास पुस्तकें, ६ कविता पुस्तकें और १८ स्फुट विषयों पर पुस्तकें हैं। उर्दू उपन्यास के क्षेत्र में 'शरर' पहले ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं, जिन्होंने इस्लामी इतिहास को कथाओं के रूप में लाकर उसे सर्व-सुलभ बना दिया है। उन्होंने उपन्यास से अश्लील तत्त्व भी निकाल डाले। फिर भी इतने बहुलेखन के साथ वे उपन्यास के कलापक्ष को उचित रूप से न निबाह सके। वे इतिहासकार थे, इसलिए घटनाएँ तो उन्होंने दे दीं, किन्तु चरित्रःचित्रण तथा दृश्य-वर्णन में ऐतिहासिक यथार्थ के दर्शन न करा सके। उनके सारे चरित्र एक-से ही मालूम होते हैं। उनके यहाँ इतिहास का ज्ञान तो है, किन्तु कथाकार की कल्पना कम मालूम होती है।

आलोचना के क्षेत्र में भी उन्हें पूर्णता प्राप्त नहीं है। उनके अध्ययन और ज्ञान के बारे में किसीको संदेह नहीं है, किन्तु वे अक्सर ज़िद और धार्मिक वैमनस्य से काम लेने लगते हैं। हैदराबाद से वे हटाये ही इसलिए गये कि उन्होंने इमाम हुसेन की बेटी सकीना के बारे में ऐसी बातें लिख दी थीं, जिनसे शिये और कुछ सुन्नी भी नाराज़ हो गये। पं० दयाशंकर 'नसीम' की मसनवी पर भी उन्होंने इसी आधार पर अनुचित आक्षेप किये, जिनका चकबस्त ने विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया। हाँ, भाषा अलबत्ता 'शरर' काफ़ी अच्छी लिखते हैं। अरबी-फ़ारसी के प्रचुर मिश्रण के बावजूद उसमें चुस्ती और प्रवाह रहता है। उनके उपन्यासों में 'हसैन अंजीलना', 'मलिकुल-अज़ीज़' वर्जी-

निया', 'फ़्लोरो फ़्लोरिंडा', 'मंसूर मोहना' आदि प्रसिद्ध हैं। उनकी भाषा का नमूना यह है—

> "अरबों में इसी हैसियतो-शान का एक जानवर 'रुख़' के नाम से भी मशहूर है जिसका अलिफ़ लैला में ज़िक्र आया है और शायद वह अलिफ़ लैला की ही ऐसी कहानियाँ थीं जिनसे अख़ज़ करके उसके हालात 'अजायबुल-मख़लूक़ात' और 'हैवातुल-हैवान' में दर्ज कर दिये गये हैं। मगर अब अनक़ा, सीमुर्ग़ और रुख़ इन तीनों नामों का मफ़हूम एक ही ख़याल किया जाता है जो गूलर के फूल या किसी ऐसी चीज़ के मुतरादिफ़ है जिसका वजूद सिर्फ ख़यालात में हो और ज़ाहिरी व माद्दी दुनियाँ में उसका कभी पाया जाना न साबित हो।"

मिर्ज़ा मुहम्मद हादी 'रुसवा'—मिर्ज़ा रुसवा की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने उपन्यासों के साथ ही ज्योतिष और रसायन-शास्त्र पर भी बहुत कुछ लिखा। वे लखनऊ के एक उच्च परिवार में पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम आग़ा मुहम्मद तक़ी था। मिर्ज़ा रुसवा का जन्म लखनऊ में १८५८ ई० में हुआ। गणित और ज्योतिष का शौक़ उन्हें उत्तराधिकार में मिला था। सोलह वर्ष की अवस्था में उनके पिता मर गये। उनके मामा ने उनकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। मिर्ज़ा साहब ने अपने पिता से अरबी, फ़ारसी, गणित आदि पढ़ा था। फिर एन्ट्रेंस पास करके रुड़की से ओवरसियरी की परीक्षा भी पास की। उसके बाद उन्हें रेलवे में नौकरी मिल गयी और क्वेटा (बिलोचिस्तान) में नियुक्त हो गये। एक दिन उन्हें रसायन-शास्त्र पर अरबी की एक पुस्तक मिल गयी। अब उन्हें इसकी ऐसी धुन लगी कि इस्तीफ़ा देकर कोठी का सारा सामान नीलाम कर दिया और रसायन-शास्त्र के यन्त्र ख़रीदकर लखनऊ में अपने प्रयोग करने लगे। जीविका के लिए नख़ास के मिशन स्कूल में फ़ारसी के अध्यापक हो गये। रसायन-शास्त्र की धुन इतनी थी कि एक लोहार के लड़के को इस शर्त पर पढ़ाने लगे कि दुकान बन्द होने पर भट्ठी पर वे अपने प्रयोग कर सकें। घर पर ही प्राइवेट तरीक़े से उन्होंने पंजाब यूनीवर्सिटी से बी० ए० पास किया और अमरीका की ओरियन्टल यूनीवर्सिटी से पी० एच० डी० की डिग्री ले ली। मिर्ज़ा साहब कई भाषाएँ

जानते थे, जैसे अरबी, संस्कृत, हिब्रू, ग्रीक, अंग्रेज़ी, फ़ारसी, हिन्दी। साथ ही दर्शनशास्त्र, गणित, तर्कशात्र आदि में उनकी योग्यता बड़ी ऊँची थी। वे ज्योतिष और खगोल-शास्त्र को ही दर्शन का आधार मानते थे और इन्हीं के प्रकाश में इस्लामी विश्वासों का विवेचन करते थे। इसके अतिरिक्त वे कवि और उपन्यासकार भी उच्चकोटि के थे। उनकी मसनवी 'उम्मीदो-बीम' और उपन्यास 'उमरावजान अदा' उर्दू साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं। उनके उपन्यासों से उर्दू में आधुनिक कथा-साहित्य का युग आरंभ होता है। उनकी मानव स्वभाव के अन्दर बड़ी पैठ थी और मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में उनके उपन्यासों का दर्जा बड़ा ऊँचा है। उनके चरित्र समाज के प्रत्येक वर्ग के होते हैं और मानव स्वभाव के अच्छे-बुरे सारे पहलू वे पूर्ण समन्वय के साथ दिखा जाते हैं। उन्होंने 'उमराव जान अदा' में पहली बार एक वेश्या को मानवीय गुणों से परिपूर्ण दरशाया है और इस उपन्यास की मानवीय अपील ग़ज़ब की है।

मिर्ज़ा साहब धुन के पक्के तो थे ही, साथ ही धन और ख्याति के लोभ से हमेशा अलग रहे। कभी किसीके आगे उन्होंने हाथ नहीं फैलाया। अपने काम में लगे होते तो बड़े से बड़े आदमी से भी नहीं मिलते थे, वैसे साफ़ दिल और सच्चे मित्रों से खुलकर मिलते थे। उन्होंने जीवन की 'रंगीनियों का भी खुलकर अनुभव किया था, उनमें लिप्त नहीं हो गये थे। अंत समय में उस्मानिया यूनीवर्सिटी के 'दारुल'-तर्जुमा' में उनकी नियुक्ति हो गयी थी। २१ अक्तूबर १९३१ ई० को मिर्ज़ा साहब ने परलोक-गमन किया।

उनकी कुल रचित पुस्तकें २५ हैं, जिनमें से आठ—जो अधिकतर वैज्ञानिक विषयों पर हैं—अप्रकाशित हैं। उनकी पद्य पुस्तकों में तीन मसनवियाँ और एक कुल्लियात है। उपन्यासों में 'उमराव जान अदा', 'ख़ूनी भेद', 'ख़ूनी जोरू', 'बहराम की रिहाई', 'ज़ाते शरीफ़', 'अफ़शाए-राज़', आदि प्रसिद्ध हैं। अरस्तू के नीतिशास्त्र और अफ़लातून के प्रजातन्त्र पर भी उनकी पुस्तकें प्रसिद्ध हैं।

: १० :

दरबारों के बचे-खुचे प्रभाव

१८५७ ई० के विद्रोह से जहाँ और बहुत-से राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हुए, वहाँ एक परिवर्तन यह भी हुआ कि कविता को राज्याश्रय मिलने के केन्द्र लखनऊ और दिल्ली से उठ गये और रामपुर तथा हैदराबाद पहुँच गये। विद्रोह में अवध और दिल्ली के राज्य समाप्त ही हो गये। बाँदा, फ़र्रुख़ाबाद आदि की छोटी-छोटी रियासतें भी, जहाँ 'मीर' और 'सौदा' के ज़माने में और उसके बाद भी कवियों को राज्याश्रय मिला करता था, ब्रिटिश विरोध के कारण ख़त्म करके अंग्रेज़ी साम्राज्य में मिला ली गयी थीं। किन्तु हैदराबाद की निज़ामत और रामपुर की नवाबी पहले की ही तरह क़ायम रही। रामपुर में पहले नवाब यूसुफ़ अली ख़ाँ और फिर उनके पुत्र नवाब कल्बे अली ख़ाँ स्वयं भी कवि थे और कवियों के गुणग्राहक भी थे। किन्तु १८८७ ई० में कल्बे अली ख़ाँ के मरने पर उत्तराधिकार का झगड़ा चला और रीजेंसी की स्थापना हो गयी। लखनऊ और दिल्ली के कविगण, जो निकट होने के कारण रामपुर का दामन पकड़े थे, अब हैदराबाद जाने के लिए विवश हुए। हैदराबाद में शुरू से ही साहित्यिकों का मान था और उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में ही दीवान चन्दू लाल की दानशीलता उत्तर भारत के उर्दू कवियों को यदाकदा वहाँ खैंच ले जाती थी। इसके बाद भी नवाब सालार जंग ने उत्तर भारत के कई अवकाश-प्राप्त सरकारी अफ़सरों को अपने यहाँ काम करने को बुलाया था, किन्तु हैदराबाद का दरबार स्थायी रूप से उत्तर भारत के कवियों से तभी सुशोभित हुआ जब कि रामपुर के दरबार का साहित्यिक रंग उखड़ गया। भाग्यवश उन दिनों वहाँ के मन्त्री महाराजा सर किशन परशाद 'शाद' थे, जो कवियों और साहित्यकारों के सबसे बड़े गुणग्राहक कहे जा सकते हैं। स्वयं निज़ाम महबूब अली ख़ाँ भी

शायर थे। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हैदराबाद में कवियों का जमाव हो गया और हैदराबाद प्रमुख साहित्यिक केन्द्रों में से हो गया।

इसके साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि इसी अरसे में उत्तर भारत में 'आज़ाद' और 'हाली' द्वारा कविता के नये युग की स्थापना हो रही थी और साहित्य-प्रकाशन का प्रमुख माध्यम साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएं होती जा रही थीं। इस प्रकार की नयी कविता दरबारों की मुखापेक्षी भी नही थी और उन्हे पसन्द भी नहीं आ सकती थी। इसीलिए जो महाकवि इस नये स्वाभाविकतावादी आन्दोलन के साथ न आये और ग़ज़ल, क़सीदा, आदि पुराने काव्यरूपों को ही अपनाये रहे, उन्हे हैदराबाद और शुरू में रामपुर के दरबार ने भी हाथों-हाथ लिया।

किन्तु यह बात भी याद रखनी चाहिए कि यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम काल के इन कवियों ने राज्याश्रय अवश्य प्राप्त किया था, फिर भी उन्हे न पुरातनवादी कहा जा सकता है, न दरबारी कवि। उन्होंने थोड़े-बहुत क़सीदे ज़रूर लिखे हैं, लेकिन उनका मुख्य ध्यान गज़लों पर ही रहा है, जिसकी उनके आश्रयदाता उनसे अपेक्षा भी करते थे। साथ ही साथ शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से भी कविता को भाषा और भाव की दृष्टि से इस काल के इन कवियों की महत्त्वपूर्ण देन है। उन्होंने पहली बार उर्दू में मुहावरों और चुस्ती के आधार पर ऐसी परिपक्वता पैदा की, जिसके आधार पर बाद के कवियों ने कविता मे अगणित संभावनाओं का मार्ग खोला। ग़ज़ल मे सरलता, प्रवाह, नरमी और मार्मिकता जैसी इस ज़माने में हुई, वैसी इससे पहले नहीं देखी जाती। भाषा और शैली की समतलता भी इसी युग की देन है। इस युग के कवियों में 'अमीर', 'दाग़', 'जलाल', 'तसलीम', 'रियाज़' और 'जलील' प्रमुख है।

मशी अमीर अहमद 'अमीर' मीनाई—इस युग के प्रमुख कवि 'अमीर' हैं। मुशी अमीर अहमद मौलवी करम मुहम्मद 'करम' लखनवी के पुत्र थे। वे १८२९ ई० में लखनऊ में पैदा हुए। उस समय लखनऊ में नसीरुद्दीन हैदर का ज़माना था। लखनऊ मे पठन-पाठन और साहित्य-सर्जन का वातावरण पूरे ज़ोर पर था। अमीर अहमद ने प्रारंभिक शिक्षा अपने पिता से और उच्च शिक्षा प्रख्यात अध्ययन केन्द्र फ़िरंगी महल में प्राप्त की। वे अरबी, फ़ारसी,

चिकित्साशास्त्र, ज्योतिष आदि में निपुण हो गये। कविता में वे 'असीर' के शिष्य हो गये। 'असीर' ने उनकी कविता के परिष्कार में बहुत मेहनत की और उन्हें अपने साथ नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में भी ले गये। वहाँ 'अमीर' ने 'इरशादुस्सुल्तान' और 'हिदायतुस्सुल्तान' नामक दो पुस्तकें लिख कर दीं, जिनके इनाम में इन्हें ख़िलअत मिली।

अवध की नवाबी समाप्त होने के बाद वहाँ के गुणीजन भी इधर-उधर बिखरने लगे। 'अमीर' ने पहले सरकारी नौकरी करने का इरादा किया, लेकिन फिर यह इरादा छूट गया। इसके बाद वे कभी काकोरी, कभी हमीरपुर और कभी मैंनपुरी की ख़ाक छानते रहे। आखिर नवाब यूसुफ़ अली ख़ाँ ने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया। यहाँ 'अमीर' को चैन नसीब हुआ और अपने जीवन के तेतालीस वर्ष उन्होंने रामपुर में काटे। नवाब कल्वे अली ख़ाँ के दरबार में उनके अतिरिक्त 'दाग़', 'जलाल', 'तसलीम' और नासिख़ के शिष्य 'मुनीर' शिकोहाबादी जैसे ख्यातनामा कवि मौजूद थे। रामपुर के दरबार से १८८९ में 'दाग़' हैदराबाद चले गये थे। उन्हीं के प्रयत्नों से 'अमीर' भी हैदराबाद पहुंचे, किन्तु उनका अंत समय आ गया था। वे जाते ही बीमार हुए और लगभग चालीस दिन की बीमारी उठाकर १९०० ई० में लगभग बहत्तर वर्ष की अवस्था में परलोकगमन कर गये।

'अमीर' बड़ी साधु प्रकृति के व्यक्ति थे। उनमें गंभीरता, शिष्टाचार, पवित्रता और सादगी के गुण कूट-कूटकर भरे हुए थे। उन्होंने जीवन भर कभी अश्लील शब्द मुँह से नहीं निकाले और न किसी की निन्दा की। अपने प्रतिद्वंद्वियों के प्रति वे उदार थे। चूँकि 'दाग़' ने भी हृदय की वही विशालता दिखायी थी, इसलिए ये दोनों प्रतिद्वंद्वी न होकर घनिष्ट मित्र बन गये थे। प्रथम प्रतिद्वंद्वियों में 'दाग़' और 'अमीर' ने परस्पर प्रेम-व्यवहार से ऐसा उदाहरण उपस्थित कर दिया है,जो आनेवाले साहित्यकारों को हमेशा प्रेरणा देता रहेगा। 'अमीर' के बहुत-से शागिर्द थे, जिनमें 'जलील', 'रियाज़', 'दिल', 'मुज़तर', 'मुहसिन', 'साक़िब', 'हफ़ीज़' आदि के नाम अधिक प्रसिद्ध हैं।

'अमीर' की रचनाओं की सूची लम्बी है। पद्य में उनके दो दीवान हैं: (१) 'मिरातुलग़ैब', जो लखनऊ के ज़माने का है, और (२) 'सनम खानए-

इश्क़'। दो मसनवियाँ भी 'नूरे-तजल्ली' और 'अब्रे-करम' के नाम से लिखी हैं। उनके मुसद्दसों में (१) सुब्हे-अज़ल, (२) शामे-अबद, (३) लैल-तुल्क़द्र, और (४) शाहे-अम्बिया मशहूर हैं। उनके छः वासोख़्त भी हैं, जिनके नाम 'बाँगे-इज़्तरार', 'वासोख़्ते-उर्दू', 'शिकायते-रंजिश', 'सफ़ीरे-आतिशबार', 'हसदे-अग़यार' और 'ग़ुबारे-तबा' हैं। इस संग्रह को 'मीनाए-सुख़न' के नाम से लखनऊ के दायरए-अदबिया ने प्रकाशित करवा दिया है। उनका एक बड़ा कारनामा 'अमीरुल-लुग़ात' है। यह बृहत् शब्दकोश आठ जिल्दों में लिखा जानेवाला था, किन्तु यह पूर्ण न हो सका। इसके अलावा उनकी दो रचनाओं 'इरशादुस्सुल्तान' और 'हिदायतुस्सुल्तान' का उल्लेख पहले ही हो चुका। उनकी अन्य रचनाएँ इस प्रकार हैं—(१) ग़ैरते-बहारिस्तान (इसमें १८५७ ई० के विद्रोह के पूर्व की कुछ ग़ज़लें और वाजिद अली-शाह की प्रशंसा में कहे गये कुछ क़सीदे थे, यह पुस्तक नष्ट हो चुकी है), (२) महामिदे-ख़ातिमुल-नबैन (यह नातिया यानी मुहम्मद साहब की प्रशंसा में कही हुई ग़ज़लों का दीवान है, जो १८७२ ई० में लिखा गया था), (३) इन्तख़ाबे-यादगार (रामपुर के दरबार के कवियों का वृत्तान्त, जो १८७३ ई० में नवाब कल्बे अली के आदेश से लिखा गया था), (४) जौहरे-इन्तख़ाब और (५) गौहरे-इन्तख़ाब ('मीर' और 'दर्द' के रंग में कही हुई ग़ज़लों के संग्रह), (६) सुरमए-बसीरत (इसमें अरबी और फ़ारसी के वे शब्द दिये गये हैं, जिनका लोग ग़लत प्रयोग करते हैं और उनके सही प्रयोग को बताया गया है), (७) बहारे हिन्दी (यह उर्दू के मुहावरों का एक संक्षिप्त कोष है)। उनका तीसरा दीवान अभी तक अप्रकाशित है।

'अमीर' का भाषा और काव्यशास्त्र का ज्ञान कितना विशद था, यह उनकी रचनाओं को देखने से साफ़ मालूम होता है। काव्य में उन्होंने दो रंग पकड़े। पहले वे ठेठ लखनवी ढंग की कविता करते थे, जिसमें एक ओर तो शाब्दिक उलट-फेर और खिलवाड़ होता था और दूसरी ओर स्त्रियों के हावभाव, कंघी-चोटी, अँगिया-चोली का वर्णन जो अश्लील तो है ही, साथ ही कलाहीन भी होता है। अमीर का पहला दीवान 'मिरातुल ग़ैब' इसी प्रकार की शिथिलताओं से भरा हुआ है, जो 'नासिख़' के युग की देन थीं। किन्तु रामपुर में आने के बाद

उन्होंने 'दाग़' के रंग की लोकप्रियता देखकर उन्हींके रंग में काव्य-सर्जना आरंभ कर दी। इस शैली की विशेषता यह है कि इसमें भाषा सरल, चुस्त, प्रवाहयुक्त और मुहावरेदार होती है और नाटकीयता तथा प्रभावोत्पादन अत्यधिक होते हैं—यद्यपि इसमें करुणा की अधिक गुंजायश नहीं होती, तथापि प्रेमभावना की तीव्रता से इसमें जान पड़ जाती है। इस शैली का विस्तृत विवेचन आगे 'दाग़' के प्रकरण में किया जायेगा। ऐसी कविता न तो कल्पना की उड़ान पर आधृत होती है और न सूक्तियों के समावेश और शाब्दिक अनुरूपता की माथा-पच्ची पर। दरअस्ल इसका आधार प्रेम की तीव्र अनुभूति और भाषा पर असाधारण अधिकार होता है। 'अमीर' का भाषा पर अधिकार और काव्य-कला का अभ्यास तो असंदिग्ध है, किन्तु उनके सरल साधु प्रवृत्ति के जीवन से यह आशा ही नहीं की जानी चाहिए कि उन्हें 'दाग़' की भाँति जीवन की रंगीनियों और प्रेम-व्यापार का व्यक्तिगत अनुभव किसी सीमा तक भी होगा। इसीलिए 'अमीर' ने 'दाग़' के रंग में जो कुछ कहा है, उसमें वे 'दाग़' जैसी सजीवता और तड़प पैदा नहीं कर सके हैं। फिर भी 'अमीर' की कविता को 'दाग़' की अनुकृति मात्र कह देना ज़्यादती होगी। उनके अन्दर अपनी विशेषताएँ हैं। पहली बात तो यह है कि उनकी कविताओं में थोड़ा-बहुत सूफ़ीवादी रंग पाया जाता है, जिससे उनके समकालीन लगभग बिलकुल रहित हैं। दूसरी बात यह है कि वे प्रेम की बातें करते हैं, तो भी उनमें अपेक्षाकृत गंभीरता अधिक रहती है, यद्यपि समय की रुचि के अनुसार उनकी कविता में भी कहीं-कहीं छिछोरपन के भाव आ जाते हैं। उनकी भाषा लखनऊ की टकसाली ज़बान है। उनके मुहावरे भी ठेठ लखनऊ के होते हैं।

'अमीर' के बाद के ज़माने की कविता पहले ज़माने की अपेक्षा स्पष्टत: अधिक अच्छी है और बाद का रंग पहले के लखनवी रंग की अपेक्षा अधिक भव्य दिखाई देता है। फिर भी उनकी लखनवी काल की कविता को भी एकदम निकम्मी नहीं कहा जा सकता। एक आलोचक के अनुसार, "न तो तमसीली (रूपकमय) शायरी ख़ुश्क होने पायी है और न तसन्नो की शायरी बेकैफ़ हुई है। तकल्लुफ़ में 'अमीर' ने ऐसी लताफ़त और रंगीनी भर दी है कि नज़ाकत और लोच के अलावा एक ख़ास मज़ा पैदा हो गया है, जो उनके कलाम

को दूसरों की ऐसी शायरी से बहुत ज़ियादा दिलकश और पुरलुत्फ़ बना देता है। बरख़िलाफ़ इसके जब वह 'दाग़' की सादगी और बेतकल्लुफ़ी इख़्तियार करते हैं तो कभी-कभी सूक़ियत और इब्तज़ाल पैदा हो जाता है।" ख़ैर, ग़ज़लों में चाहे उनकी शैली और भाषा में कुछ कमज़ोरियाँ भी हों, मसनवियों और मुसद्दसों में, जहाँ उन्होंने प्रचलित फ़ैशन के अनुसार नहीं, बल्कि हृदय से कविता की है, ये दोष बिलकुल मिट गये हैं। 'अमीर' के कलाम का नमना निम्नलिखित है—

उल्फ़त में बराबर है वफ़ा हो कि जफ़ा हो
हर बात में लज्जत है अगर दिल में मज़ा हो
आये जो मेरी लाश पे वह तंज़ से बोले
अब हम हैं ख़फ़ा तुमसे कि तुम हमसे ख़फ़ा हो

ख़ुदी से बेख़ुदी में आ जो शौक़े-हक़परस्ती है
जिसे तू नेस्ती समझा है, ऐ ग़ाफ़िल ! वो हस्ती है
बढ़ ऐ आहे-रसा अब कंगुरे पर अर्श के पहुँची
बलन्दी को बलन्दी जानना हिम्मत की पस्ती है
न घबरा ऐ दिले वामान्दा अब मंज़िल क़रीब आयी
इसी बस्ती के आगे और इक आबाद बस्ती है
न शाख़े-गुल ही ऊँची है न दीवारे-चमन बुलबुल
तेरी हिम्मत की कोताही तेरी क़िस्मत की पस्ती है

नवाब मिर्ज़ा ख़ाँ 'दाग़' देहलवी—इस युग के कवियों में यद्यपि मान 'अमीर' मीनाई का अधिक है, किन्तु यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि तत्कालीन सार्वजनिक ख्याति 'दाग़' की सबसे अधिक हुई। उर्दू भाषा में 'दाग़' के कई मिसरे लोकोक्तियों का रूप धारण कर चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं के प्रारंभ में संगीत सभाओं में सबसे अधिक 'दाग़' की ग़ज़लें गायी जाती थीं। यहाँ तक कि बीसवीं शताब्दी के गंभीरता-प्रिय साहित्य संसार में यद्यपि 'दाग़' की प्रतिष्ठा पहले से बहुत कम हो गयी है, तथापि अब भी आलोचक गण

अपनी बातों के समर्थन में 'दाग़' के शेरों का डटकर प्रयोग करते हैं। 'दाग़' की इस ख्याति का बड़ा दृढ़ आधार था, जिसका विवेचन आगे होगा।

नवाब मिर्ज़ा ख़ाँ २५ मई, १८३१ ई० को दिल्ली में पैदा हुए। उनके पिता नवाब शमसुद्दीन ख़ाँ लोहारू के रईस नवाब ज़ियाउद्दीन ख़ाँ के भाई थे। १८३८ ई० में उनके पिता को फाँसी दे दी गयी, क्योंकि उन्होंने ब्रिटिश गवर्नर जनरल के दिल्ली स्थित एजेंट मि० फ़्रेज़र की हत्या कर दी थी। नवाब मिर्ज़ा की माँ पति की फाँसी के बाद कुछ वर्षों तक रामपुर में रहीं, फिर बहादुरशाह द्वितीय के पुत्र मिर्ज़ा फ़ख़रू के बुलाने पर १८४१ ई० में रामपुर से दिल्ली के लाल क़िले में आ गयीं। १८४४ ई० में उनका विवाह मिर्ज़ा फ़ख़रू के साथ हो गया। मिर्ज़ा फ़ख़रू अपने सौतेले पुत्र को बहुत मानते थे। उन्होंने उन्हें राजकुमारों जैसी शिक्षा दिलवायी। फ़ारसी-अरबी के साथ ही घुड़सवारी, तीर अन्दाज़ी और बाँक पटे में भी नवाब मिर्ज़ा दक्ष हो गये। उन्हें सुलेखन की भी अच्छी शिक्षा मिली।

उस समय लाल क़िले में कविता का बड़ा बोलबाला था। बराबर मुशायरे हुआ करते थे, जिनमें उस समय के प्रतिष्ठित कवि भाग लिया करते थे। बहादुर शाह और मिर्ज़ा फ़ख़रू दोनों कवि थे और प्रख्यात उस्ताद 'ज़ौक़' के शागिर्द थे। मिर्ज़ा फ़ख़रू ने अपने पुत्र को भी उनके सुपुर्द कर दिया और 'ज़ौक़' ने भी इस प्रतिभाशाली नवयुवक पर काफ़ी मेहनत की। सोलह वर्ष की अवस्था में लाल क़िले के मुशायरे में 'दाग़' ने पहली बार ग़ज़ल पढ़ी और ख़ूब वाहवाही लूटी। इस मुशायरे के बाद कविता के क्षेत्र में उनका स्थान निश्चित हो गया। साथ ही लाल क़िले के हँसी-ख़ुशी और विलास से भरे जीवन में 'दाग़' की जवानी ने आँखें खोलीं और उन्होंने प्रेम की रंगरलियों का जी भर कर आनन्द लूटा।

किन्तु यह चैन अधिक दिन न रहा। १८५६ ई० में मिर्ज़ा फ़ख़रू हैज़े से (या विष दिये जाने से ?) मर गये और 'दाग़' को आन्तरिक षड्यन्त्रों के कारण अपनी माँ के साथ लाल क़िले से निकलना पड़ा। इसके बाद १८५७ ई० का विद्रोह हो गया और उन्हें दिल्ली भी छोड़नी पड़ी। अब वे रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली ख़ाँ की शरण में गये, जहाँ उनके पुराने सम्बन्ध थे और युवराज कल्बे अली ख़ाँ के मुसाहिब तथा अस्तबल के दारोग़ा नियुक्त हो गये।

रामपुर में 'दाग़' ने बड़े सम्मान के साथ जीवन व्यतीत किया। नवाब कल्बे अली ख़ाँ के गद्दी सँभालने के बाद 'दाग़' की पदोन्नति भी हुई और उनकी साहित्यिक ख्याति भी बढ़ी। उनके दो दीवान रामपुर के ही आवास काल में प्रकाशित हुए और कलकत्ते की वेश्या मुन्नीबाई हिजाब से भी उनका प्रेम-सम्बन्ध चला और इसी कारण वे लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद, पटना आदि होते हुए कलकत्ते भी घूम आये। इस प्रेम-व्यापार के दिग्दर्शन के लिए उन्होंने अपनी मसनवी 'फ़रियादे-दाग़' भी लिखी। इसके अतिरिक्त वे नवाब के साथ हज की यात्रा को भी गये। उनकी एक-आध धार्मिक ग़ज़लें इसी हजयात्रा के सिलसिले में लिखी गयी थीं।

नवाब कल्बे अली ख़ाँ के १८८६ ई० में मरने पर 'दाग़' रामपुर में न ठहरे और अगले वर्ष दिल्ली चले गये। कुछ दिन वहाँ रहने के बाद हैदराबाद के महामन्त्री राजा गिरधारीलाल के बुलावे पर वे हैदराबाद चले गये। दो-तीन महीने वहाँ रहे, निज़ाम से भी भेंट हुई, लेकिन उन्हें वहाँ नौकरी पाने में सफलता न मिली और वे दिल्ली लौट आये। १८८८ ई० में राजा गिरधारीलाल ने निज़ाम के कहने से उन्हें फिर बुलाया। फिर भी निज़ाम उन्हें भूल से गये, किन्तु अब 'दाग़' ने हैदराबाद में ही रहने का निश्चय किया। अंत में १८९२ ई० में निज़ाम ने साढ़े चार सौ रुपया मासिक वेतन पर उन्हें अपना काव्य-गुरु नियुक्त कर दिया। १८९४ ई० में यह वेतन बढ़कर एक हज़ार रुपया मासिक हो गया। यहीं पर उनका तीसरा दीवान भी तैयार हो गया और वे सारे भारत में सर्वश्रेष्ठ कवि के रूप में सम्मानित हो गये। १७ फ़रवरी १९०५ ई० को चार महीने पक्षाघात से पीड़ित रहने के बाद उनका देहावसान हो गया।

'दाग़' के स्वभाव में दो बातें उल्लेखनीय हैं—एक तो उनकी शौक़ीन तबीयत और दूसरे उनका सौहार्द। उनकी रंगरलियों का उल्लेख हो ही चुका। वे बहुत अच्छा खाते-पहनते थे। संगीत का उन्हें बहुत शौक़ भी था और जानकारी भी। इसके अलावा उन्हें इत्र, पतंगबाज़ी, मेलों-ठेलों आदि के भी शौक़ कम नहीं थे। उनके सौहार्द का सबसे बड़ा सबूत तो उनकी अपने प्रतिद्वंद्वी कवि 'अमीर' से घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध था। इसके अलावा भी उनका किसी से

कभी विरोध नहीं हुआ। उनके मित्रों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत था और शागिर्दों के साथ भी उनके मैत्री के ही संबंध रहते थे। उनके शिष्यों की संख्या लगभग दो हज़ार थी। हैदराबाद में उन्होंने अपने शागिर्दों के काव्य के संशोधन का हिसाब-किताब रखने के लिए एक दफ्तर ही खोल दिया था। शागिर्दों की रचनाओं को वे अधिकतर डाक से प्राप्त करते थे और संशोधन के बाद डाक से ही उनके पास वापस भेजते थे। उनके शागिर्दों में अल्लामा डा० इक़बाल, 'सीमाब' अकबराबादी, 'नूह' नारवी, 'अहसन' मारहरवी, 'बेख़ुद' देहलवी, 'सायल' देहलवी, 'नातिक़' गुलावठी, 'नसीम' भरतपुरी, लब्भूराम 'जोश' मल्सियानी आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें से 'नूह' नारवी और 'अहसन' मारहरवी का उनसे बड़ा निकट का सम्पर्क था। 'नूह' नारवी तो हैदराबाद में उनके पास कुछ वर्षों तक रहे भी थे और उन्होंने मुहावरों सम्बन्धी एक पुस्तक में (जो अपूर्ण रह गयी) उनकी सहायता की थी। 'अहसन' मारहरवी ने 'दाग़' की जीवनी लिखकर और उनके अंतिम दीवान का संग्रह और प्रकाशन करके शिष्यत्व का कर्तव्य पूरा कर दिया।

'दाग़' की तत्कालीन ख्याति और बाद की बदनामी का रहस्य समाज की रुचि में परिवर्तन है। 'दाग़' के ज़माने में अभिजात वर्ग अपने लुटे हुए वैभव की याद भुलाने के लिए विलास और वासना में डूबा हुआ था। उससे पहले मुख्यत: दो रंग दिखाई देते थे। एक तो 'नासिख़' और 'ज़ौक़' का—विशेषत: 'नासिख़' का—आकारवादी रंग था, जिसके काव्य का मुख्य आधार शब्दों के कौशल के साथ किये हुए प्रयोगों का था। दूसरा 'ग़ालिब' और 'मोमिन' और 'आतिश' का रंग था, जिसमें कल्पना की उड़ान और काव्य-विषयों का अछूतापन पाया जाता था। 'दाग़' ने इन दोनों का सम्मिश्रण करके एक नयी शैली की स्थापना की। भाषा का माधुर्य उन्होंने लखनवी शैली से लिया, किन्तु उसकी शाब्दिक खिलवाड़ दूर करके उसमें दिल्ली शैली की सरलता और सादगी प्रतिष्ठापित कर दी। काव्य विषय के क्षेत्र में उन्होंने कल्पना की बजाय अनुभूति का आधार लिया और लखनवी बेजान नखशिख वर्णन तथा 'ग़ालिब' और 'मोमिन' की कल्पना की उछालों, दोनों से बचकर वास्तविक प्रेम-व्यापार की

तीव्र अनुभूतियों का प्रकाशन किया। इसीलिए यद्यपि उनके यहाँ प्रेम-व्यापार का खुला वर्णन है (जिसके आधार पर कुछ लोग भूल से उनकी कविताओं को अश्लील और पतनोन्मुख भी कह देते हैं), तथापि उसमें नख-शिख की बजाय अनुभूतियों का ही वर्णन है और जहाँ नख-शिख का वर्णन भी है, वह हमारे सौन्दर्य-बोध की तुष्टि करता है। यह सही है कि 'दाग़' के यहाँ प्रेम का रूप ऐसा नहीं है, जिससे प्रेम की प्रतिष्ठा में चार चाँद लग जायँ, यह भी सही है कि उन्होंने अपनी प्रेमिकाओं के सम्मान की ओर से पूरी उपेक्षा बरती है (कभी-कभी तो वे प्रेमिकाओं को गाली भी देने लगते हैं), किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि उनकी अनुभूति यथार्थवादी है। चाहे उनका प्रेम के प्रति दृष्टिकोण अनुकरणीय न हो, किन्तु वह है वास्तविक और हम सभी के जीवन में ऐसे क्षण आते हैं, जबकि हम 'दाग़' के ठेठ भौतिकवादी प्रेम का दृष्टिकोण अपना लेते हैं।

'दाग़' की शैली अत्यन्त आकर्षक है और अधिकतर अर्थों में उर्दू में सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है। उनके शेरों में रवानी और चुस्ती, जो प्रत्येक सत्काव्य के अनिवार्य गुण होते हैं, तो अत्यधिक है ही, साथ ही भाषा की सरलता, माधुर्य और गीतात्मकता ने मिलकर उनमें ऐसा लालित्य पैदा कर दिया है जो 'दाग़' के अलावा मुश्किल से ही किसी और में दिखाई देता है। इस पर शोख़ी और तेवर तथा नाटकीयता ने उनके शेरों को बड़ा प्राणवान कर दिया है। उनकी सबसे बड़ी सफलता मुहावरों का उचित प्रयोग है। इसमें उन्होंने बहुत परिश्रम किया था और इसमें संदेह नहीं कि उर्दू को टकसाली बनाने में 'नासिख़' के बाद 'दाग़' का ही नाम आता है। साथ ही उन्होंने ऐसे प्रवाहयुक्त, चुस्त और मार्मिक शेर लिखे हैं, जो स्वयं ही उर्दू के मुहावरे बन गये हैं और उर्दू का भंडार उनसे भर गया है। उर्दू पर 'दाग़' का वही अहसान है, जो अंग्रेजी गद्य पर ड्राइडेन का है। इसमें संदेह है कि यदि 'दाग़' और उनके समकालीनों ने भाषा के सौष्ठव और उसकी अभिव्यंजना शक्ति पर इतना ध्यान न दिया होता तो उनके तुरन्त बाद मैदान में आनेवाले महान कवियों—'अकबर', चकबस्त और इक़बाल—की भाषा में आज जैसा प्रभाव हो पाता या नहीं। काव्य विषय में न सही, किन्तु भाषा की साज-सँवार करके उसे फ़ारसी से अलग करके अपने

पैरों पर खड़ा करने और उसमें असीमित माधुर्य और सौष्ठव पैदा करने में 'दाग़' की जो देन है, उसे उर्दू संसार कभी नहीं भुला सकेगा।

'दाग़' की रचनाओं में चार दीवान—(१) 'गुलजारे-दाग़', (२) 'माहताबे-दाग़', (३) 'आफ्ताबे-दाग़' और (४) 'यादगारे-दाग़'—तथा एक मसनवी 'फ़रियादे-दाग़' हैं। उनकी रचनाओं का नमूना निम्नलिखित है—

ग़ज़ब किया तेरे वादे का एतबार किया
तमाम रात क़यामत का इन्तज़ार किया
तड़प फिर ऐ दिले-नादाँ कि ग़ैर कहते हैं
अख़ीर कुछ न बनी सब्र इख़्तियार किया
भुला भुला के जताया है उनको राज़े-निहाँ
छुपा छुपा के मुहब्बत को आशकार किया

बुत को बुत और ख़ुदा को जो ख़ुदा कहते हैं
हम भी देखें तो उसे देख के क्या कहते हैं
मैं गुनहगार अगर इश्क़े-मजाज़ी है गुनाह
मैं ख़तावार अगर इसको ख़ता कहते हैं

दर्द बनकर दिल में आना कोई तुमसे सीख जाय
जाने-आशिक़ होके जाना कोई तुमसे सीख जाय
कोई सीखे ख़ाकसारी की रविश तो हम सिखायें
ख़ाक में दिल को मिलाना कोई तुमसे सीख जाय

दुनिया के देखने के लिए आँख चाहिए
जन्नत की सैर से है सिवा इस मकाँ की सैर

हकीम ज़ामिन अली 'जलाल'—रामपुर दरबार के कवियों में 'जलाल' का भी प्रमुख स्थान है। यद्यपि इनकी कविता 'दाग़' और 'अमीर' के स्तर को नहीं पहुँचती, फिर भी उसमें एक अपना रंग है। सय्यद ज़ामिन अली हकीम असग़र अली दास्ताँगो के पुत्र थे। उनका जन्म १८३५ ई० में हुआ था। उन्होंने

आसफ़ुद्दौला के मदरसे से फ़ारसी और अरबी पढ़ी। इसके बाद चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन किया। लखनऊ में उन दिनों शायरी का दौर-दौरा था। इसलिए सय्यद ज़ामिन अली की भी रुचि इधर की ओर हो गयी। पहले वे अमीर अली ख़ाँ 'हिलाल' से अपनी कविता का संशोधन कराने लगे। कुछ दिनों में 'हिलाल' ने अपने उस्ताद मीर अली औसत 'रश्क' के सुपुर्द कर दिया। 'रश्क' ठेठ लखनवी शैली के कवि थे और 'नासिख़' के प्रमुख शागिर्दों में से थे। कुछ दिनों बाद जब 'रश्क' इराक़ की यात्रा पर जाने लगे तो 'जलाल' को 'नासिख़' के दूसरे प्रख्यात शिष्य मिर्ज़ा मुहम्मद रज़ाख़ाँ 'बर्क़' के हवाले कर गये। 'बर्क़' अपने ज़माने के माने हुए शायरों में थे और वाजिद अली शाह के निर्वासन में उनके साथ रहे थे। 'बर्क़' ने 'जलाल' को काव्यकला में दक्ष कर दिया। उन दिनों लखनऊ में रोज़ाना मुशायरे होते थे, जिनमें 'बह्र', 'सेह्र', 'असीर', 'अमीर' आदि सम्मिलित होते थे। जलाल भी इन मुशायरों में भाग लेने लगे।

१८५७ ई० के विद्रोह में ये पुरानी महफ़िलें उखड़ गयीं और कविगण इधर-उधर हो गये। 'जलाल' ने भी जीविका के लिए अपने चिकित्सा-ज्ञान का सहारा पकड़ा, किन्तु उनकी काव्य-साधना बराबर जारी रही। रामपुर के दरबार में जलाल के पिता कहानी कहने के नौकर थे। कुछ दिनों बाद रामपुर के नवाब यूसुफ़ अली ख़ाँ ने 'जलाल' को भी रामपुर बुलाकर अपने दरबार में रख लिया। कुछ दिनों बाद यूसुफ़ अली ख़ाँ के मरने पर उनके पुत्र कल्बे अली ख़ाँ गद्दी पर बैठे। यह कवियों की क़द्रदानी करने में अपने पिता से भी आगे बढ़े हुए थे। उन्होंने 'जलाल' को सौ रुपया महीने पर नौकर रख लिया। नवाब कल्बे अली ख़ाँ इन्हें कितना मानते थे, इसका अन्दाज़ा इसी बात से हो सकता है कि 'जलाल' कई बार उनसे बिगड़कर लखनऊ चले आये और बार-बार नवाब साहब ने उन्हें बुलाकर रख लिया। रामपुर के दरबार में 'दाग़', 'अमीर', 'तसलीम' और 'मुनीर' जैसे प्रतिभाशाली कवि भी मौजूद थे। मुशायरों में एक ही तरह पर सारे कवि ग़ज़लें कहते थे और एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा में एक से एक अच्छी ग़ज़लें निकलती जाती थीं और रामपुर के दरबार की कविता का स्तर ऊँचा होता जाता था। बीस वर्ष तक 'जलाल' इसी प्रेरणादायक वातावरण में रहे।

१८८६ ई० में नवाब कल्बे अली ख़ाँ का देहान्त हो गया और रियासत के प्रबंध के लिए कौंसिल आफ़ रीजेंसी स्थापित हुई, तो दरबार के कविगण भी इधर-उधर बिखर गये। 'जलाल' को मंगरौल के नवाब ने बुलाकर रख लिया। मंगरौल की लखनऊ से दूरी और जलवायु अनुकूल न होने के कारण 'जलाल' जल्द ही वहाँ से लखनऊ चले आये। मंगरौल के नवाब ने फिर भी इनकी क़द्रदानी की और आजीवन उन्हें पचास रुपया महीना और प्रत्येक क़सीदे पर सौ रुपया भेजते रहे। अन्त में २० अक्तूबर १९०९ ई० को उनका देहान्त हो गया।

'जलाल' की योग्यता असंदिग्ध थी। काव्यशास्त्र में उनकी जानकारी बेजोड़ थी। उन्होंने अपनी रचनाओं में काव्यनियम सम्बन्धी शिथिलता तो आने ही नहीं दी है, साथ ही काव्यशास्त्र सम्बन्धी कई पुस्तकें लिखकर अपने उस्ताद 'बर्क़' द्वारा अधूरे छोड़े हुए काम को उन्होंने पूरा किया है। यद्यपि 'जलाल' की तत्सम्बन्धी पुस्तकें प्रारंभिक प्रयास ही कहे जा सकते हैं और इस समय छंदः-शास्त्र और काव्यशास्त्र सम्बन्धी कई अच्छी पुस्तकें छप चुकी हैं, फिर भी 'जलाल' की रचनाओं का ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही।

उन्हें अपनी योग्यता पर गर्व भी था। 'दाग़' को तो वे जाहिल समझते थे। अन्य कवियों को भी अपनी बराबरी का न समझते थे। वे अपने मित्रों में बे-झिझक कहा करते थे कि 'जलाल जैसा शायर न कभी पैदा हुआ है, न आयंदा होगा'। इसी आत्माभिमान को वे उद्दंडता की सीमा तक ले जाते थे और उनके अपने समकालीनों से झगड़ा भी हो जाता था। ऐसे ही एक झगड़े पर तसलीम के शागिर्द ज़हीर अहसन शौक़ ने दो पुस्तकें लिखकर उनकी अच्छी तरह ख़बर ली और उनकी काव्य-सम्बन्धी भूलें दिखायीं। 'जलाल' बड़े कवियों से मिलने और उनकी प्रशंसा करने में अपनी हेठी समझते थे, किन्तु अपने मित्रों और शागिर्दों से वे बहुत प्रेम भी करते थे और शागिर्दों की कविताओं का संशोधन बड़े परिश्रम के साथ करते थे।

'जलाल' लखनवी शायरी की आख़िरी यादगार थे। शब्द-व्यंजना का जादू उन पर से कभी नहीं उतरा और उनकी शैली में कभी परिवर्तन नहीं हुआ। फिर भी पुराने लखनवी कवियों से उनमें एक बात में फ़र्क़ है कि वे कंघी, चोटी,

अँगिया, चोली का वर्णन नहीं करते थे। साथ ही उनकी भाषा में बनावट भी अपेक्षाकृत कम है। कभी-कभी वे प्रभावोत्पादक और करुणात्मक शेर भी कह जाते हैं, किन्तु अपवादस्वरूप। वे बहुत शीघ्र काव्यरचना करते थे, एक-एक दिन में बीस पच्चीस ग़ज़लें तक लिख जाते थे, इसीलिए उनकी रचनाओं में साधारणतः फीकापन बहुत है। फिर भी आकारवादी दृष्टिकोण से उनकी कविता काफ़ी ऊँची है और उसमें शब्दों, मुहावरों आदि की भूलें नगण्य हैं। उनकी रचनाएँ ये हैं—(१) चार दीवान, (२) सरमायए-ज़बाने-उर्दू (उर्दू मुहावरों पर पुस्तक), (३) इफ़ादए-तारीख़ (तारीख़ लिखने के बारे में पुस्तक), (४) मुंतख़िबुल क़वायद (शब्दों की व्युत्पत्ति सम्बन्धी पुस्तिका), (५) तनक़ीहुललुग़ात (६) गुलशने-फ़ैज़ (ये दोनों शब्दकोष है), (७) दस्तूरूल-फ़ुसहा (छंदःशास्त्र सम्बन्धी पुस्तक) और (८) मुफ़ीदुश्शोअरा (स्त्रीलिंग और पुल्लिग की विवेचना)। 'जलाल' की रचना का नमूना निम्नलिखित है—

जो वादिए-इश्क़ के हैं जादे किधर हैं उनका ज़रा पता दे
मुझे भी ऐ बेख़ुदी बता दे इरादा रखती तू कहाँ का
जो दे गया दाग़ मुझको अपना निशाँ तो कुछ उसका मैं न दूँगा
मगर कहूँगा ज़रूर इतना ये काम है एक मेहरबाँ का
फ़ुग़ाँ हो क्या और क्या वो नाला सुने हो जिसको न सुनने वाला
हुआ करे लाख बोलबाला 'जलाल' के नाल ओ-फ़ुग़ाँ का

मुंशी अमीरुल्ला 'तसलीम'—रामपुर के दरबार के चौथे प्रतिष्ठित कवि 'तसलीम' थे। 'तसलीम' के पिता मौलवी अब्दुस्समद पहले दरियाबाद के समीप बद्दूसराय में रहते थे, किन्तु फिर फ़ैज़ाबाद में आकर रहे। इसके कुछ दिनों बाद वे लखनऊ आ गये और मुहम्मदअली शाह के ज़माने में उनकी सेना में तीस रुपये मासिक पर नौकर हो गये। 'तसलीम' का जन्म १८२० ई० में फ़ैज़ाबाद ज़िले के मंगलसी नामक गाँव में हुआ था। उन्होंने अरबी और फ़ारसी पहले अपने पिता और फिर मौलवी शहाबुद्दीन और मौलवी सलामतुल्ला से पढ़ी। उन्होंने ख़ुशनवीसी भी सीखी। पहले वे भी अपने पिता की भाँति

फ़ौज में नौकर हुए। कुछ समय के बाद वाजिद अली शाह के ज़माने में वह पलटन तोड़ दी गयी, जिसमें वे नौकर थे। अब उनकी जीविका का सहारा छूट गया। कुछ दिनों बाद उन्होंने एक आवेदन-पत्र पद्य में लिखकर और अपने हाथ के सुलेख में लिखकर मकतूबुद्दौला मिर्ज़ा मेहदी अली ख़ाँ की मध्यस्थता से नवाब के दरबार में पेश किया। वाजिद अली शाह जो स्वयं कवि थे, इस आवेदनपत्र से प्रभावित हुए और उन्होंने 'तसलीम' को तीस रुपया मासिक वेतन पर अपने दरबार के कवियों में सम्मिलित कर लिया।

'तसलीम' को अपने जीवन में कभी चैन नहीं मिला। १८५६ ई० में अवध की नवाबी ज़ब्त होने के बाद 'तसलीम' रामपुर चले गये। वहाँ उन्होंने युवराज कल्बे अली ख़ाँ के सामने एक क़सीदा भी पेश किया। किन्तु इसका फल कुछ न निकला, उन्हें वहाँ नौकरी नहीं मिली। वे ग़दर समाप्त होने पर लखनऊ लौट आये। यहाँ उन्होंने मुंशी नवलकिशोर के प्रेस में तीस रुपये महीने पर प्रूफ़ पढ़ने की नौकरी कर ली। इसके साथ ही नवाब मुहम्मद तक़ी ख़ाँ के यहाँ से भी उन्हें दस रुपया महीना मिला करता था। १८६५ ई० में जब कल्बे अली ख़ाँ रामपुर के नवाब हुए तो उन्होंने 'तसलीम' को रामपुर बुला लिया और तीस रुपये महीने पर नाज़िर बना दिया। वे नज़ारत से पेशकारी पर पहुँचे और उसके बाद स्कूलों के डिप्टी इंस्पेक्टर हो गये और उनका वेतन भी पचास रुपया मासिक हो गया। १८८६ ई० में नवाब कल्बे अली ख़ाँ के मरने पर 'तसलीम' पहले टोंक के नवाब के यहाँ और फिर मंगरौल के नवाब के दरबार में पहुँचे। वे मंगरौल में कुछ वर्षों तक रहने के बाद फिर रामपुर लौट आये, क्योंकि नवाब हामिद अली ख़ाँ ने उन्हें बुला लिया था। अब वे बहुत बुड्ढे हो गये थे। नवाब ने उनकी पेंशिन चालीस रुपया मासिक नियत कर दी, जो उन्हें अन्त समय तक मिलती रही। १९१० ई० में उनका देहावसान हो गया।

'तसलीम' पुराने ज़माने के सीधे-सादे संतोषी प्रवृत्ति के बुज़ुर्गों में से थे। उन्हें सारी आयु घोर आर्थिक कष्टों का सामना करना पड़ा। रुपया तो अधिक उन्हें कभी मिला ही नहीं, छोटी-मोटी नौकरियों का भी ठिकाना न रहा, आज लगी तो कल छूटी। बुढ़ापे में भी दर-दर की ठोकरें खानी पड़ीं। लेकिन चित्त में इतना संतोष था कि कभी किसीके प्रति कटुता नहीं रखी और मिज़ाज में

कभी चिड़चिड़ापन नहीं आने दिया, बावजूद इसके कि कभी-कभी आर्थिक कठिनाइयों से भूखे रहने की भी नौबत आ जाती थी। 'तसलीम' के अपने समकालीनों और प्रतिद्वंद्वी कवियों से उनके सम्बन्ध बड़े मधुर रहे। 'दाग़' के शिष्य 'नूर' नारवी ने इस सिलसिले में बड़ी मार्मिक कहानी बतायी है। अंत समय में 'तसलीम' को आँखों से नहीं सुझाई देता था। 'दाग़' उस समय मर चुके थे। 'तसलीम' ने 'नूह' नारवी से कहा कि 'तुम मेरा हाथ अपनी आँखों से छुआ दो, ताकि मैं अपनी उँगलियाँ चूम लूँ, क्योंकि तुम्हारी आँखों ने 'दाग़' को अंत तक देखा है!'

'तसलीम कविता में मोमिन शैली के स्तम्भों में से थे। वे 'मोमिन' के प्रमुख शिष्य 'नसीम' देहलवी के शागिर्द थे। लखनवी होते हुए भी उनकी कविता में लखनवीपन छू तक नहीं गया था। उनके यहाँ 'मोमिन' की अनुभूति, तीव्रता, प्रभावोत्पादन और कल्पना की मनोहर उड़ान देखने को मिलती है, यद्यपि यह भी सही है कि अधिक लिखने के कारण उनमें 'मोमिन' जैसा ज़ोर नहीं पाया जाता। 'तसलीम' की ख्याति ग़ज़लों के अतिरिक्त मसनवी के क्षेत्र में भी है। दरअस्ल वे उन्नीसवीं शताब्दी के अंत के मसनवी-लेखकों में सबसे आगे बढ़े हुए साबित होते हैं। उनकी मसनवियों में सरलता, ओज, प्रवाह और प्रभाव सब कुछ है। दरअस्ल 'मोमिन' की शैली मसनवी के लिए अत्यंत उचित शैली भी थी। मसनवी में उन्होंने ग़ज़लों से कहीं अधिक कविता की है।

'तसलीम' का नाम जितना उनकी कविता ने ऊँचा किया है, उससे अधिक उनके शागिर्दों ने ऊँचा किया है। हज़रत 'जिगर' मुरादाबादी उन्हीं के नियमित रूप से शिष्य थे, यद्यपि उन्होंने शीघ्र ही 'तसलीम' का रंग छोड़ दिया। 'असग़र' गोंडवी ने भी कुछ ग़ज़लें उन्हें दिखायी थीं। किन्तु 'तसलीम' की परम्परा को आगे बढ़ानेवाले उनके प्रमुख शिष्य मौलाना 'हसरत मौहानी' और ज़मीरुद्दीन 'अर्श' गयावी थे, जिन्होंने 'मौमिन' शैली को बीसवीं शताब्दी में भी बनाये रखा।

'तसलीम' की ग़ज़लों के तीन दीवान मिलते हैं—'नज़्मे-अर्जुमन्द', 'नज़्मे-दिलअफ़रोज़' और 'दफ्तरे-ख़याल'। उनका पहला दीवान १८५७ ई० के विद्रोह में नष्ट हो गया और एक दीवान किसी शिष्य के पास कहा जाता है।

उनकी अन्य कविता-पुस्तकें अधिकतर मसनवियाँ हैं और उनकी सूची यह है—(१) 'नालए-तसलीम', (२) 'शामे-ग़रीबाँ', (३) सुब्हे-ख़न्दाँ, (४) दिलो-जान, (५) नग़मए-बुलबुल, (६) शौकते शाहजहानी, (७) गौहरे इन्तख़ाब, (८) तारीख़े-रामपूर। इसके अलावा उन्होंने नवाब की यूरोप यात्रा का वर्णन भी पच्चीस-तीस हज़ार शेरों मे लिखा है। काव्य का नमूना यह है—

कुछ कह दो झूठ सच कि तवक़्क़ो बंधी रहे
तोड़ो न आसरा दिले-उम्मीदवार का
'तसलीम' किस के वास्ते बैठे हो, घर चलो
क्या एतबार वादए-बे-एतबार का

वाअज़ ख़ुदा-शनास न होगा तमाम उम्र
अब तक पड़ा हुआ है हरामो-हलाल में

सय्यद रियाज़ अहमद 'रियाज़' ख़ैराबादी—उर्दू में शराब के विषय में लगभग प्रत्येक कवि ने लिखा है, किन्तु जैसा 'रियाज़' ने लिखा है, वैसा किसी और से नहीं बन पड़ा है। वे १८५३ ई० में ख़ैराबाद, ज़िला सीतापुर में पैदा हुए थे। उनके पिता सय्यद तुफ़ैल अहमद पुलिस के अफ़सर थे और रियाज़ ने भी शुरू में पुलिस में ही नौकरी की, किन्तु कुछ ही दिनों में त्यागपत्र दे दिया। १८७२ ई० में गोरखपुर से, जहाँ उनके पिता नौकर थे 'रियाज़ुल-अख़बार' और बाद में 'तारबर्क़ी' नामक दैनिक निकालने लगे। १८७९ ई० में साहित्यिक पत्रिका 'गुलकदए-रियाज़' भी निकालने लगे। उन्हें कई बार रामपुर से बुलावा आया, हैदराबाद से महाराजा किशन परशाद 'शाद' ने भी बुलाया, किन्तु वे नहीं गये। अन्त में महाराजा महमूदाबाद के आग्रह पर १९०८ ई० में लखनऊ आ गये और लगभग अंत समय तक यहीं रहे। २० जुलाई १९३४ ई० को उनका देहावसान हो गया और ख़ैराबाद में दफ़्न किये गये।

'रियाज़' 'अमीर' मीनाई के शागिर्द थे। वे अपने उस्ताद को बहुत मानते थे, बल्कि उनकी भक्ति करते थे। उस्ताद के परिवार वालों से भी आत्मीयता के सम्बन्ध रखते थे। फिर भी उनकी कविता में लखनवी की बजाय 'दाग़' का रंग और ज़्यादा शोख़ होकर उभरा है। उन्होंने सबसे अधिक मद्यपान सम्बन्धी कविता की, किन्तु तारीफ़ यह थी कि एक बूँद शराब नहीं पी। बड़े

ज़िन्दा-दिल और हँसने-हँसाने वाले आदमी थे, तबीयत का चुलबुलापन बुढ़ापे तक न गया। सारा जीवन आर्थिक कठिनाइयों में बिताया, लेकिन कभी माथे पर बल नहीं आया। स्वास्थ्य भी भगवान् ने ऐसा दिया था कि उनकी मस्ती क़ायम रही। अंत समय तक बग़ैर चश्मे के लिख लेते थे और चाँदनी में पढ़ लेते थे। ज़िन्दादिली के साथ ही नमाज़-रोज़े के भी बड़े पाबन्द थे।

'रियाज़' की रचनाओं में गंभीर तत्त्वों की खोज बेकार है। पहली बात तो यह है कि उन्होंने शराब पर बहुत कुछ लिखा है और उनकी शराब भी आध्यात्मिक प्रेम की मदिरा नहीं, बल्कि दुकानों पर मिलने वाला पेय ही है। किन्तु उनका कमाल यह है कि इसी घिसे-पिटे विषय को उन्होंने अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने यहाँ शोख़ी के तत्त्व को बड़ा उभारा है और वह प्रवाह उनके यहाँ इतनी ज़ोर का है कि श्रोताओं और पाठकों को अपने साथ बहाये ही लिये चला जाता है। 'रियाज़' की प्रेमिका भी इसी संसार की है और उनका प्रेम भी उँचाइयाँ लिये हुए नहीं है। साफ़ मालूम होता है कि कोई इसी संसार का प्रेमी इसी संसार की प्रेमिका को प्यार कर रहा है। कभी उससे रूठ जाता है तो कभी मना भी लेता है। 'दाग़' के यहाँ की तीव्रता और तड़प भी 'रियाज़' में कम पायी जाती है, बल्कि उसकी जगह ज़िन्दा-दिल प्रेमी का चुलबुलापन पाया जाता है। लेकिन तारीफ़ की बात यह है कि इतनी शोख़ी के बावजूद उनके शेरों में भद्दापन या छिछोरपन नहीं है।

'रियाज़' ने ग़ज़लों के अलावा क़सीदे, मसनवी, नात, नौहे वग़ैरा सब कुछ लिखे हैं, किन्तु उनकी ख्याति उनकी ग़ज़लों के ही कारण है। उनका एक ही संग्रह 'रियाज़े-रिज़वाँ' है। नमूने के शेर निम्नलिखित हैं—

चले न काम ख़ुमे-मै अगर न साथ चले
हरम की राह में कोसों कुआँ नहीं मिलता
'रियाज़' को हरमो-मैकदा बराबर हैं
पिये शराब वो शब को कहाँ नहीं मिलता

दीवाना मैंने हश्र में ख़ुद को बना लिया
जो मिल गया हसीन गले से लगा लिया

: ११ :

सामाजिक चेतना और नयी कविता

'हाली' और 'आज़ाद' ने उर्दू कविता में जिस सामाजिक चेतना की दाग़-बेल डाली थी, उस पर तुरन्त ही उनके बाद आने वालों ने ऐसी राहें तय्यार कर दीं, जिन पर होकर उर्दू कविता बहुत आगे बढ़ गयी। उर्दू कविता साधारणतः अंतर्मुखी है। बुनियादी तौर पर उसमें सामाजिक चेतना के तत्त्व कम मिलते हैं। 'मीर', 'ग़ालिब' आदि ने अपने कुछ शेरों में ज़माने के दुख-दर्दों का प्रतिबिम्ब दिखाया ज़रूर है, किन्तु वह परोक्ष रूप में ही है। 'ज़फ़र' की कारुणिक ग़ज़लों, वाजिद अली शाह की 'हुज़्ने-अख़्तर' नामक मसनवी तथा 'मुनीर' शिकोहाबादी के बंदी जीवन आदि के कारुणिक बहिर्मुखी चित्रणों आदि में हमें जमाने की हालत का साफ़ पता चलता है, किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि उक्त कवियों ने सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों को भी केवल अपने निजी दुख-दर्द की कसौटी पर परखा। उनमें सामाजिक चेतना का अभाव मिलता है। 'ज़फ़र' की ग़ज़लों में ज़रूर ज़माने का दुख-दर्द उभर कर आया है, किन्तु उनका भी कोई सामाजिक दृष्टिकोण साफ़ नहीं है। 'ज़फ़र' इसी बात को रोते हैं कि बेगुनाहों को फाँसी पर लटकाया जा रहा है। क्यों लटकाया जा रहा है, इस पर उनकी काव्य-चेतना माथा-पच्ची नहीं करना चाहती। फिर 'ज़फ़र' के यहाँ भी ऐसी ग़ज़लें, जिनमें अपने समय के जन-साधारण की कठिनाइयों का उल्लेख है, एक आध ही हैं और उनके बारे में भी संदेह है कि उनकी हैं या नहीं।

इसके विपरीत सर सय्यद के नेतृत्व में गद्य में और 'हाली' के नेतृत्व में पद्य में सामाजिक चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। यह ठीक है कि उनका दृष्टिकोण राजनीतिक नहीं, बल्कि समाज-सुधारक का था और उसमें केवल पश्चिम की प्रशंसा की गयी थी, किन्तु फिर भी इन लोगों का स्पष्ट सामाजिक दृष्टिकोण था। जिस प्रकार का समाज वे पैदा करना चाहते थे, उसका स्पष्ट चित्र उनके मन

के पटल पर अंकित था। यह भी मानना ही पड़ेगा कि राष्ट्रीयता की शिक्षा हमें मुख्यतः पश्चिम के ही द्वारा मिली है, इसके पहले 'वतन' का मतलब अपना शहर या गाँव और उसके आस-पास का इलाक़ा समझा जाता था (हैदराबाद में तो पिछले दशक तक 'मुल्की' और 'ग़ैर-मुल्की' में खींचातानी हुआ करती थी)। और यह स्थान-प्रेम (Local patriotism) भी सामाजिक चेतना का मुख्य अंग नहीं था, मुख्य अंग तो धार्मिक समाज था। ऐसी दशा में उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी और राजभक्त देश-प्रेम का महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है।

किन्तु बहुत शीघ्र ही यह नयी चेतना आगे बढ़कर शासन-सत्ता से लोहा लेने को उद्यत हो गयी। १८५७ ई० के विद्रोह के तीस वर्ष बाद ही राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो गयी, यद्यपि उसका आधार सरकार के साथ सहयोग करके ही राजनीतिक उन्नति करने का था। फिर भी कुछ ही वर्षों बाद लार्ड कर्ज़न की नीति के फलस्वरूप राष्ट्रीय चेतना ने शासन-सत्ता से टकराना शुरू कर दिया। राष्ट्रीय चेतना के पहले युग का उर्दू साहित्य में प्रतिबिम्ब हमें सर सय्यद और उनके साथियों तथा 'हाली', 'आज़ाद', दुर्गा सहाय 'सुरूर' आदि की कविताओं में मिलता है, किन्तु राजनीतिक विरोध के युग का प्रतिबिंब भी हमें उसके तुरन्त ही बाद 'अकबर' इलाहाबादी, चकबस्त लखनवी और डा० 'इक़बाल' की कविताओं में मिल जाता है। नये सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों ने भारत के चिन्तनशील मस्तिष्क पर अलग-अलग ढंग से प्रभाव डाला और उसकी अलग-अलग प्रतिक्रिया हुई। उर्दू के इन तीन महाकवियों की कविताओं में हमें प्रतिक्रिया का यह वैभिन्न्य पूरी तरह दिखाई देता है। इसका विस्तृत विश्लेषण आगे किया जायेगा।

सय्यद अकबर हुसेन 'अकबर' इलाहाबादी—सारे उत्तर भारत के निवासियों को गुदगुदाकर हँसानेवाला और हँसा-हँसाकर रुलानेवाला यह अलबेला शायर १६ नवम्बर १८४६ ई० को इलाहाबाद जिले के बारा नामक क़स्बे में पैदा हुआ। इनका घराना पुराने ढंग का मध्य वर्ग का था। चचा तहसील बारा में तहसीलदार थे। उनका नाम सय्यद वारिस अली था। पिता का नाम सय्यद तफ़ज़्ज़ुल हुसेन था। वे अपने ज़माने के बड़े विद्वान् थे और गणित

शास्त्र में उन्हें विशेष दिलचस्पी थी। वे बड़े धर्मनिष्ठ सज्जन थे और सूफ़ी दर्शन में विशेष रुचि रखते थे।

अकबर हुसेन की शिक्षा नियमित रूप से कोई विशेष नहीं रही। आठ-नौ वर्ष की अवस्था तक घर पर ही पढ़ते रहे, फिर उनकी माँ शिक्षा के ख़्याल से उन्हें इलाहाबाद ले आयीं। कुछ दिनों मौलवियों से पढ़कर उन्होंने १८५६ ई० में जमुना मिशन स्कूल में दाखिला ले लिया। दो-तीन ही साल की पढ़ाई में जी ऊब गया और उन्होंने १८५९ ई० में स्कूल छोड़ दिया। अब वे नौकरी की तलाश में घूमने लगे। पहले यमुना के पुल के निर्माण में पत्थरों की नाप-जोख का काम किया, फिर इलाहाबाद रेलवे स्टेशन में मालगोदाम पर बीस रुपया मासिक पर नौकर हुए, लेकिन जल्दी ही इस नौकरी से भी जी ऊब गया। अब उन्होंने सोचा कि कचेहरी में नौकरी की जाय। चुनाँचे कलक्टर को अर्ज़ी दी और अपनी निराली सूझ-बूझ के कारण नक़लनवीस की जगह प्राप्त कर ली; लेकिन उनकी बेचैन तबीयत को यहाँ भी सहारा न मिला और उन्होंने दो वर्ष बाद इसे भी छोड़ दिया। 'अकबर' की बुद्धि बड़ी प्रखर थी और लगन ग़ज़ब की। नौकरी छोड़ने के बाद उन्होंने सोचा कि मुख़्तारी का इम्तहान दिया जाय। उन्होंने यह परीक्षा १८६७ ई० में प्रथम श्रेणी में पास की। कलक्टर ने उनकी तारीफ़ सुनकर उन्हें १८६९ ई० में नायब तहसीलदार बनाकर बारा भेज दिया। लेकिन 'अकबर' इस छोटे-से क़स्बे में जीवन बिताने के लिए पैदा नहीं हुए थे। उन्होंने एक वर्ष तक किसी तरह काटा और फिर उस नौकरी से भी इस्तीफ़ा दे दिया।

इसके बाद १८७० ई० में वे इलाहाबाद हाईकोर्ट में मिसिल-ख़्वाँ हो गये। यहाँ उन्हें क़ानूनी वातावरण मिला और उनकी महत्त्वाकांक्षाओं को सहारा मिला। १८७२ ई० में उन्होंने हाईकोर्ट की वकालत का इम्तहान दिया और सात वर्ष तक इलाहाबाद, गोंडा, गोरखपुर और आगरे में वकालत की और इस पेशे में अच्छी उन्नति कर ली।

१८८० ई० में सरकार ने इन्हें मुंसिफ़ी के लिए चुन लिया। मुंसिफ़ी में भी 'अकबर' ने योग्यता का सबूत दिया और धीरे-धीरे उन्नति करते-करते जज ख़फ़ीफ़ा हो गये। कई साल तक उन्होंने स्थानापन्न डिस्ट्रिक्ट एण्ड सेशंस जज के

पद पर भी काम किया। वे हाईकोर्ट के जज के पद तक पहुँच जाते, लेकिन १९०३ ई० में अपने प्यारे पुत्र हाशिम का चौदह वर्ष की उम्र में देहान्त हो जाने के कारण उनका जी उचाट हो गया और वे समय से पहले पेंशिन लेकर घर बैठ रहे। हाशिम की मृत्यु पर उन्होंने एक दर्दनाक मरसिया कहा है। इसके पहले उन्हें अपनी तीसरी पत्नी की मृत्यु का भी सदमा उठाना पड़ा था, जिनसे उनसे बड़ा प्रेम था। पत्नी और पुत्र की मृत्यु के दोनों सदमे 'अकबर' के लिए ज़बर्दस्त साबित हुए।

पेंशिन लेकर 'अकबर' अपने मकान 'इशरत मंज़िल' में चले आये। ज़िन्दगी के अंतिम अठारह वर्ष उन्होंने यहीं काटे। उनके बड़े लड़के सय्यद इशरत हुसेन ने उच्च शिक्षा प्राप्त की। वे पढ़ने के लिए इंग्लैण्ड गये और उन्होंने वहाँ एक अँगरेज़ महिला से शादी कर ली। हिन्दोस्तान वापस आकर उन्होंने डिप्टी कलेक्टरी से नौकरी शुरू की और अन्त समय डिप्टी कमिश्नर तक हो गये। 'अकबर' के मरने के बाद पन्द्रह-बीस वर्ष तक वे जीवित रहे। इस समय 'अकबर' के ख़ानदानियों में उनके नवासे हैं, लेकिन वे पाकिस्तान में हैं।

'अकबर' का देहावसान ९ सितम्बर १९२१ ई० को हुआ। मरने से पहले दस-बारह दिन तक बुख़ार और पेचिश की तकलीफ़ उठायी।

'अकबर' केवल काव्य-रचना के क्षेत्र में विनोद और व्यंग्य नहीं करते थे, व्यक्तिगत जीवन में भी उनमें यह माद्दा आख़िरी उम्र तक रहा। साथ ही साथ निर्भीकता का भी उनमें बहुत बड़ा गुण था। इन दोनों गुणों के सम्मिश्रण के कारण जहाँ एक ओर उनके परिहास में तेज़ी आयी, वहीं दूसरी ओर विरोध-प्रदर्शन के लिए उन्हें कटुता का सहारा न लेना पड़ा। उनकी विनोद-प्रियता की कई घटनाएँ काफ़ी मशहूर हैं, जिनमें से दो घटनाएँ दी जा रही हैं।

एक बार वे अपने पुत्र इशरत हुसेन के यहाँ, जब वे डिप्टी कलेक्टर थे, पहुँचे। उनकी बैठक में स्थानीय बड़े लोगों का जमाव था। यह बेचारे सीधे-सादे शेर-वानी पहने एक ओर जा बैठे। किसी ने उपस्थित लोगों का ध्यान भी इस ओर दिलाया कि प्रख्यात कवि 'अकबर' इलाहाबादी यही हैं। फिर भी आम तौर पर लोगों ने इनकी ओर कोई ध्यान न दिया। अंत में किसी ने फुसफुसा कर कहा कि यह डिप्टी साहेब के पिता हैं। अब चारों ओर से इनपर सम्मान की

वर्षा होने लगी। यह जी में जल गये, लेकिन मामूली तौर से बात करते रहे। कुछ देर में बोले, "म्याँ और भी कुछ सुना? सुना है कि लन्दन में अल्लाह मियाँ आये थे।" सब लोग हैरत से देखने लगे तो उन्होंने बात पूरी की, "बेचारों तरफ़ कहते फिरे कि मैं ख़ुदा हूँ, लेकिन किसी ने उन्हें अपने यहाँ घुसने न दिया। आख़िर जब उन्होंने कहा कि मैं ईसामसीह का बाप हूँ तो लोग चारों तरफ़ से दौड़े और उन्हें हाथों हाथ लिया।" सुनने वालों की गर्दन शर्म से नीची हो गयी।

जब 'अकबर' तेरह वर्ष के थे और कचेहरी की नौकरी के लिए कोशिश कर रहे थे, तो इनकी कम उम्र को देखकर कलेक्टर साहब को इनकी सूरत याद रही। हाज़िरी के दिन इन्हें देखा और मुस्कुराकर कहा, "इस बच्चे ने एक ज़रा-सा पर्चा लिखकर दिया था, वह कहीं खो गया।" 'अकबर' लौटकर बाज़ार से कई तख़्ते काग़ज़ लाये और उन्हें जोड़जाड़कर इतना बड़ा बना लिया, जितना दीवारों पर टाँगने वाला बड़ा नक्शा होता है। उसपर निहायत मोटे-मोटे अक्षरों में अर्ज़ी लिखी और कलक्टर साहब की मेज़ पर उसे फैला दिया। अर्ज़ी मेज़ पोश की तरह मेज़ पर बिछ गयी। कलक्टर ने ग़ुस्से में पूछा, "यह क्या है ?" तो बोले, "हुज़ूर अर्ज़ी है। अबकी ज़रा बड़ी लिखकर लाया हूँ ताकि खो न जाये।" कलक्टर साहब हँस पड़े और सय्यद अकबर हुसेन को नक़ल-नवीसी की जगह मिल गयी।

वह क़िस्सा तो मशहूर ही है जब एक ग्रेजुएट साहब उनसे मिलने गये और विज़िटिंग कार्ड पर अपने नाम के आगे हाथ से बी० ए० लिख दिया और घर में भिजवाया। 'अकबर' ने उसी कार्ड के पीछे यह शेर लिखकर कार्ड वापस कर दिया—

शेख़ जी घर से न निकले और यह फ़रमा दिया
आप बी० ए० पास हैं बन्दा भी बीबी पास है

विनोद-प्रियता के साथ ही उनकी बुद्धि भी बड़ी कुशाग्र थी। अपनी अल्प शिक्षा के बावजूद केवल स्वाध्याय के बलपर तरक़्क़ी पर तरक़्क़ी करते जाना ख़ुद इस बात की दलील है कि उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। इस सिलसिले में उनके आरंभिक जीवन की एक घटना उल्लेखनीय है। नक़लनवीसी छोड़ने

के बाद वे मुख़्तारी का इम्तहान देने के चक्कर में अपने एक रिश्तेदार सिराजुद्दीन हैदर के पास गये। वे सज्जन वकील थे। 'अकबर' ने उनसे कहा कि आप अपनी दो पुस्तकें 'ताज़ीराते-हिन्द' और 'क़ानूने-शहादत' शाम को दे दिया कीजिए, हर सुबह मैं वापस कर दिया करूँगा। हैदर साहब इनकी अल्प शिक्षा को जानते थे, हँसकर पूछा, "क्या करोगे?" इन्होंने कहा कि देखूंगा क्या लिखा है। हैदर साहब ने कहा, "यह ख़ब्त छोड़ो। यह क़ानून की ज़बान है, बहुत पेचीदा होती है। इसे न समझ सकोगे।" लेकिन 'अकबर' पीछे पड़ गये तो दोनों पुस्तकें दे दीं। दूसरे दिन 'अकबर' ने उन्हें वापस किया तो हैदर साहब बोले, "कुछ समझ में आया?" 'अकबर' ने कहा, "अभी दोनों के पचास-पचास सफ़हे ही पढ़े हैं, वे तो ख़ूब समझ में आ गये। आप चाहें तो पूछ लीजिए।" हैदर साहब ने किताब खोली और एक दफ़ा पूछी। 'अकबर' ने व्याख्या सहित उस दफ़ा को बता दिया। हैदर साहब स्तंभित रह गये। फिर उन्होंने उनकी काफ़ी मदद भी की। क़ानून के विद्यार्थी यह अच्छी तरह समझ सकते हैं कि एक ही रात में—वह भी पहले पहल ही—क़ानून की किताबों के सौ पृष्ठ समझ लेने के लिए कितनी ज़बर्दस्त प्रतिभा अपेक्षित है।

'अकबर' उर्दू कविता की अन्तर्मुखी परम्परा को काफ़ी हदतक छोड़नेवाले लगभग पहले शायर हैं। उनके यहाँ हमें सामाजिक परिवर्तनों और उनके प्रभाव के प्रति पूरी तरह से जागरूकता दिखाई देती है। उन्हें साधारणतः राष्ट्रवादी कवि कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने ब्रिटिश राज्यकाल में होनेवाले परिवर्तनों का काफ़ी विरोध किया और उनका डटकर मज़ाक उड़ाया। कभी-कभी वे अँगरेज़ों तथा उनके द्वारा लाये गये राजनीतिक सुधारों पर भी हमला करने लगते हैं। फिर भी उन्हें आज के संदर्भ में राष्ट्रवादी कहना उचित नहीं है। वास्तव में वे आज के राजनीतिक मूल्यों के आधारभूत रूप से विरोधी थे। आज की भारतीय राजनीतिक चेतना के मुख्य आधार पाँच दिखाई देते हैं—(१) प्रजातन्त्र, (२) आर्थिक समृद्धि, (३) धर्म-निरपेक्षता, (४) विश्व-बंधुत्व, तथा (५) सांस्कृतिक प्रगति। 'अकबर' ने हमेशा निर्वाचन का मज़ाक उड़ाया, आर्थिक समृद्धि के प्रति उदासीन रहे, बल्कि आर्थिक समृद्धि का त्याग करके भी पुराने धार्मिक और सामाजिक मूल्यों को क़ायम रखने पर ज़ोर दिया।

धर्म के प्रति उदासीन होने का वे सपना भी नहीं देख सकते थे। वे चाहते थे कि हिन्दू अपने धर्म पर और मुसलमान अपने धर्म पर दृढ़ता से जमे रहें और धर्म-निरपेक्षता का मनोवैज्ञानिक आधार धर्म के प्रति थोड़ी-बहुत, कम से कम सामाजिक क्षेत्र में उदासीनता ही होता है; विश्व-बंधुत्व की एक तो उनके सामने कोई समस्या ही नहीं थी, किन्तु उनकी पश्चिमी सभ्यता के प्रति जितनी तीव्र घृणा थी, उससे विश्व-बंधुत्व का मार्ग तो बिलकुल प्रशस्त नहीं हो सकता था। वे पूर्व और पश्चिम के एक होने की कभी कल्पना ही नहीं कर सकते थे, यहाँ तक कि उन्होंने हिन्दुओं के प्रति जो उदारता दिखाई, ईसाइयों के प्रति बिलकुल नहीं दिखायी; जहाँ तक सांस्कृतिक उत्थान और प्रगति का प्रश्न है, 'अकबर' का रूढ़िवादी दृष्टिकोण इतना साफ़ है कि किसी से छुपा नहीं है। उनकी परदे की हिमायत, अंग्रेज़ी शिक्षा का विरोध, विज्ञान का विरोध आदि उनके शेरों से फूट-फूटकर निकलता दिखाई देता है और उनके पुरातनवाद का स्पष्ट प्रमाण है।

दरअस्ल 'अकबर' घोर पुरातनवादी के अतिरिक्त और कुछ न थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उत्तर भारत में हिन्दू-मुसलमानों की एक मिली-जुली संस्कृति—जिसका आधार दोनों की धार्मिक दृढ़ता के साथ ही सामाजिक जीवन में सहिष्णुता भी था—विकसित हो गयी थी। अंग्रेज़ी प्रभाव में वह सभ्यता टूटने लगी और पश्चिमी मूल्यों के साथ ही साथ राजनीतिक कारणों से फूट भी पड़ने लगी। बीसवीं शताब्दी के प्रगतिशील राजनीतिज्ञों ने अँगरेज़ों की इस नीति का विरोध किया और 'अकबर' ने भी साम्प्रदायिक ऐक्य का नारा दिया, किन्तु 'अकबर' का उद्देश्य उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक मूल्यों की पुनःस्थापना भर था। उनके साम्प्रदायिक ऐक्य के पुरातनवाद का पता इसी से चलता है कि उसमें ईसाईयों के लिए कोई स्थान नहीं है, जबकि बीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीय चेतना 'हिन्दू बौद्ध सिख जैन पारसिक मुसलमान ख्रिष्टानी' को एक सूत्र में पिरोना चाहती थी। इसका कारण भी वही था कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अँगरेज और ईसाई दोनों को एक नजर से देखा जाता था।

फिर भी 'अकबर' की सामाजिक चेतना का अत्यन्त उत्कृष्ट पहलू यह है कि उनका मानव-प्रेम उनके एक-एक शेर से फूटा पड़ता जान पड़ता है। उन्हें किसी विशेष वर्ग की नहीं, सभी लोगों की चिन्ता थी। आपसी मारकाट,

निर्धनता, बे-रोज़गारी, दुर्भिक्ष आदि के दृश्य देखकर उनका हृदय रो पड़ता था। यही मानव-प्रेम का स्थायी मूल्य—जिसका आधार उनके सूफ़ी मत पर विश्वास के साथ उनकी सामाजिक चेतना में निहित है—'अकबर' को उनके सारे पुरातन-वाद के बावजूद उन्हें लोकप्रिय बनाये रखेगा।

'अकबर' के काव्य का असली आकर्षण उसकी सामाजिक चेतना के आधार पर नहीं, बल्कि उसके कलापक्ष की सबलता के आधार पर समझा जा सकता है। 'अकबर' मुख्यतः व्यंग्य और विनोद के कवि हैं और हँसी-मज़ाक़ को उन्होंने इतना ऊँचा रूप दे दिया है कि वह अत्यन्त गंभीर चीज़ बन गया है। पहले ही कहा जा चुका है कि 'अकबर' का दृष्टिकोण पुनरुत्थान-वादी था। अपने ज़माने के सारे पुनरुत्थान-वादियों की भाँति 'अकबर' भी सामाजिक चेतना की दृष्टि से कुण्ठाग्रस्त थे। किन्तु अपने निज के विनोदी स्वभाव तथा उससे भी अधिक अपने मानव-प्रेम के कारण उनकी कुण्ठा ने व्यंग्य का रूप ले लिया, जिससे उनके कोपभाजनों को डाँट-फटकार की बजाय मीठी चुटकियाँ ही मिलीं। 'अकबर' अपने विश्वासों की पृष्ठभूमि में दो ही बातें कर सकते थे—एक तो यह कि वे अपने युग के नवचेतना-वादियों को पुराने मौलवियों और मुल्लाओं की तरह काफ़िर कहकर गालियाँ दें, या फिर उनका मज़ाक़ उड़ायें। जनतन्त्र में विश्वास न होने और सशस्त्र विद्रोह की असफलता देखने के कारण पुरातनवादी केवल अपनी कुण्ठा का प्रदर्शन कर सकते थे। कुण्ठा के प्रदर्शन में 'अकबर' देख चुके थे कि गाली-गलौज का कोई लाभ नहीं है, क्योंकि पुरातनवादी मौलवियों की गाली-गलौज को सर सय्यद अपनी दृढ़ता से परास्त कर चुके थे। चुनांचे 'अकबर' ने व्यंग्य का, बल्कि कटुताहीन व्यंग्य का सहारा लिया। यद्यपि इस अस्त्र से भी वे अपने सामाजिक उद्देश्य में पूरी तरह सफल न हो सके, तथापि उन्होंने सर्वसाधारण के मन में अपने लिए स्थायी रूप से स्थान बना लिया।

इसमें संदेह नहीं कि 'अकबर' ने व्यंग्य को जैसा कलात्मक रूप दिया है, वह उनके किसी पूर्ववर्ती में तो दिखाई ही नहीं देता, उनके बाद वालों ने भी हज़ार कोशिश करने पर भी उनकी सफ़ाई पाने में सफलता नहीं पायी। उनके कुछ शेर तो बिलकुल हँसी-मज़ाक़ के हैं, जिनमें कोई बात नहीं कही गयी है, किन्तु जो

शेर परिहास से निकल कर व्यंग्य के क्षेत्र में आ जाते हैं, वे भी इस अंदाज़ से कहे गये हैं कि जिस व्यक्ति पर व्यंग्य किया गया है, वह भी हँस पड़े। उनकी व्यंग्य की शैली की दो-तीन विशेषताएँ हैं। कभी तो धड़ाधड़ अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग से परिहास और व्यंग्य की सृष्टि कर देते हैं, कभी नयी-नयी उपमाओं और रूपकों के द्वारा—बल्कि अधिकतर इसी माध्यम से व्यंग्य की सृष्टि करते हैं; जैसे लिबरल नेताओं के लिए 'बुद्धू', इस्लामी सभ्यता के लिए ऊँट, खजूर और चपाती तथा हिन्दू सभ्यता के लिए गाय, खिचड़ी, पूरी आदि का प्रयोग। कभी भोलेपन के आवरण में छुपी हुई शोख़ी आदि से श्रोताओं को लहालोट कर देते हैं। साधारणतः उनके मज़ाक़ (एक आध अपवाद को छोड़कर) अश्लीलता और बाज़ारूपन से बचे हुए हैं और पूरी शोख़ी के बावजूद भद्र समाज में कहे जा सकते हैं।

अपने सामाजिक पुरातनवाद के बावजूद साहित्य-सर्जन के क्षेत्र में वे नवीनतावादी भी थे। उन्होंने दिल्ली दरबार, पानी की रवानी आदि कई नज़्में बिलकुल नयी शैली में लिखी हैं, बल्कि एक कीड़े के मसले जाने पर जो दार्शनिक नज़्म लिखी है, वह तो सारी परम्पराओं को तोड़कर अन्त्यानुप्रासहीन लिखी है। कभी-कभी 'अकबर' जब व्यंग्य की शैली छोड़कर दार्शनिक रूप में सामने आते हैं, तो बड़े मारके की बातें कहते हैं और थोड़े से ही शेरों में उनका सूफ़ीवादी दृष्टिकोण इतना उभर कर सामने आता है, और इतने नये ढंग से आता है कि देखते ही बनता है। काव्य की नयी अभिव्यक्तियों में 'अकबर' की ऐतिहासिक देन है।

'अकबर' ने ग़ज़लें भी लिखी हैं और काफ़ी लिखी हैं। कुछ लोग उनकी ग़ज़लों को भी प्रथम श्रेणी की बताते हैं, किन्तु ग़ज़ल-गो की हैसियत से 'अकबर' द्वितीय श्रेणी से आगे नहीं बढ़ते और अपने पूर्ववर्तियों 'दाग़' 'अमीर' आदि और बाद के ग़ज़ल-गोयों 'असग़र', 'शाद', 'फ़ानी', 'यगाना' आदि के बीच में बिलकुल दब जाते हैं।

कविता का आरम्भ 'अकबर' ने 'वहीद' की शागिर्दी से किया। 'वहीद' ख़्वाजा 'आतिश' के शिष्य थे और उन्हीं के रंग में चुटीले शेर कहने के पक्षपाती थे। 'अकबर' की प्रारम्भिक रचनाएँ भी इसी रंग में कही गयी हैं। उन्होंने

स्वयं कविता में कोई शिष्य नहीं बनाया। उनके तीन संग्रह मिलते हैं। पहले में १९०८ तक की रचनाएँ हैं, दूसरे में १९१२ ई० तक की रचनाएँ हैं और तीसरे में, जिसे इशरत साहब ने सम्पादित किया है, अंतिम काल की रचनाएँ हैं। इनके अलावा एक छोटा-सा संग्रह हाल में ही पाकिस्तान से प्रकाशित किया गया है। कुछ स्फुट कविताएँ पुरानी पत्र-पत्रिकाओं से मिलती हैं, जिन्हें किसी संग्रह में स्थान नहीं मिला है। 'अकबर' की रचनाओं का नमूना निम्न-लिखित है—

जो मिल गया वो खाना दाता का नाम जपना
इसके सिवा बताऊँ क्या तुम से काम अपना
ऐ बरहमन हमारा तेरा है एक आलम
हम ख़्वाब देखते हैं तू देखता है सपना
बे-इश्क़ के जवानी कटनी नहीं मुनासिब
क्यों कर कहूँ कि अच्छा है जेठ का न तपना

बे-पर्दा नज़र आयीं जो कल चन्द बीबियाँ
'अकबर' ज़मी में ग़ैरते-क़ौमी से गड़ गया
पूछा जो उनसे आपका पर्दा वो क्या हुआ
कहने लगीं कि अक़्ल पे मर्दों की पड़ गया

हम क्या करें अहबाब क्या कारे-नुमायाँ कर गये
बी० ए० हुए, नौकर हुए, पेंशन मिली, फिर मर गये

दर पर मज़लूम एक पड़ा रोता है
बेचारा बला में मुब्तला रोता है
कहता है वो शोख़ ताल-सम ठीक नहीं
क्या इसकी सुनूँ कि बेसुरा रोता है

डारविन साहब हक़ीक़त से निहायत दूर थे
मैं न मानूंगा कि मूरिस आपके लंगूर थे

कहता हूँ मैं हिन्दुओ - मुसल्माँ से यही
अपनी अपनी रविश पे तुम नेक रहो
लाठी है हवाये दह्र, पानी बन जाओ
मौजों की तरह लड़ो मगर एक रहो

ज़ेह्न में जो घिर गया लाइन्तहा क्यों कर हुआ
जो समझ में आ गया फिर वह ख़ुदा क्योंकर हुआ

जो देखी हिस्टरी इस बात पर कामिल यक़ीं आया
उसे जीना नहीं आया जिसे मरना नहीं आया

पण्डित ब्रज नरायन चकबस्त—नये सामाजिक परिवर्तनों की पुरातन-वादी प्रतिक्रिया का रूप हम 'अकबर' की विवेचना में देख चुके। किन्तु देश की जागरूक और प्रगतिशील—अपने ज़माने के लिहाज़ से प्रगतिशील—चेतना पर नये परिवर्तनों की जो प्रतिक्रिया हुई है, वह चकबस्त के काव्य में स्पष्टत: दिखाई देती है।

पण्डित ब्रज नरायन चकबस्त एक कश्मीरी ब्राह्मण ख़ानदान में पैदा हुए थे। उनके वंश में लिखने-पढ़ने का शौक़ शुरू से ही रहा था। उनके बुज़ुर्ग ख़ास लखनऊ के रहने वाले थे, किन्तु कुछ दिनों के लिए उनके पिता पं० उदित नरायन चकबस्त फ़ैज़ाबाद चले गये थे। वहीं १८८२ ई० में पण्डित ब्रज नरायन चकबस्त का जन्म हुआ।

पण्डित ब्रज नरायन ने अच्छी शिक्षा प्राप्त की। उर्दू-फ़ारसी की शिक्षा परम्परानुसार अपने घर पर ली और साथ ही अंग्रेज़ी स्कूल में भी दाख़िल हो गये। उन्होंने १९०५ ई० मे केनिंग कालेज लखनऊ से बी०ए०पास किय और वहीं से वकालत पास करके १९०८ ई० में वकालत करने लगे। चूँकि मेहनती, समझदार और लगन के पक्के थे, इसलिए शीघ्र ही वकालत में चमकने लगे और कुछ ही वर्षों में उनकी गणना लखनऊ के बड़े वकीलों में होने लगी।

शायरी का शौक़ उन्हें बचपन से ही था। कहा जाता है कि उन्होंने पहली ग़ज़ल उस समय कही, जब उनकी अवस्था केवल नौ वर्ष की थी।

उन्होंने उर्दू कविता की परम्परा के अनुसार कोई उस्ताद नहीं बनाया। यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उस्ताद बनाकर वे शायद शुरू से ही अपना अलहदा रंग न पैदा कर पाते। उस्ताद की कमी को उन्होंने उर्दू के प्रमुख कवियों—'मीर', 'आतिश', 'ग़ालिब', 'अनीस', 'दबीर' आदि—की रचनाओं का गहरा अध्ययन करके पूरी की। किन्तु मालूम होता है कि उन्हें उस्ताद न करने के कारण साहित्य-संसार में पदार्पण करने में कुछ कठिनाई हुई होगी। उनकी कविताओं के प्रथम पाठ के उदाहरण उनकी जातीय सभाओं में ही मिलते हैं और वह भी रचना प्रारंभ के काफ़ी बाद। उनका बार-बार यह कहना कि मैं कवि नहीं हूँ, केवल शिष्टता समझी जाती है; वस्तुतः इसकी तह में थोड़ा व्यंग्य भी दिखाई देता है,क्योंकि सारी शिष्टता के बावजूद उन्होंने अपनी विशेष शैली का सगर्व उल्लेख करने में कभी समझौता नहीं किया।

चकबस्त कविता के अतिरिक्त आलोचना के क्षेत्र में भी शुरू से ही धाक जमा बैठे थे। १९०५ ई० में, जब उनकी अवस्था केवल तेईस वर्ष की थी, तत्कालीन प्रख्यात आलोचक मौलाना अब्दुलहलीम 'शरर' ने पं० दयाशंकर 'नसीम' की मसनवी 'गुल्ज़ारे-नसीम' पर कुछ काव्य-कला सम्बन्धी आपत्तियाँ उठायी थीं। चकबस्त ने उनका विद्वत्तापूर्ण उत्तर देना शुरू किया। तत्कालीन उर्दू जगत में 'शरर' और चकबस्त की क़लमी लड़ाई बहुत दिलचस्पी की चीज़ बन गयी। यह वाद-विवाद बाद में 'मारकए-शरर-ओ-चकबस्त' के नाम से छप भी गया है। प्रख्यात कवि और आलोचक मौलाना 'हसरत' मौहानी ने इस वाद-विवाद के बारे में अपने पत्र 'उर्दू-ए-मुअल्ला' में लिखा कि चकबस्त की दलीलें सुनने के बाद मालूम होने लगा है कि मौलाना 'शरर' ने मसनवी 'गुल्ज़ारे-नसीम' पर जो आपत्तियाँ उठायी थीं, वे ग़लत थीं। यह सिर्फ़ एक आलोचक की राय नहीं है। उर्दू जगत ने चकबस्त के ही पक्ष में निर्णय दिया और मसनवी 'गुल्ज़ारे-नसीम' पर इसके बाद किसी ने कोई आपत्ति नहीं उठायी। इस वाद-विवाद के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक विषयों पर भी चकबस्त बराबर कुछ न कुछ लिखा करते थे। 'कश्मीर-दरपन', 'ख़दंगे-नज़र', 'अदीब', 'ज़माना' आदि पत्रिकाओं में उनके विद्वत्तापूर्ण लेख बराबर निकलते रहते थे। चकबस्त के ये लेख पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हो गये हैं।

उनकी मृत्यु अचानक ही हुई। १२ फ़रवरी १९२६ ई० को वे एक मुक़दमे की पैरवी करने राय बरेली गये। तीसरे पहर उन्होंने बहस की और ६ बजे शाम को लखनऊ आने के लिए रेलगाड़ी पर बैठे। अचानक ही उनके मस्तिष्क पर पक्षाघात हुआ और उनकी ज़बान बन्द हो गयी। उन्हें प्लेटफ़ार्म पर उतार लिया गया। यथासंभव उपचार की व्यवस्था की गयी, किन्तु दो घंटे बाद प्लेटफ़ार्म पर ही उनकी मृत्यु हो गयी। ग्यारह बजे रात को मोटर पर उनका शव लखनऊ लाया गया। सारे लखनऊ बल्कि सारे उर्दू जगत में इस समाचार से शोक छा गया। कई शायरों ने तारीखें और मरसिये लिखे।

यह स्पष्ट है कि चकबस्त की परम्परा में उनके बाद बहुत-से लोगों ने देश-प्रेम से परिपूर्ण कविताएँ लिखी हैं, परन्तु वे चकबस्त की बनायी हुई राह पर न चल सके। 'इक़बाल' की ही भाँति चकबस्त साहित्य-गगन के जाज्वल्यमान नक्षत्र बनकर चमके, अपने प्रकाश की कुछ किरणें भी छोड़ गये, किन्तु उनका स्थान किसी और नक्षत्र ने नहीं लिया। 'इक़बाल' की ही भाँति चकबस्त ने भी अपना कोई 'स्कूल' न छोड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी में हमें 'नज़ीर' अकबराबादी के रूप में ऐसा एक और उदाहरण मिलता है, जब कि कोई उस्ताद अपनी जगह काफ़ी मशहूर होकर भी कोई अपना निज का 'स्कूल' क़ायम नहीं करता।

इस बात का कारण इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता कि 'इक़बाल' और चकबस्त दोनों ने साहित्य के नये तक़ाज़ों के अनुसार अपनी अनुभूतियों का रुख़ वैयक्तिक क्षेत्र से हटाकर सामाजिक क्षेत्र की ओर मोड़ दिया था। यहाँ किसी तरह की ग़लतफ़हमी न होनी चाहिए। वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं के बीच कोई हदबन्दी नहीं हो सकती और न इन दोनों शिविरों में लेखकों और कवियों का बँटवारा हो सकता है। कहने का मतलब यह है कि इन दोनों महाकवियों ने मनुष्य की वैयक्तिक समस्याओं का समाधान मुख्यतः सामाजिक रूप से करने का प्रयत्न किया। सूफ़ीवाद की भाँति वे कभी सामाजिक जीवन को तटस्थ रूप से न देख सके। और चूँकि उनकी अनुभूतियों का आधार मुख्यतः सामाजिक था और समाज गतिशील होता है, अतएव उनके साहित्यिक व्यक्तित्व में तत्कालीन सामाजिक रूपरेखा का पूरा प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। समाजशास्त्री जानते हैं कि सामाजिक

परिवर्तनों का रूप नदी के बहाव की भाँति समगति नहीं होता, बल्कि मेंढ़क की कुदान की भाँति होता है। कभी तो समाज स्थिर-सा मालूम होता है (यद्यपि वास्तव में उसका प्रत्येक अंग प्रगति की तय्यारी में लगा होता है) और कभी अचानक परिवर्तन दिखाई देते हैं। सामाजिक प्रगति की उन्हीं दोनों स्थितियों को विकास (Evolution) तथा क्रांति (Revolution) कहते हैं। क्रान्ति के लिए न तो हिंसात्मक होना आवश्यक है और न क्षणिक। वह तो झटके के साथ परिवर्तन होने का नाम है। इस दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और बीसवीं का पूर्वार्ध भारतीय समाज के लिए क्रान्तिकारी काल कहा जा सकता है। सामाजिक क्रांति-काल में समस्याएँ और उनके समाधान के तौर-तरीक़े क्षण-क्षण बदलते रहते हैं। ऐसी परिस्थिति में समय का थोड़ा-सा ही अन्तर होने पर दृष्टिकोणों में आमूल परिवर्तन हो जाता है। चूँकि 'इक़बाल' और चकबस्त दोनों ही समाजोन्मुख साहित्यकार थे, इसलिए उन पर अपने समय की सामाजिक अनुभूतियों का प्रभाव पड़ा और कुछ ही वर्षों बाद परिस्थितियाँ इतनी बदल गयीं कि बाद के प्रतिभावान साहित्यकार इन दोनों से प्रेरणा के अतिरिक्त और कुछ ग्रहण न कर सके। इसीलिए इन दोनों ने अपने कोई 'स्कूल' न छोड़े और न अब यही मुमकिन है कि बाद का कोई साहित्यकार उनकी जगह ले ले या उनके क्षेत्र में उनसे आगे बढ़ जाय। उनका क्षेत्र भी उनके साथ ख़त्म हो गया।

सबसे पहले तो हमें चकबस्त की काव्य-चेतना के विकास पर एक सरसरी नज़र डालनी है। चकबस्त ने जब होश सँभाला, उस समय से अंत समय तक वे लखनऊ में ही रहे। उन्होंने बचपन से ही काव्य-रचना प्रारंभ कर दी थी। पहले ही कहा जा चुका है कि उनकी पहली ग़ज़ल नौ वर्ष की अवस्था में कही गयी थी। लखनऊ का निवास और कश्मीरी ब्राह्मणों का ख़ानदानी विद्या-प्रेम। स्पष्ट है कि ऐसे में चकबस्त शुरू से ही लखनवी रंग में पूरी तरह रँग जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते थे। उनका साहित्य-प्रेम इतना बढ़ा हुआ था कि १९०५ ई० में ही उन्होंने जिस योग्यता से साहित्यिक विवाद में भाग लिया, उसे देखकर तत्कालीन विद्वान् उनका लोहा मान गये। हाँ, चूँकि वे जन्मजात कवि थे, इसलिए 'नासिख़' स्कूल की बेजान और कोरे शब्द-

जालवाली भावविहीन कविता से वे प्रभावित न हो सके। किन्तु लखनऊ के ही दूसरे महाकवि 'आतिश' की शैली से वे बहुत प्रभावित हुए। जब तक उन्होंने ग़ज़ल मे अपनी अलग राह नहीं बनायी, तब तक की उनकी प्रारंभिक ग़ज़लोंपर 'आतिश' का असर साफ़ दिखाई देता है। 'आतिश' अनुभूति की तीव्रता, काव्य के प्रवाह और शब्दों के उचित चयन और प्रयोग के पक्षपाती थे। चकबस्त ने भी आरंम्भ मे इन्हीं बातों पर ध्यान दिया। इसके साथ ही उन्होंने ग़ज़ल में करुणा का पुट 'मीर' से और दार्शनिक जिज्ञासा तथा स्वाधीन चिन्तन 'ग़ालिब' से लिये। चुनाँचे उनके प्रारंभिक शेरों में इन तीनों गुणों की झलक एक साथ मिलती है, जो बाद में विकसित होकर एक नये ही रंग में सामने आयी।

इन उस्तादों के अलावा वे मरसिये के उस्ताद 'अनीस' से बहुत प्रभावित थे। बल्कि कहना तो यह चाहिए कि कुल मिलाकर चकबस्त की कविता 'अनीस' की ही मानवतावादी परम्परा का विकास थी। 'अनीस' एक ओर तो अपनी टकसाली भाषा, मुहावरों के प्रयोग, बंदिश की चुस्ती, शब्दों के उचित चयन और कविता में प्रवाह पैदा करने में अद्वितीय थे, दूसरी ओर यौन-प्रेम को छोड़कर लगभग सभी उत्कृष्ट मानवीय भावनाओं—त्याग, शौर्य, पवित्रता, करुणा—को उभारने में कमाल रखते थे। उत्कृष्ट मानवीय भावनाओं की अभिव्यक्ति की इसी परम्परा ने आगे चलकर चकबस्त की रचनाओं में देश-प्रेम का रूप धारण कर लिया।

इसे भी चकबस्त की स्वातन्त्र्य-प्रियता ही कहा जायगा कि उन्होंने प्रचलित रीति के अनुसार किसी को कविता में अपना गुरु नहीं बनाया, बल्कि हर जगह से जो चीज़ अच्छी मिली, उसे उन्होंने बेतकल्लुफ़ी से ले लिया। उनकी इस आत्म-शिक्षा ने उनके भावुक हृदय, सत्य के प्रति उनकी निष्ठा और उनके विचारशील मस्तिष्क के साथ मिलकर उनके लिए काव्य-जगत् में एक अलग, किन्तु ऊँचा स्थान बना दिया।

इसमें सन्देह नहीं कि चकबस्त ने अपनी पूरी काव्यप्रतिभा को जिस प्रकार देश-प्रेम के लिए उत्सर्ग कर दिया, उस तरह किसी और ने नहीं किया। यदि चकबस्त की कविता में से राष्ट्रीयता के तत्त्व निकाल दिये जायँ, तो फिर और कुछ विशेष नहीं बचता। उनके संग्रह का एक बड़ा भाग राष्ट्रीय भावना जागृत

करनेवाली नज़्मों से भरा है। प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीय समस्याओं पर लिखी हुई इन नज़्मों के अलावा और भी नज़्में जो उन्होंने कश्मीरी ब्राह्मणों की जातीय सभाओं के लिए लिखी हैं, उनका भी तोड़ इसी बात पर होता है कि जाति में देश-भक्ति पैदा होनी चाहिए। राष्ट्रनायकों के निधन पर लिखे गये मरसियों में तो राष्ट्र के दुखी हृदय की कसक कूट-कूट कर भरी है। जो मरसिये होनहार नौजवानों की असामयिक मृत्यु पर लिखे गये हैं, उनमें भी यही अफ़सोस ज़ाहिर किया गया है कि वे ज़िन्दा रहते तो देश का न जाने कितना भला करते। यहाँ तक कि लगभग हर ग़ज़ल में उनका देश-प्रेम खुले रूप में सामने आ गया है—यद्यपि ग़ज़लों में कला की दृष्टि से यह बात बहुत अच्छी नहीं लगती, लेकिन चकबस्त किसी भी स्थिति में अपनी देश-प्रेम की भावनाओं पर रोक लगा ही नहीं पाते।

चकबस्त की राष्ट्रीय चेतना के विकास पर दृष्टि डालने से मालूम होता है कि वे हमेशा प्रगतिशील शक्तियों के ही साथ रहे, किन्तु उन्होंने १९२१ ई० के असहयोग आन्दोलन के बारे में कुछ नहीं लिखा। १९१९ ई० के जलियानवाला बाग़ के गोलीकाण्ड से वे भी मर्माहत हुए थे, किन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि १९२० ई० के बाद गांधीजी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीयता ने जो नया मोड़ लिया था, वह चकबस्त को प्रभावित न कर सका। उनके विचार विद्यावादी, प्रजातन्त्रवादी लिबरलों के ही थे। वे पक्के देशभक्त थे, किन्तु उनका विश्वास राजनीतिक क्रान्ति में नहीं था। बहरहाल उनके विचार चाहे जो कुछ हों, उनके देशप्रेम की सच्चाई और गहराई में कोई संदेह नहीं किया जा सकता।

लेकिन चकबस्त में लिबरल नेताओं के विपरीत एक और विशेषता ऐसी दिखाई देती है, जो शायद इस कारण पैदा हुई हो कि वे सच्चे कवि थे। यह विशेषता उनका मानव-प्रेम है। इसी विशेषता ने उनकी राष्ट्रीय कविता में भी, जो साधारणतः अपेक्षाकृत कठोर होनी चाहिए, ऐसी कोमलता और स्निग्धता पैदा कर दी है, जो उन्हें अपने ढंग का निराला कवि बना देती है। उनका मानव-प्रेम महज़ नारा न था। उन्होंने सैद्धान्तिक रूप से व्यापक रूप में भी मानव-प्रेम की बातें की हैं और जगह-जगह विशेष अवसरों पर भी

उनका सहानुभूति का स्रोत फूट बहता है। अपने नौजवान दोस्तों की मौत पर उन्होंने जो मरसिये लिखे हैं, उनमें उनके बिलखते हुए आत्मीय जनों की दशा का ऐसा मर्मान्तिक वर्णन है, जो 'अनीस' के मरसियों की याद दिला देता है।

आरंभ में ही कहा जा चुका है कि चकबस्त पर पुरानी परम्परा और नये विचार दोनों का ही असर था, किन्तु उन्होंने इन दोनों का 'हसरत' मौहानी की तरह विचित्र सम्मिश्रण नहीं किया, बल्कि हृदय और मस्तिष्क की पूरी शक्तियों से काम लेकर एक सुदर स्वाभाविक समन्वय स्थापित कर दिया। उनकी नज़्मों में 'अनीस' के मरसियों की स्पष्ट छाप मिलती है, किन्तु ग़ज़लों में उन्होंने अपना निराला ही मार्ग अपनाया। 'आतिश' की चुस्त बन्दिश के साथ उन्होंने 'ग़ालिब' की दार्शनिक जिज्ञासा का पुट देकर ग़ज़लों में नयी ही राह निकाली। ग़ज़ल के परम्परागत विषय—वैयक्तिक प्रेम—से शायद वे बहुत ऊब गये थे। ग़ज़ल का पुनरुत्थान भी अधिकतर उनके बाद ही हुआ, इसलिए वैयक्तिक प्रेम को शालीनतापूर्ण ढंग से व्यक्त होते उन्होंने नहीं देखा। फिर भी यह स्पष्ट है कि उनकी तर्क बुद्धि ने उनका साथ कभी नहीं छोड़ा। इसीलिए वे ग़ज़लों में वह मस्ती तो पैदा नहीं कर सके, जो उनके बाद वाले कवियों ने की, किन्तु उनकी विशिष्ट दार्शनिकता ने उनकी ग़ज़लों को 'इक़बाल' की ग़ज़लों की भाँति परम्परा-विरोधी भी नहीं होने दिया। अपनी विचारशक्ति को अपनी काव्यप्रतिभा के साथ मिलाकर उन्होंने कुछ शेर ऐसे भी लिख दिये, जिन्हें आनेवाली पीढ़ियाँ कभी नहीं भूल सकतीं। उनके जो शेर यादगार बन गये हैं, वे यद्यपि कहीं-कहीं शुष्क उपदेश के समीप जा पहुँचते हैं, तथापि ग़ज़ल की विशेषताएँ—नरमी, करुणा, व्यापकता, गागर में सागर भरने की क्षमता आदि—पूरी तरह उनमें क़ायम हैं। इसीलिए उनके पढ़ने से मस्तिष्क पर बोझ नहीं पड़ता, कल्पना शक्ति को ज़ोर लगाकर आगे बढ़ाना नहीं पड़ता और रसानुभूति पूरी हो जाती है। उनकी ग़ज़लें नये ढंग की हैं, किन्तु नये प्रयोगों की कोटि में नहीं आतीं।

ऊपर की पंक्तियों में चकबस्त की दार्शनिकता की बात कही गयी है। इससे यह भ्रम पैदा हो सकता है कि शायद उन्होंने किन्हीं गंभीर दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया हो। वास्तव में ऐसी कोई बात नहीं है।

'ग़ालिब' की दार्शनिक जिज्ञासा जिस समय उड़ानें लेती थी, उस समय बग़ैर किसी प्रचलित सिद्धान्त का सहारा लिये हुए अपने ही बल पर ज़मीन-आसमान के कुलाबे मिलाने लगती थी और अंतिम सत्य की गुत्थियाँ खोलने का प्रयत्न करती थी। 'मीर' की दार्शनिकता सूफ़ीमत पर सदा आधृत थी। चकबस्त न तो 'ग़ालिब' की भाँति आज़ाद उड़ानें लेते थे, न किसी विशेष दार्शनिक सिद्धान्त के पोषक थे। उनकी प्रवृत्ति समाजोन्मुख थी और उसकी अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने नज़्मों का क्षेत्र चुना था। सार्वजनिक और सामाजिक प्रश्नों से अलग होकर जब वे कभी-कभी ग़ज़ल में जीवन-दर्शन की बातें करने लगते थे, तो ऐसा मालूम होता था, जैसे युद्ध-नीति सोचते-सोचते थककर कोई सेनापति नदी किनारे घूमने निकल जाय और पानी की लहरों को देखने लगे। इसीलिए यद्यपि चकबस्त के दार्शनिक शेर कोई ऐसा स्पष्ट नपा-तुला जीवन-दर्शन नहीं देते, जो हमारी आत्मा को शान्ति और संतोष दे सके या जिसे हम उनके बताये बग़ैर समझने में असमर्थ हों, तथापि उनकी सीधी-सादी, किन्तु हृदय से निकली हुई बातें सुननेवालों के मन पर ऐसा प्रभाव डाल देती हैं कि उन्हें भुलाया नहीं जा सकता।

संक्षेप में चकबस्त ने अपने मानव-प्रेम, समाज-प्रेम और जीवन के प्रति ईमानदारी के साथ अपने हृदय की कोमलतम अनुभूतियों का योग देकर साहित्य के इतिहास में सदैव के लिए अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। यदि उनकी असमय मृत्यु न हो जाती तो उर्दू का भंडार कितना भर जाता, इसकी कल्पना सरलता से की जा सकती है।

अपने अल्प जीवन में भी चकबस्त को वकालत के व्यस्ततापूर्ण जीवन ने कुछ अधिक न लिखने दिया। उनकी पद्य-रचनाओं का केवल एक संग्रह है, जो 'सुब्हे-वतन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। चकबस्त की रचनाओं के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

शैदाए - बोस्ताँ को सर्वो - समन मुबारक
रंगीं तबीयतों को रंगे - सुख़न मुबारक
बुलबुल को गुल मुबारक गुल को चमन मुबारक
हम बेकसों को अपना प्यारा वतन मुबारक

गुंचे हमारे दिल के इस बाग़ में खिलेंगे
इस ख़ाक से उठे हैं इस ख़ाक में मिलेंगे

क्या कहें किससे कहें हम आज क्या कहने को हैं
आख़िरी अफ़सानए - शौक़े - वफ़ा कहने को हैं
जिन उमीदों की लड़कपन में हुई थी इब्तिदा
आज उनकी इन्तिहा का माजरा कहने को हैं
बेख़बर अब भी नहीं हम क़ौम के दुख दर्द से
पहले हिम्मत थी दवा की अब दुआ कहने को हैं
क्या कहें क्या दौरे-आख़िर में सितम देखा किये
बरहमी बढ़ती गयी महफ़िल को हम देखा किये

जहाँ में आँख जो खोला फ़ना को भूल गये
कुछ इब्तिदा में ही हम इन्तिहा को भूल गये
निफ़ाक़ गब्रो - मुसलमाँ का यूँ मिटा आख़िर
ये बुत को भूल गये वह ख़ुदा को भूल गये
ये इनक़लाब हुआ आलमे - असीरी में
क़फ़स में रह के हम अपनी सदा को भूल गये

दर्दे - दिल, पासे - वफ़ा, जज़्बए - ईमाँ होना
आदमीयत है यही और यही इंसाँ होना
ज़िन्दगी क्या है? अनासिर में ज़हूरे - तरतीब
मौत क्या है? इन्हीं अजज़ा का परीशाँ होना

आशना हों कान क्या इंसान की फ़रियाद से
शैख़ को फ़ुरसत नहीं मिलती ख़ुदा की याद से

डा० सर मुहम्मद इक़बाल 'इक़बाल'—डा० 'इक़बाल' को बीसवीं शताब्दी का महत्तम उर्दू कवि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। वे १८७५ ई० में पंजाब के स्यालकोट नगर में, जो अब पश्चिमी पाकिस्तान में है, पैदा हुए। उनके

पूर्वज कश्मीर के सप्रू गोत्र के ब्राह्मण थे, जो लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व मुसलमान हो गये थे। इक़बाल के पिता शैख़ नूर मुहम्मद बड़े सीधे सच्चे आदमी थे और स्यालकोट में व्यापार करते थे। इक़बाल की प्रारंभिक मकतबी शिक्षा के बाद उन्हें स्कूल में दाख़िल कर दिया गया, जहाँ से उन्होंने प्राइमरी, मिडिल और एन्ट्रेंस के इम्तहान प्रथम श्रेणी में पास किये।

इक़बाल को भी अन्य प्रसिद्ध कवियों की भाँति बचपन से ही शायरी का चस्का लग गया था। उनके अध्यापक मौलवी मीर हसन ने, जिन्हें बाद में इक़बाल के प्रयत्नों से 'शमसुल उलेमा' की उपाधि मिली थी, इक़बाल की रुचि को बहुत परिष्कृत किया। उन्हीं दिनों स्यालकोट में एक छोटा-सा मुशायरा हुआ करता था। इक़बाल उसमें ग़ज़लें पढ़ने लगे और एक बार तो उनके एक शेर पर उस ज़माने के वयोवृद्ध कवि मिर्ज़ा अरशद गोरगानी भी झूम उठे थे। इसके बाद कुछ दिनों तक इक़बाल ने कविता में मिर्ज़ा अरशद गोरगानी की शागिर्दी भी की थी। कुछ दिनों के बाद उन्होंने उस समय के विख्यात कवि 'दाग़' देहलवी के पास डाक से संशोधनार्थ ग़ज़लें भेजना शुरू किया। उस्तादी शागिर्दी का यह सिलसिला बहुत दिनों तक न चला, क्योंकि 'दाग़' ने कुछ ही समय बाद उन्हें लिख दिया कि उनकी ग़ज़लों में संशोधन की आवश्यकता नहीं। फिर भी उन दिनों का सम्बन्ध स्थायी-सा रहा। 'दाग़' के मरने पर इक़बाल ने एक दर्दनाक मरसिया लिखा और 'दाग़' को भी इक़बाल की उस्तादी का गर्व रहा था।

स्यालकोट से इण्टरमीडिएट करने के बाद इक़बाल लाहौर में गवर्नमेण्ट कालेज में दाखिल हो गये, जहाँ उन्होंने बी० ए० और एम० ए० भी प्रथम श्रेणी में पास किया। वहाँ उन्हें मि० (बाद में सर) टामस ऑरनॉल्ड-जैसे योग्य अध्यापक मिल गये, जिन्होंने कालेज में ही नहीं, बाद में इंग्लैण्ड में भी इक़बाल को साहित्य और दर्शन में बड़ी सहायता दी। इक़बाल को लाहौर के विद्यार्थी-जीवन में कवि के रूप में भी ख्याति मिलना आरंभ हो गया। 'हाली' और 'आज़ाद' की शैली के अनुसरण में इक़बाल ने नज़्में लिखीं। उनकी नज़्म 'कोहे-हिमाला' को वहाँ के साहित्यिक क्षेत्रों में बड़ी मान्यता प्राप्त हुई और प्रख्यात पत्रिका 'मख़ज़न' के प्रथम अंक में यह नज़्म प्रकाशित की गयी।

१९०५ ई० में इक़बाल के यूरोप जाने के समय तक 'मख़ज़न' के प्रत्येक अंक में उनकी नज़्में निकलती रहीं। उस ज़माने में इक़बाल की नज़्मों की प्रसिद्धि इस कारण भी हुई कि वे उस समय की प्रचलित रीति से तहतुल-लफ़्ज़ (साधारण तौर से कहकर) नहीं, बल्कि तरन्नुम (स्वर और लय) के साथ अपनी नज़्में सुनाते थे। उनकी आवाज़ ऊँची और सुरीली थी और उनके कविता-पाठ को सुनने के लिए साहित्य-मर्मज्ञ ही नहीं, जन-साधारण भी आया करते थे। लाहौर की अंजुमने-हिमायते-इस्लाम के सालाना जल्सों में इक़बाल की नज़्म सुनने के लिए हज़ारों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। उनके पास नज़्मों के लिए इतनी जगहों से आग्रह होने लगे कि उन्हें पूरा करना असंभव हो गया।

एम० ए० करने के बाद इक़बाल गवर्नमेंट कालेज में ही लेक्चरर हो गये। १९०५ ई० में दर्शन शास्त्र की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे इंग्लैण्ड चले गये और केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी में दो वर्ष तक उन्होंने डा० मेकटेगर्ट के पथ-प्रदर्शन में पूर्वीय और पश्चिमी दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन किया और नैतिक शास्त्र में डिग्री ली। उनके अध्ययन में प्रो० ब्राउन, प्रो० निकलसन और प्रो० सारली से तथा उनके पुराने गुरु मि० ऑरनॉल्ड से बड़ी सहायता मिली। डिग्री पाने के बाद जर्मनी गये और 'ईरानी दर्शन-शास्त्र' पर थीसिस पेश करके म्यूनिख़ यूनीवर्सिटी से डाक्टरेट की डिग्री ली। १९०८ ई० में वे भारत आकर लाहौर कालेज में लेक्चरर हो गये।

इंग्लैण्ड के आवास काल में दर्शन शास्त्र के उच्च अध्ययन के कारण एक बार इक़बाल को कविता से विरक्ति भी हो गयी थी और उन्होंने फ़ैसला किया था कि इस 'बेकार' काम को छोड़ कर मानवता की सेवा के लिए कोई ठोस काम किया जाय। किन्तु उनके पुराने गुरु मि० ऑरनॉल्ड ने उन्हें समझाया कि तुम कविता के ही द्वारा मानवता की सेवा कर सकते हो। इक़बाल ने उनके परामर्श को मान लिया और मि० ऑरनॉल्ड के उचित परामर्श से उर्दू का एक महाकवि पैदा हो गया। अँगरेज़ प्रोफ़ेसरों ने इक़बाल की संसारव्यापी ख्याति में काफ़ी योग दिया। प्रो० निकलसन ने उनकी मसनवी 'रमूज़े-बेख़ुदी' का फ़ारसी से अंग्रेज़ी में अनुवाद करके उसे संसार के सामने पेश किया। यद्यपि इक़बाल का सारा संदेश—विशेषतः उक्त मसनवी का एक-एक शब्द—यूरो-

पीय सभ्यता, जनतन्त्र, राष्ट्रीयता आदि के विरोध में है। अँगरेज़ साहित्यिकों और बुद्धिजीवियों का शुद्ध साहित्य-प्रेम सचमुच सराहनीय हैं।

डा० इक़बाल ने इंग्लैण्ड के आवास काल में ही बैरिस्टरी भी पास कर ली थी। लाहौर आकर वे लेक्चररशिप के साथ ही बैरिस्टरी भी करने लगे थे। इक़बाल के विचार यूरोप में बिलकुल बदल गये थे, वे देश-भक्त की बजाय पैन इस्लामिस्ट (विश्व इस्लामवादी) हो गये थे। १९११ ई० में इटली ने ट्रिपोली को विजय कर लिया। बल्कान के ईसाई राज्य भी तुर्की के साम्राज्य से विद्रोह करके स्वतन्त्र हो गये थे। इक़बाल के इस्लामी विश्वाधिपत्य के स्वप्नों पर इससे ऐसी प्रतिक्रिया हो गयी कि उनकी कविता के स्वर अत्यन्त प्रखर और आक्रामक हो गये। उन्होंने इसी समय अपनी प्रख्यात नज़्म शिकवा लिखी,जिसमें ख़ुदा को उलाहना दिया गया कि वह मुसलमानों का भाग्य सितारा ऊँचा क्यों नहीं करता। अपने 'फ़िरंगी', विरोध के कारण उनका कालेज में रहना मुश्किल हो गया और वे सिर्फ़ बैरिस्टरी करने लगे।

१९१४ ई० में प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ होने पर उन्होंने शक्ति-प्रयोग का ठोस रूप देखा और उससे प्रभावित हुए। इसके बाद उन्होंने अपनी मसनवियाँ 'असरारे-ख़ुदी' और 'रमूज़े-बेख़ुदी' लिखीं, जिनमें शक्ति-संचय और प्रयोग की प्रशंसा की गयी थी। उन्होंने अपने संदेश को समस्त इस्लामी देशों में प्रचलित करने के विचार से फ़ारसी में कविता करना शुरू किया। इस में वे सफल नहीं हुए। ईरानियों ने उन्हें विशेष मान्यता नहीं दी और शेष मुस्लिम राष्ट्रों की भाषा फ़ारसी नहीं, बल्कि अरबी थी। हाँ, अंग्रेज़ी के द्वारा वे यूरोप में अवश्य ख्याति प्राप्त कर सके, जो शायद उनका उद्देश्य नहीं था।

इक़बाल समाजोन्मुख कवि थे और कोई समाजोन्मुख व्यक्ति राजनीति से विमुख नहीं होता। किन्तु उनके निराले विचारों ने उन्हें सक्रिय राजनीति में नहीं आने दिया। १९२६ ई० में वे कौंसिल आफ़ स्टेट के सदस्य चुने गये और १९३० ई० में मुस्लिम लीग के सदस्य हुए। फिर कुछ स्वास्थ्य के कारणों और कुछ विचार-वैषम्य से उन्होंने राजनीति छोड़ ही दी।

जीवन के अंतिम चार वर्षों में वे बहुत अस्वस्थ रहे। १९३४ ई० में उनकी आवाज़ बैठ गयी, जिससे उनकी प्रैक्टिस छूट गयी। इसके बाद अंत

समय तक भोपाल राज्य से पाँच सौ रुपया मासिक पेंशिन मिलती रही। वे गुर्दे के रोगी भी थे। १९३५ ई० में उनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। इससे उनके हृदय पर गहरा धक्का लगा और उन्होंने अपनी भी वसीयत लिख दी। १९३७ ई० में उनकी आँखों में मोतियाबिन्द हो गया और साथ ही साँस फूलने की बीमारी हो गयी। वे सारी बीमारियों से धैर्यपूर्वक लड़ते रहे। २१ अप्रैल १९३८ ई० को उनका देहान्त हो गया।

इक़बाल का रहन-सहन भी उनकी कविता की भाँति महान् था। वे कभी धनार्जन के पीछे नहीं पड़े, किन्तु उन्हें कभी धनाभाव न रहा। वे हमेशा अच्छा खाते और पहनते रहे और अपने सांसारिक कर्त्तव्य बग़ैर किसी कठिनाई के करते रहे। उनके जीवन में और भी कोई कमी नहीं रही। सामाजिक जीवन में भी उन्हें अपने मित्रों, सम्बन्धियों, सहधर्मियों और साहित्यिकों से सदैव प्रशंसा और सम्मान ही मिला।

इक़बाल ऐसे भाग्यशाली कवि हैं, जिन्हें राष्ट्रीयतावादियों, साम्यवादियों और सम्प्रदायवादियों, तीनों ने अपने-अपने पक्ष में खींचा है। उनकी कविताओं में प्रत्यक्ष विरोधाभास दिखाई देता है, तभी तो परस्पर-विरोधी विचारधाराएँ भी उनसे प्रेरणा के तत्त्व पाती रही हैं। किन्तु ऊपरी दृष्टि से ही ऐसा मालूम होता है। वास्तव में उनकी अपनी निश्चित विचारधारा थी—कम से कम १९०८ ई० के बाद की रचनाओं में एक ही विचारधारा है। यह ज़रूर है कि उस विचारधारा को किसी प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्त के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। फिर उनकी कविता के तीन युग—१८९९ ई० से १९०५ ई० तक, १९०५ से १९०८ तक और १९०८ के बाद—स्पष्ट रूप से अलग-अलग हैं।

आरंभ काल में इक़बाल एक भावुक कवि के रूप में दिखाई देते हैं। उनकी बिलकुल आरंभ की ग़ज़लों पर—जो उनके संग्रह में नहीं आयी हैं—'दाग़' की कोमलता, सरसता, सरलता और शोख़ी का रंग साफ़-साफ़ दिखाई देता है। इसके बाद उन्होंने 'हाली' और 'आज़ाद' की नवीन स्वाभाविकतावादी शैली का अनुसरण किया। इस रंग में उनकी प्रकृति-चित्रण और देशभक्ति सम्बन्धी नज़्में केवल उसी ज़माने में नहीं मशहूर हुईं, बल्कि बाद में भी

रहीं। इस भावुकता तथा सौन्दर्य-बोध के साथ ही इक़बाल में दार्शनिक उत्कण्ठा आरंभ से ही पायी जाती है। उन्होंने भारतीय दर्शन का भी कुछ अध्ययन किया था और उन्हें भारतीय वेदान्त ने प्रभावित भी किया था (यद्यपि बाद में उनके विचारों में आमूल परिवर्तन हो गया)। इसके साथ ही इक़बाल की प्रथम युग की कविताओं में मानवीय भावनाओं का हृदयग्राही वर्णन मिलता है। उन्होंने इस ज़माने में अत्यन्त कोमल और वात्सल्य रस से परिपूर्ण नज़्में लिखीं। इसी युग में उन्होंने प्रचलित रुचि के अनुसार कुछ अंग्रेज़ी कविताओं का उर्दू में अत्यन्त सफल पद्यमय अनुवाद किया। इक़-बाल की कोमल कल्पना केवल वात्सल्य तक ही सीमित न थी, पिंजड़े में बन्द पक्षी भी उन्हें कविता करने के लिए प्रेरित कर देते थे। उनकी करुणा बड़ी विस्तृत थी और वे अपने देश की दुर्दशा और जीवन की व्यथा से पूरे तौर पर द्रवित थे। देश-भक्त के रूप में इक़बाल उस समय जो मशहूर हुए, तो बाद में राष्ट्रीयता-विरोधी होने पर भी उनकी देश-भक्ति से परिपूर्ण नज़्में 'हिन्दोस्ताँ हमारा', 'नया शिवाला' आदि अमर रहीं, जिनमें राष्ट्रीयता को धर्म से आगे बताया गया है। वे यद्यपि इस्लाम की महत्ता को पूरी तरह समझते थे, तथापि भारतीय दर्शन भी उन्हें प्रभावित किये थे और उन्होंने 'आफ़ताब' आदि नज़्मों में वेद की सूर्योपासना को प्रतिबिम्बित कर दिया है। उस ज़माने की ग़ज़लों में भी सूफ़ीवाद की स्पष्ट छाप दिखाई देती है, यद्यपि उनका लहजा पुरानी परम्परा से बिलकुल अलग है। शिल्प की दृष्टि से इक़बाल की कविता आरंभ में अपेक्षाकृत अनगढ़ है, किन्तु अपनी तीव्र अनुभूति, ईमानदारी और व्यापक दृष्टिकोण के साथ और कठमुल्लापन के अभाव में इक़बाल का प्रारंभिक काव्य शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से ऊँची कोटि का है और सरसरी तौर पर उड़ा देने की चीज़ नहीं है।

इक़बाल की कविता का दूसरा युग उनका यूरोप का आवासकाल है। इस ज़माने में उन्होंने कुल पच्चीस ग़ज़लें और नज़्में लिखीं। एकबार तो उन्होंने कविता से हाथ ही खींच लिया था। इन कविताओं में एक तो यह दिखाई देता है कि दार्शनिकता ने कवित्व को दबा-सा दिया है, यहाँ तक कि शाङ्गारिक कविताओं में भी रस-भंग की सीमा तक दार्शनिकता आ जाती है। यह ठीक

है कि उनकी तीव्र दार्शनिक जिज्ञासा ने कभी-कभी अत्यन्त कोमलतापूर्ण तड़प का रूप ले लिया है, जिससे उनके कुछ पद्यों में विशेष आकर्षण पैदा हो गया है। परम सत्य की खोज ने ही उन्हें कभी-कभी प्रकृति की गोद में जाने के लिए बाध्य किया, किन्तु इस समय की प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी कविताओं का तोड़ भी दार्शनिकता के वातावरण में होता है। किन्तु इसी काल में दार्शनिक और मानसिक जिज्ञासा ईरान के मौलाना रूम तथा यूरोप के दार्शनिक नीत्शे के दर्शन के अध्ययन के फलस्वरूप शान्त भी हो गयी थी और उनका पथ निश्चित हो गया था। इसलिए इस काल की अंतिम कविताओं में उन्होंने स्पष्ट रूप से ख़ुदी (अहं) के दर्शन को अपना लिया था, यद्यपि बाद के युग में उनके इसी दर्शन में जो तड़प और तेज़ी आयी है, वह इस मध्य युग में नहीं दिखाई देती। उदाहरण के लिए मध्ययुग में उन्होंने अंग्रेज़ी शिक्षा की सामाजिक उपयोगिता को स्वीकार किया था, जब कि इसके बाद उन्होंने उसे बिलकुल ही निकृष्ट और हानिकारक बता दिया। इसी समय से वे जीवन का आधार गतिशीलता और उसका अंतिम लक्ष्य ईश्वर (सौन्दर्य) की प्राप्ति भी मानने लगे थे।

इक़बाल की कविता का अंतिम युग काफ़ी लम्बा—२८ वर्ष का—है। इसमे उनका स्पष्ट जीवन-दर्शन दिखाई देता है, किन्तु इसी काल की कविताओं को विभिन्न पक्षों ने अपनी-अपनी ओर घसीट कर इक़बाल के सीधे-सादे संदेश में उलझनें पैदा कर दी हैं। राष्ट्रवादियों ने उनके साम्राज्य-विरोध को अपनी ओर घसीटा, सम्प्रदायवादियों ने उनके इस्लामवाद का फ़ायदा उठाया और साम्यवादियों ने उनके पूँजीवाद-विरोध का। वस्तुत: इक़बाल वर्तमान राजनीतिक विचारधाराओं में सवसे अधिक जिसके साथ थे, वह फ़ासिस्ट विचारधारा है। वे राष्ट्रीयता-विरोधी, व्यापक दृष्टि रखनेवाले और आध्यात्मिक मूल्यों का प्रतिपादन करने वाले थे, इसलिए उपर्युक्त तीनों पक्षों के दावे अपनी जगह ग़लत साबित होते हैं।

मौलाना रूम से प्रभावित होकर इक़बाल सूफ़ीवाद और वेदान्त के विपरीत जीवन को वास्तविक मानने लगे थे, किन्तु भौतिकवादी नहीं थे। वे जीवन को उसकी गतिशीलता में निहित समझते थे। उनका लक्ष्य ईश्वर का सामीप्य था, सूफ़ीवाद की भाँति प्रियतम (ईश्वर) में गुम होने का नहीं था।

वे 'ख़ुदी' (अहं) के आधार पर ख़ुदा से बराबरी की हैसियत से बात करना चाहते थे। फिर भी वे इसकी छूट नहीं देते कि हर आदमी अपने व्यक्तिगत रूप में इस लक्ष्य की पूर्ति करे। उनकी सामाजिक गति का आधार एक महामानव था, जो सारे संसार को अपनी अदम्य शक्ति से उसके लक्ष्य की पूर्ति की ओर ले जाता है। यह मार्ग स्पष्टत: इस्लाम की शुद्ध व्याख्या है और इक़बाल भी इस्लाम के भारत या ईरान में प्रचलित रूप में नहीं, बल्कि उसके शुद्ध, आक्रामक और व्यापक रूप में विश्वास करते हैं और सातवीं शताब्दी की इस्लामी दिग्विजयों को बड़े गर्व के साथ याद करते हैं।

फिर भी उन्हें साम्प्रदायिकता के सीमित घेरे में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उनकी एक विश्वव्यापी दृष्टि है और व्यापक दर्शन। इस्लाम को वे संसार का नेतृत्व करने वाली शक्ति मानते हैं, किन्तु ध्यान उन्हें मुसलमानों का ही नहीं, सभी लोगों का रहता है। उन्होंने रामचन्द्र और गुरु नानक की जो प्रशंसा की है, वह साम्प्रदायिकता की द्योतक नहीं। उन्हें किसी धर्म से विरोध नहीं है, हाँ, धर्म-निरपेक्ष राजनीति से उन्हें चिढ़ ज़रूर है। धर्मों में भी उन्होंने ईसाइयत की यह कमज़ोरी ज़रूर दिखायी है कि उसमें संसार छोड़ने की जो बात कही गयी है, इसी कारण यूरोप में राजनीति धर्म से अलग हो गयी और छल-प्रपंच, लोभ और परपीड़न में लिप्त हो गयी। धर्म-निरपेक्षता से उन्हें ऐसी चिढ़ है कि वे धर्म-निरपेक्ष मज़दूर राज्य की भी भर्त्सना कर देते हैं। मार्क्सवाद के भौतिकवादी दृष्टिकोण के वे दुश्मन हैं।

राजनीति में इक़बाल वंशभेद, प्रजातंत्र, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के घोर शत्रु हैं। इक़बाल को यूरोप के राज्यों में ये तीनों चीज़ें एक साथ मिलीं, इसलिए वे यूरोपीय लोगों से ही इतनी घृणा करने लगे कि उन्हें इस योग्य भी नहीं समझा कि उनमें इस्लाम का प्रचार किया जाय या पेरिस में मसजिद भी बनायी जाय। साथ ही उन्हें तत्कालीन राष्ट्रवादी और जनतन्त्रवादी मुस्लिम देशों से भी कोई आशा नहीं थी, बल्कि रेगिस्तानों और पहाड़ों में बसने वाले अफ़ग़ानों और बिलोचियों से उन्हें आशा थी। स्पष्टत: ही उनकी राजनीति काल्पनिक थी।

इक़बाल निस्संदेह पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद के विरोधी और पीड़ितों से सहानुभूति रखने वाले हैं, किन्तु वे साम्यवादी भी नहीं हैं। साम्यवाद अपने ध्वंसात्मक रूप में इक़बाल को ज़रूर प्रेरित करता है, किन्तु उसके भौतिकवाद, समृद्धिवादी-नियोजनवादी दृष्टिकोण आदि से उन्हें यदि चिढ़ नहीं है, तो वे उसका मज़ाक़ उड़ाने में भी नहीं चूकते। भारत का कोई दल उन्हें आकृष्ट न कर सका। उन्हें मुस्लिम लीग के प्रतिक्रियावाद से, गांधी जी की अहिंसा से और साम्यवादियों की आर्थिक योजनाओं से चिढ़ थी। वे केवल शक्ति और वेग से आकृष्ट थे और यह चीज़ फ़ासिज्म में ही देखने को मिलती है। इसीलिए साफ़ दिखाई देता है कि इक़बाल ने जहाँ अन्य प्रचलित विचारधाराओं और नेताओं की भर्त्सना की है या उनका मज़ाक़ उड़ाया है, वहीं उन्होंने मुसोलिनी और नेपोलियन की प्रशस्ति भी की है। साम्राज्य-विरोधी होते हुए भी उन्होंने हिटलर के विरुद्ध कुछ नहीं कहा और मुसोलिनी के अबीसीनिया-अभियान के अवसर पर भी उन्होंने अबीसीनिया के साथ सहानुभूति प्रकट करने की बजाय उसे एक 'ज़हरनाक लाश' ही बताया। फ़ासिज्म से उनका विरोध उसके धर्म-निरपेक्षरूप से ही हो सकता था। यदि भारत में उनके ज़माने में कोई ऐसा राजनीतिक दल होता जो धर्म के आधार पर अधिनायकवाद की स्थापना की चेष्टा करता तो इक़बाल ज़रूर उसका साथ देते।

इक़बाल की काव्य-शैली उनके दर्शन के अनुरूप ही थी। उन्हें कोमलता या करुणा से सरोकार न था, केवल शक्ति-प्रदर्शन ही उनके यहाँ था। इसलिए उनके यहाँ हमें कोमल और नरम शब्दावली नहीं मिलती। इस मामले में भी वे अपने उस्ताद 'दाग़' के ठीक विपरीत जा पड़े हैं। वे अरबी-फ़ारसी के गरजते-गूंजते शब्दों का बहुतायत से प्रयोग करते हैं। उनका कविता-प्रवाह भी नदी के बहाव की तरह नहीं, बल्कि बुलडोज़र की तोड़-फोड़ की तरह होता है। उन्होंने ग़ज़लें भी कही हैं, किन्तु इसी शक्ति और ज़ोर के कारण वे ग़ज़लों की विषय और शैली की परम्परागत कोमलता भी छोड़ बैठे हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका अर्थ यह नहीं है कि इक़बाल को अपने समय में और उसके बाद भी जो लोकप्रियता मिली, वह अनुचित थी। वे कवि

के रूप में महान् हैं। उर्दू में जिस चीज़ की कमी थी—अर्थात् शक्तिशाली अभिव्यंजना की—वह इक़बाल ने बग़ैर किसी साहित्यिक परम्परा का सहारा लिये हुए—बल्कि सारी परम्पराएँ तोड़ कर—पैदा कर दी और आगे आने-वाली पीढ़ी के लिए राह खोल कर उर्दू काव्य के इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान सदा के लिए बना लिया। इक़बाल का दर्शन और राजनीतिक विचार-धारा चाहे अवास्तविक और कपोल-कल्पित हो, किन्तु निस्संदेह उन्होंने उर्दू को ऐन ऐसे मौक़े पर तेज़ स्वर दे दिये, जब कि उर्दू संसार को ही नहीं, समूचे भारत को सामाजिक रूप से इसकी आवश्यकता थी। उन्हीं की शैली और उन्हीं की शब्दावली अपनाकर 'जोश' मलीहाबादी और अहसान दानिश जैसे प्रगतिशील कवियों ने युग-चेतना को मुखर किया। कलाकार के रूप में जीवन का गतिशील पहलू सामने लाने में इक़बाल को अद्वितीय सफलता मिली है।

इक़बाल की समस्त रचनाओं की सूची इस प्रकार है—(१) इल्मुल-इक़्तसाद (उर्दू में अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तक), (२) फ़लसफ़ए-ईरान (म्यूनिख़ यूनीवर्सिटी द्वारा मान्य शोध), (३) बाँगे-दरा (प्रथम उर्दू काव्य-संग्रह), (४) मसनवी असरारे-ख़ुदी और रमूज़े-बेख़ुदी (फ़ारसी), (५) पयामे-मशरिक़ (फ़ारसी काव्य-संग्रह), (६) जावेदनामा (फ़ारसी काव्य), (७) पस चे बायद कर्द ए अक़वाये-शर्क़ (फ़ारसी काव्य), (८) ज़बूरे-अजम (फ़ारसी), (९) जर्बे-कलीम (उर्दू काव्य-संग्रह), (१०) बाले-जिब्रील (उर्दू काव्य-संग्रह), (११) अरमुग़ाने-हिजाज़ (उर्दू तथा फ़ारसी काव्य-संग्रह), (१२) ख़ुतबाते-इक़बाल (उनके भाषणों का संग्रह) और (१३) मकतूबाते-इक़बाल (उनके पत्रों का संग्रह)।

'इक़बाल' की कविता का नमूना नीचे दिया जा रहा है—

सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा
हम बुलबुले हैं इसकी यह गुलसताँ हमारा
मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना
हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा

इस दौर में मै और है, जाम और है, जम और
साक़ी ने बिना को रविशे - लुत्फ़ो - सितम और
मुस्लिम ने भी तामीर किया अपना हरम और
तहज़ीब के आज़ुर ने तरशवाये सनम और
इन ताजा ख़ुदाओं में बड़ा सब से वतन है
जो पैरहन इसका है वो मज़हब का कफ़न है

अपनी मिल्लत पर क़यास अक़वामे - मग़रिब से न कर
ख़ास है तरकीब में क़ौमे रसूले - हाशिमी
उनकी जमईयत का है मुल्को - नसब पर इन्हिसार
क़ुव्वते - मज़हब से मुस्तहकम है जमईयत तेरी
दामने - दीं हाथ से छूटा तो जमईयत कहाँ
और जमईयत हुई रुख़सत तो मिल्लत भी गयी

ख़ुदी बलन्द थी उस ख़ूँ गिरफ़्ता चीनी की
कहा ग़रीब ने जल्लाद से दमे - ताज़ीर
ठहर ठहर कि बहुत दिलकुशा है यह मंज़र
ज़रा मै देख तो लूं ताबनाकिए - शमशीर

आज़ादी - ए - अफ़कार से है उनकी तबाही
रखते नहीं जो फ़ह्मो - तदब्बुर का सलीक़ा
हो फ़िक्र अगर ख़ाम तो आज़ादी - अफ़कार
इंसान को हैवान बनाने का तरीक़ा

ख़ुदी को कर बलन्द इतना कि हर तक़दीर के पहले
ख़ुदा बन्दे से ख़ुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है

अगर कजरौ हैं अंजुम आसमाँ तेरा है या मेरा
मुझे फ़िक्रे-जहाँ क्यों हो जहाँ तेरा है या मेरा

मन की दुनिया ? मन की दुनिया सोज़ो-मस्ती जज़्बो-शौक़
तन की दुनिया ? तन की दुनिया सूदो-सौदा मक्रो-फ़न
पानी पानी कर गयी मुझको क़लन्दर की ये बात
तू झुका जब ग़ैर के आगे न तन तेरा न मन

'हाली', 'आज़ाद' और 'सुरूर' जहानाबादी ने उर्दू की काव्य-चेतना में एक मौलिक क्रान्ति ला दी। उन्होंने लगभग समस्त परम्परावादी साहित्यिक मूल्यों का खंडन कर दिया और उर्दू काव्य का प्रेरणा-स्रोत अंग्रेज़ी काव्य बनाना चाहा। उनके बाद 'अकबर' इलाहाबादी, 'इकबाल', 'चकबस्त' आदि ने केवल अपनी विचारशक्ति के बल पर उर्दू काव्य के सामने नयी संभावनाएँ खोलीं। इन तीनों की काव्य-प्रतिभा में किसे संदेह हो सकता है, लेकिन यह भी स्पष्ट है कि इनकी देन भावना के क्षेत्र में उतनी न थी, जितनी बुद्धि के क्षेत्र में थी। इन तीनों की कविताओं में से यदि विचार के तत्त्व निकाल दिये जायँ, तो कोई उल्लेखनीय तत्त्व बाक़ी नहीं रह जायेंगे। इनके अलावा 'शाद' अज़ीमाबादी, 'आसी' ग़ाज़ीपुरी, 'असग़र' गोंडवी, 'फ़ानी' बदायूनी और 'जिगर' मुरादाबादी ग़ज़ल के मैदान में बड़ी धूमधाम से उतरे और उन्होंने इस मरणोन्मुख काव्य-रूप को ऐसा सँभाला दिया कि ग़ज़ल फिर उर्दू काव्य पर आच्छादित हो गयी। इन कवियों का क्षेत्र शुद्ध भावनात्मक था, लेकिन यह भी मानना पड़ेगा कि इस भावना का आधार लौकिक प्रवृत्तियाँ और अनुभूतियाँ नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभूतियाँ थीं और एक विशेष स्तर पर गये बग़ैर इन महाकवियों की कविताओं का रसास्वादन संभव नहीं था।

लेकिन इस सबके बावजूद मानव की कलात्मक चेतना का एक कोना ऐसा था, जिसे उक्त महाकवि छूने में असमर्थ थे। वह क्षेत्र साधारणता और महत्ता का वह संधि-स्थल था, जहाँ पर सबसे ज़्यादा देर लोग टिकते हैं। साधारण लोगों का महान् विचारों से कुछ देर बाद जी ऊब जाता है, साधारण जीवन की साधारण अनुभूतियों के प्रकाशन से और भी जल्दी जी ऊब जाता है। ज़रूरत अक्सर इस बात की होती है कि हम अपनी राह चले जा रहे हैं और कोई हमारे कंधे पर हाथ रखें कर धीरे से हमारा रुख़ मोड़कर एक क्षण के लिए हमें दूर का सौन्दर्य दिखा दे। हमें राह की ऊब भी न मालूम हो और

सौन्दर्य-स्थल तक के ऊबड़-खाबड़ रास्ते को पार करने के लिए भी हमें मजबूर न किया जाय। उर्दू काव्य साहित्य की पृष्ठभूमि में इस बात को यूं कहा जा सकता है कि उर्दू भाषा-भाषियों के मन और मस्तिष्क फ़ारसी काव्य के प्रतीकों —गुल, बुलबुल, शमा, परवाना आदि—में पूरी तरह रच बस गये थे। काव्य-चेतना की सूक्ष्म अनुभूतियों तक पहुँचने के लिए हमारी यही सीढ़ियाँ थीं और अब भी हैं। हमें इन सीढ़ियों से कोई शिकायत नहीं हुई। 'हाली' और 'आज़ाद' ने इन सीढ़ियों को हटाना चाहा, तो हमने मना कर दिया। लेकिन यह भी एक तथ्य है कि हमें इन सीढ़ियों पर चढ़ने के बाद जिन कक्षों में पहुँचाया जाता था, वहाँ के चित्रों से हम ज़रूर ऊब चुके थे। दार्शनिक और सूफ़ीवादी कवियों ने हमे जिन कक्षों में पहुँचाया, वहाँ के चमकते और तड़पते हुए चित्रों से हमारी निगाहे चकाचौंध हो गयीं। हम दरअस्ल ऐसे चित्र भी देखना चाहते थे, जिनमे नयापन तो हो, लेकिन जो इतने शोख़ रंग और उलझी हुई रेखाओं से परिपूर्ण न हों। भाग्यवश हमारे बीच ऐसे महाकवि भी हुए, जिन्होंने साधारणता और महत्ता मे एक सुदर समन्वय स्थापित करके उर्दू भाषा-भाषियों के सामने ऐसे बिम्बगन (इमेजरीज़) उपस्थित किये, जिनसे उनका सौन्दर्य-बोध भी तृप्त हो और जिनसे उनकी ग्रहणशीलता पर भी आवश्यकता से अधिक भार न पड़े। सुविधा के लिए ऐसे ही कवियों को हमने नयी भाव-भूमि देने वाले कवि कहा है, वैसे नयी भावभूमि तो प्रत्येक नवीन धारा के कवि देते ही हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में भाषा शैली और भावबोध की विभिन्नता के आधार पर उर्दू मे स्पष्टतः दो शैलियाँ—एक दिल्ली की और दूसरी लखनऊ की—स्थापित हो गयी थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक ये दोनों शैलियाँ गडमड हो गयीं। फिर भी कुछ आलोचक अभी तक इन दोनों स्थानों के कवियों के बीच एक काल्पनिक विभाजन रेखा खैंचे चले जाते हैं। आज की स्थिति में, जब स्थान-प्रेम (लोकल पेट्रियोटिज्म) का कोई महत्त्व नहीं रहा है, ऐसा विभाजन अवास्तविक है। इसीलिए हमने अपने विवेचन में बीसवीं शताब्दी के कवियों का विभाजन उनके भावबोध के आधार पर किया है, स्थानिकता के आधार पर नहीं। इस अध्याय में भी दिल्ली, लखनऊ, पंजाब सभी स्थानों

के उन कवियों का उल्लेख किया जायेगा, जो मुहावरों के स्थानिक परिवर्तन के बावजूद एक ही भावभूमि पर दिखाई देते हैं। इन कवियों में प्रमुख ये हैं—

अली हैदर 'नज़्म' तबातबाई—'नज़्म' तबातबाई काल के विचार से लगभग 'हाली' और 'आज़ाद' के साथियों मे से हैं। साथ ही उन्होंने अंग्रेज़ी कविताओं के पद्यमय अनुवाद भी 'हाली' और 'आज़ाद' के आन्दोलन के फल-स्वरूप दिये। फिर भी उनकी कविता में कुछ ऐसी मौलिक विशेषताएँ हैं कि हमने उन्हे वर्तमान काल में ही रखना उचित समझा है। 'नज़्म' का जन्म १८५२ ई० के आसपास हुआ। जन्मस्थान लखनऊ का हैदरगंज मुहल्ला है। सोलह वर्ष की अवस्था तक लखनऊ में ही मुल्ला ताहिर नहवी से अरबी-फ़ारसी पढ़ी और मेंडू लाल 'ज़ार' से प्रचलित विषयों तथा काव्यकला की शिक्षा प्राप्त की। अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर वे मटियाबुर्ज में वाजिद अली शाह के शह-ज़ादों को पढ़ाने के लिए नौकर हो गये। जब वाजिद अली शाह का देहान्त हुआ तो उन्हें निज़ाम ने हैदराबाद में निज़ाम कालेज में अध्यापन-कार्य के लिए बुला लिया। लगभग तीस वर्षों तक वे वहाँ अध्यापन-कार्य करते रहे। इसके बाद उनकी पेंशन हो गयी। साथ ही हैदराबाद के युवराज को पढ़ाने का काम भी उनके सुपुर्द हुआ। इस काम से ख़ुश होकर निज़ाम ने उन्हें 'नबाब हैदर यार जंग की उपाधि से विभूषित किया। जब उस्मानिया विश्वविद्यालय स्थापित हुआ, तो साहित्यालोचक की हैसियत से उन्हें दारुल तर्जुमा में ले लिया गया। २३ मई १९३३ ई० को उनका देहावसान हो गया।

'नज़्म' की योग्यता की धाक कितनी बैठी हुई थी, इसका अन्दाज़ा इसी बात से हो सकता है कि जितने शागिर्द उनके हुए, उस ज़माने में मुश्किल से ही किसी के हुए होंगे। उनके शागिर्दों में मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर', मौलाना 'सहा', महाराजा सर किशन परशाद 'शाद' आदि प्रमुख हैं। 'शाद' हैदराबाद के दीवान थे, लेकिन जब भी मौलाना 'नज़्म' उनके सामने जाते थे, वे उनके सम्मान में उठकर खड़े हो जाते थे। स्वयं मौलाना भी लखनऊ की पुरानी शराफ़त और तहज़ीब का जीता-जागता नमूना थे।

मौलाना 'नज़्म' पुरानी पीढ़ी में से थे और ग़ज़लों में 'दाग़' का अनुसरण किया करते थे, फिर भी उन्होंने नये ज़माने के तकाज़े से नये आन्दोलनों में भाग

लिया। ग्रे की प्रसिद्ध 'ऐलिजी' का उन्होंने इतनी सुन्दरता से उर्दू अनुवाद किया कि उर्दू संसार में उसकी धूम मच गयी। अनूदित कविता का शीर्षक है 'गोरे-ग़रीबाँ' इसमें पहली मरतबा अंग्रेज़ी की तरह ऐसी चौपदियाँ कही गयी हैं, जिनमें पहले मिसरे की तीसरे और दूसरे मिसरे की चौथे के साथ तुक बैठती चली जाती है। अनुवाद का कमाल यह है कि ग्रे की मूल कविता से मिला कर देखिए तो उसका कोई विवरण छूटने नहीं पाया है और अलग से देखिए तो अनुवाद मालूम ही नहीं होता है। मुहावरों, शब्द-विन्यास, वर्णनशैली आदि पूर्णतः उर्दू की हैं। अनुवाद के बावजूद किसी मिसरे में शैथिल्य नहीं दिखाई देता। इस नज़्म के बारे में मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' ने बिलकुल ठीक लिखा है कि "ऐसी मक़बूले-रोज़गार· · ·नज़्म· · ·जिसका तर्जुमा हमारे वाजिबुल्ताज़ीम अल्लामा और मुस्तनदे-ज़माना शायर जनाब मौलवी हैदरअली साहब ने किया है, मगर किस ख़ूबी से जिसका इज़हार करना हमारे इख़्तियार के बाहर है। ऐसी जाँ-गुदाज़ और मुअस्सर नज़्में ओरिजिनल तौर पर भी उर्दू में कम कही गयी हैं, नकि तर्जुमा।" मौलाना नज़्म ने मौलिक रूप में भी कई नज़्में मारके की लिखीं। 'गुलाब का फूल' अपनी भावव्यंजना और 'साक़ी-नामा-ए-शक़र्शक़िया' अपने प्रभावपूर्ण संदेश के लिहाज़ से बेजोड़ नज़्में हैं। मौलाना की नज़्मों में सबसे बड़ी विशेषता उनकी गीतात्मकता है। यह गुण उनकी उस नज़्म में भरपूर दिखाई देता है,जो उन्होंने राजकुमार अल्बर्ट के भारत-आगमन पर लिखी थी। एक अन्य विशेषता जो वे पैदा करते हैं, वह यह कि एक-एक बात के लिए बीसियों उपमाएँ देते चले जाते हैं, फिर भी उनसे किसी तरह की ऊब नहीं पैदा होती। इसका उदाहरण उनकी नज़्म 'तुलूए-आफताब' (सूर्योदय) उल्लेखनीय है। मौलाना ने अतुकान्त शैली (ब्लैन्क वर्स) में भी कविताएँ की हैं, इससे उनका नूतनता-प्रेम काफ़ी स्पष्ट होता है।

मौलाना 'नज़्म' ने ग़ज़लों पर कोई ख़ास ध्यान नहीं दिया। ग़ज़लों का दीवान उनके देहावसान के बाद प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका में स्वयं लिखा है—"यह सब ग़ज़लें मुशायरों की हैं या गुलदस्तों की तरहों में या बाज़ बाज़ अहबाब की फ़रमायशी ज़मीनों में हैं। ख़ुद से कभी ग़ज़ल नहीं कहता।" किन्तु मौलाना ने स्वयं अपनी ग़ज़लों की जो उपेक्षा की है, वे उसके योग्य नहीं

हैं। भाषा की दृष्टि से उन्होंने उर्दू की ग़ज़लों में वही नरमी और मिठास भर दी है, जो फ़ारसी ग़ज़लों में मिलती है। मौलाना पुराने ज़माने के आदमी थे, किन्तु उनकी ग़ज़लें बिलकुल नये जमाने की होती हैं। उनमें अर्थ-गांभीर्य बहुत अधिक होता है। अतिशयोक्ति से बहुत ही कम काम लिया गया है, फूहड़पन और ग्रामत्व दोष उनकी भाषा में कभी नहीं आ पाता और मुहावरों तथा रोज़-मर्रा की भाषा का प्रयोग अत्यन्त आकर्षक ढंग से करते हैं। शेरों को देखकर पहले मालूम होता है कि बहुत मामूली बातें कही गयी हैं, लेकिन ज़रा-सा ग़ौर करने के बाद मालूम होता है कि उनमें बड़ा गहरा अर्थ है। कुछ शेर उदाहरण-स्वरूप आगे दिये जाते हैं, जिनसे मौलाना के रंग का पता चलता है—

कहाँ तक रास्ता देखा करें हम बर्क़े - ख़िरमन का
लगा कर आग देखेंगे तमाशा अब नशेमन का

लिहाज इतना अभी तक हज़रते - नासेह का बाक़ी है
वो जो कुछ हुक्म फ़रमाते हैं कह देते हैं हम 'अच्छा'

इस छेड़ में कोई जो न मरता है तो मर जाय
वादा है कहीं और इरादा है कहीं और

अहसान ले न हिम्मते - मर्दाना छोड़ कर
रस्ता भी चल तो सब्जए - बेगाना छोड़कर
ऐ 'नज्म' इश्क़ और हवस में ये फ़र्क़ है
बीमार मेरे साथ के अक्सर सँभल गये

मौलाना अली नक़ी 'सफ़ी' लखनवी—मौलाना 'सफ़ी' उन महाकवियों में से हैं, जिन्होंने लखनवी शैली की कविता पर से बदनामी का दाग़ धो डाला और उसे अत्यन्त पवित्र और ललित रूप में पेश कर दिया। उनका जन्म ३ जनवरी, १८६२ ई० को हुआ था। बारह-तेरह वर्ष की अवस्था तक घर पर फ़ारसी-अरबी पढ़ने के बाद अंग्रेज़ी पढ़ी और केनिंग कालिजिएट स्कूल से इन्ट्रेंस की परीक्षा पास की। इसी बीच अपने चचा से हकीमी और ससुर से

दर्शनशास्त्र भी पढ़ा। कुछ दिनों अंग्रेजी के अध्यापक रहे। १८८३ ई० में दीवानी में नौकरी शुरू की और लगभग चालीस वर्ष नौकरी करने के बाद १९२२ ई० में पेशकारी के पद से रिटायर हुए। पेंशिन लेने के बाद अपने घर पर ही साहित्य-सेवा में लगे रहे। १५ जून १९५० ई० को इनका देहावसान हो गया।

मौलाना 'सफ़ी' के व्यक्तित्व में हमें पुरानी तहज़ीब के दर्शन पूरी तरह पर होते हैं। उनके घर का दरवाज़ा हरएक के लिए खुला था। छोटा हो या बड़ा, जो भी चाहे और जब भी चाहे, उनसे बेतकल्लुफ़ मिल सकता था और चाहे जितनी देर बैठा बातें करता रहे, वे कभी उकताने का भाव प्रदर्शित न करते थे। वैसे वे खुद इधर-उधर बहुत कम जाते थे और अपना सारा समय पुस्तकावलोकन में लगाते थे। अपनी प्रशंसा करवाने की बिलकुल इच्छा न करते थे, औरों की प्रशंसा जी खोलकर किया करते थे। कदाचित् यही कारण है कि इस आत्म-विज्ञापन के ज़माने में वे इतने प्रसिद्ध न हो सके, जितना उन्हें होना चाहिए। वे शिया मुसलमान थे, अक्सर शिया कान्फ्रेंस में अपनी नज़्में पढ़ते थे, इस्लाम-प्रेम भी इतना सच्चा था कि उनकी नज़्मों पर 'इक़बाल' जैसा शायर भी सर धुनता था, लेकिन कट्टरपन या साम्प्रदायिकता नाम को भी न थी। उनकी दृष्टि विशाल थी। वे साम्प्रदायिक ऐक्य के प्रबल पक्षपाती थे। इस्लाम की महत्ता पर ही उनकी नज़र रहती थी, इस्लाम ने उन्हें कभी संकुचित दृष्टिकोण न अपनाने दिया। हिन्दू-मुसलमान सभी के साथ उनका व्यवहार एक-सा ही रहता था। मौलाना की प्रतिभा बहुमुखी थी। उनके अध्ययन-प्रेम का उल्लेख हो ही चुका, हकीमी में भी वे दक्ष थे और संगीत के भी अच्छे जानकार थे। उनकी ग़ज़लों की गीतात्मकता और मिठास संभवतः इसीका परिणाम था। इतिहास और भूगोल से उन्हें इतनी दिलचस्पी थी कि इन विषयों पर अक्सर नज़्में कही हैं। ऐतिहासिक विषयों पर कविता करनेवालों की कमी नहीं है, किन्तु भूगोल-जैसे भावुकताविहीन विषय को—जिसे प्राकृतिक विज्ञान की कोटि में रखा जाता है—सरस कविताएँ पेश कर देना 'सफ़ी' जैसे उस्ताद का ही काम था।

कविता में मौलाना 'सफ़ी' किसी के शागिर्द न थे। स्वयं उनके सैकड़ों

शागिर्द थे, जिनमें 'अज़ीज़' लखनवी, मौलाना अब्दुर्रहमान, 'ज़रीफ़' लखनवी (जो 'सफ़ी' के छोटे भाई थे), 'सग़ीर', 'हामिद' आदि प्रमुख हैं। मौलाना सफ़ी की नज़्मों के दो संग्रह 'लख़्ते-जिगर' और 'सहीफ़तुल्क़ौम' और ग़ज़लों का एक दीवान प्रकाशित हो चुके हैं। किन्तु मौलाना की कविता का उद्देश्य केवल कविता करना ही न होता था। अपनी क़ौमी नज़्मों के द्वारा उन्होंने अपनी सोयी हुई क़ौम को जगाया, कई सुधार-कार्यों की नींव डाली, कालेज और स्कूल खुलवाये, यतीमख़ाना बनवा दिया और औद्योगिक प्रसार के लिए लोगों को उत्साहित किया। अपनी नज़्मों में उन्होंने नेताओं तथा अन्य महान् व्यक्तियों की जीवनियाँ लिखीं और अपनी नज़्मों के द्वारा इतिहास और भूगोल के विषयों को भी सरलतापूर्वक लोगों को समझा दिया। उर्दू के अतिरिक्त मौलाना 'सफ़ी' फ़ारसी में भी कविता करते थे और उर्दू-जैसे ही ज़ोर के साथ करते थे।

नज़्म के क्षेत्र में मौलाना 'सफ़ी' का कमाल यह है कि प्रत्येक विषय पर बड़ी लम्बी-लम्बी नज़्में कही हैं। फिर भी यह संभव नहीं कि उनमें शुष्कता पैदा हो जाय। यदि नज़्म कहनेवाला कवि प्रतिभावान् नहीं होता और अपने वर्णन में भावनात्मक सामंजस्य नहीं कर पाता, तो नज़्म एक उबा देनेवाली तुकबन्दी होकर रह जाती है। मौलाना 'सफ़ी' की नज़्मों में यह दोष छू तक नहीं गया है। वे लम्बी-लम्बी नज़्मों के बीच इस तरह 'तग़ज़्ज़ुल' का तत्त्व ले आते हैं कि पढ़नेवाला बिलकुल मानसिक बोझ नहीं महसूस करता। वे नज़्मों में अरबी-फ़ारसी के शब्द भी प्रयोग करते हैं और हिन्दी के भी, लेकिन कहीं भी शैली में भारीपन नहीं मालूम होता। कभी-कभी वे भोंड़े शब्दों—'सरफुट्टौवल' आदि—का भी प्रयोग करते हैं, तो इस ख़ूबी के साथ कि वह अपनी जगह जम कर रह जाते हैं और यदि उन्हें हटाकर कोई पर्यायवाची शिष्ट शब्द रख दिया जाय तो मज़ा ही किरकिरा हो जाय। कभी-कभी वे नज़्मों की एकरसता ख़त्म करने के लिए व्यंग्य और हास्य का भी पुट दे देते हैं, लेकिन इस लिए-दिये-पन के साथ कि न तो फूहड़पन पैदा होता है और न नैतिक सुरुचि को ठेस पहुँचती है, केवल दिमाग़ ताज़ा हो जाता है।

ग़ज़ल में मौलाना की देन अमिट है। उन्होंने लखनऊ की परम्परावादी बनावट को एकदम मिटाकर सिर्फ़ 'तग़ज़्ज़ुल' के बल पर सादगी में ऐसा आकर्षण

पैदा कर दिया है कि ग़ज़ल में प्रभावपूर्ण सादगी की नयी राह निकल आयी। कभी-कभी पश्चिमी रुचि को भी उर्दू ग़ज़ल में इस ख़ूबी से जगह दे देते हैं कि वह उर्दू की ही चीज़ बन जाती है। उन्होंने कई परम्परागत विषयों को जो आज की रुचि के लिए भोंड़े और फूहड़ साबित होते हैं—जैसे 'रक़ीब' का वर्णन और उससे गाली-गलौज और 'शेख़' और 'ज़ाहिद' से हाथापायी—बिलकुल छोड़ दिया। निष्प्राण कल्पना की बातों को भी उन्होंने छोड़ दिया। भाषा और वर्णनशैली में 'सफ़ी' बेजोड़ हैं। उनकी ग़ज़लों में नरमी और संगीत की छटा हर जगह दिखाई देती है। भारी शब्द उनके यहाँ कहीं नहीं मिलते और फ़ारसी शब्दविन्यासों को भी वे गलाकर पानी कर देते हैं। इसके अलावा बन्दिश की चुस्ती, भाषा की सफ़ाई, प्रवाह और मुहावरों तथा रोज़मर्रा की भाषा के प्रयोग के मामले में उनकी भाषा और शैली आदर्श कही जा सकती है।

मौलाना 'सफ़ी' की ग़ज़लों के कुछ शेर नमूने के तौर पर दिये जा रहे हैं—

हमारी आँख से जब देखिये आँसू निकलते हैं
जबीं की हर शिकन से दर्द के पहलू निकलते हैं

ग़ज़ल उसने छेड़ी, मुझे साज़ देना
ज़रा उम्र-रफ़्ता को आवाज़ देना
न ख़ामोश रहना मेरे हम-सफ़ीरों
जब आवाज़ दूँ तुम भी आवाज़ देना

तालिबे-दीद पे आँच आये ये मंज़ूर नहीं
दिल में है वर्ना वो बिजली जो सरे-तूर नहीं
दिल से नज़दीक हैं, आँखों से भी कुछ दूर नहीं
मगर इस पर भी मुलाक़ात उन्हें मंज़ूर नहीं

हमको परवाना-ओ-बुलबुल की रक़ाबत से ग़रज़ ?
गुल में वह रंग नहीं शमअ में वह नूर नहीं
कभी 'कैसे हो सफ़ी' पूछ तो लेता कोई
दिलदही का मगर इस शहर में दस्तूर नहीं

मुंशी नौबतराय 'नज़र' लखनवी—'नज़र' लखनवी उन दुर्भाग्यशाली कवियों में से थे, जिन्होंने लखनवी रंग की कविता में आमूल सुधार का बीड़ा उठाया और चूंकि आर्थिक रूप से स्थिति बहुत दृढ़ न थी, इसलिए कम से कम उनके जीवन काल में उनकी वह क़द्र न हुई, जो होनी चाहिए थी। 'नज़र' का जन्म लखनऊ में १८६६ ई० में हुआ था। वे एक गौरवशाली कायस्थ परिवार में पैदा हुए थे। उनके पूर्वज शाही ज़माने में सम्मानित पदों पर थे। 'नज़र' की शिक्षा-दीक्षा अधिकतर लखनऊ में ही हुई। किशोरावस्था से ही आपने काव्य-साधना आरंभ कर दी थी। कविता में वे आग़ा 'मज़हर' लखनवी के शागिर्द थे। धीरे-धीरे उन्होंने कविता में अपना रंग बना लिया और लखनऊ की शाब्दिक खिलवाड़ और नखशिख वर्णन की कविता से अलग हो गये।

'नज़र' का सारा जीवन साहित्य-सेवा में बीता। उन्होंने गद्य और पद्य दोनों में बहुत कुछ लिखा, किन्तु दुर्भाग्य से उनका कोई संग्रह न निकल सका। १८९७ ई० में उन्होंने लखनऊ से 'ख़दंगे-नज़र' नामक एक साहित्यिक पत्रिका प्रकाशित की। कुछ समय तक यह पत्रिका अच्छी तरह निकली, किन्तु सात वर्षों के बाद अर्थाभाव के कारण इसे बन्द कर देना पड़ा। इसके बाद 'नज़र' कानपुर के 'ज़माना' नामक प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्र में चले गये। १९१० ई० में इलाहाबाद में इंड़ियन प्रेस से 'अदीब' नामक पत्रिका निकली। 'नज़र' इसमें आ गये, किन्तु कुछ कारणों से १९१२ ई० में यहाँ से अलग होकर फिर 'ज़माना' में चले गये। १९१४ ई० में 'ज़माना' छोड़ कर लखनऊ आ गये और 'अवध अख़बार' का सम्पादन-कार्य सँभाल लिया और अंतकाल तक वहीं रहे। १९२३ ई० में दमे की बीमारी के कारण उनका देहावसान हो गया।

'नज़र' का सारा जीवन चिन्ताओं और दुखों से बोझिल रहा। अर्थाभाव उन्हें हमेशा दबोचे ही रहा। अपनों की कमी भी उन्हें खटकती रही। उनके लड़का कोई हुआ ही नहीं। एक लड़की थी, जिसके पुत्र को अपने पास रखते थे। उनका यह दौहित्र भी चल बसा। इसके कुछ दिनों बाद उनकी बूढ़ी माँ भी चल बसीं। दौहित्र के मरने के बाद वे पड़ोस के एक लड़के का लाड़-प्यार करके और उसे अपने साथ सुलाकर अपने सूने जीवन को भरा-पूरा रखने का प्रयत्न करते थे, किन्तु वह लड़का भी एक दिन छत से गिर कर मर गया!

दुर्भाग्य की इन्हीं कचोटों ने शायद 'नज़र' की कविता में दुख-दर्द कूट-कूट कर भर दिया था।

उनका शब्द-चित्र उनके एक मित्र इस तरह खैंचते हैं—"नज़र मियाना क़द थे। दुबले-पतले, गन्दुमी रंग—लिबास में सादगी, मिज़ाज में नफ़ासत, नमूद-ओ-नुमाइश से हद दर्जे मुज्तनब। ग़रूर-ओ-तकब्बुर छू तक न गया था। 'नज़र' जितने अच्छे शायर थे, उससे ज़ियादा अच्छे इंसान थे। जितने उम्दा शेर कहते थे, वैसे ही खुशनबीस-ओ-मुसब्बिर भी थे। शतरंज का भी शौक़ था।"

उनकी कविता के बारे में यही सज्जन लिखते हैं—" 'नज़र' अपने मुआ-सिर से इसलिए मुमताज़ हैं कि उन्होंने माहौल-ओ-पसन्दे-ज़माना को बिलकुल नहीं देखा, मज़ाके-आमियाना की पैरवी करके फ़तव-ए-उस्तादी-ओ-सुख़नवरी लेना गवारा नहीं किया बल्कि रुहे-शायरी को अपनाया। सस्ती शुहरत से रूकश होकर लताफ़ते-ख़यालात-ओ-सदाक़ते-बयान की अक़लीम पर तसर्रुफ़ किया।"

कविता के क्षेत्र में नवीनता-प्रिय होने के कारण 'नज़र' ने नज़्में भी कहीं, लेकिन सच्ची बात यह है कि नज़्म का क्षेत्र उनके उपयुक्त नहीं था। उनकी नज़्मों मे वह ओज नहीं है, जो नज़्मों की जान है हाँ, जहाँ पर उनकी नज़्मों में तग़ज़्ज़ुल का तत्त्व आ जाता है, वहाँ उनका सौन्दर्य बढ़ जाता है।

लेकिन ग़ज़ल के क्षेत्र मे 'नज़र' का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी ग़ज़लों की सबसे पहली विशेषता उनका सोज़ो-गुदाज़ यानी करुणा है। यह तत्त्व पाठक या श्रोता को तुरंत ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। इसके अलावा बन्दिश की चुस्ती और मुहाविरों की सुन्दरता से उनकी रचनाओं का सौन्दर्य बहुत बढ़ जाता है। उनकी ग़ज़लों के शेर बहुत साफ़ और सादे होते हैं। उनमे अर्थ-गांभीर्य भी इतना होता है कि सवेदनात्मक प्रभाव के साथ ही बौद्धिक तत्त्व भी उसमे अच्छी खासी मात्रा मे आ जाते है। इस नज़र से 'नज़र' की ग़ज़लों का विशेष महत्त्व है। रचनाओं की प्रौढ़ता और सफ़ाई के साथ ही अभिव्यंजन में भी अक्सर नवीनता पैदा कर देते हैं और उनकी लगभग हरएक ग़ज़ल में यह विशेषता पायी जाती है। उनका शब्दचयन बहुत सुन्दर होता

है। फ़ारसी और अरबी के शब्द प्रयोग करने में वे कभी नहीं हिचकते, लेकिन अक्सर मुलायम और मीठे शब्द ही लेते हैं और उन्हें भी इस ढब से प्रयोग करते हैं कि शेरों की रवानी और माधुर्य में काफ़ी बढ़ोतरी हो जाती है।

'नज़र' की ज़बान में बेहद लोच है और शैली अत्यन्त करुणात्मक। 'नज़र' के कलाम की एक विशेषता और है, जो उन्हें अपने अन्य समकालीन लखनवी कवियों से बहुत ऊँचा उठा देती है। वह विशेषता यह है कि उनके किसी शब्द में हलकापन या कुरुचिपूर्ण तत्त्व न मिलेंगे और न कोई कुरुचिपूर्ण बात कही जायेगी। उनका एक शेर भी शायद ऐसा न मिले, जिससे फूहड़पन या फक्कड़पन के भाव प्रकट हों। लखनऊ की तत्कालीन जनरुचि कंघी-चोटी में उलझकर रह गयी थी, 'नज़र' ने इससे अपना दामन बिलकुल बचा लिया। वे प्रियतम के विरह और मिलन का वर्णन करते हैं, लेकिन उसमें अपने समकालीनों की तरह बाज़ारू और कुरुचिपूर्ण वातावरण की सृष्टि नहीं करते, बल्कि एक भावनात्मक संसार में ले जाते हैं। 'नज़र' की एक अन्य विशेषता यह है कि उनकी ग़ज़लों के सभी शेर प्रशंसनीय होते हैं। वे भरती के शेर नहीं कहते, अपने स्तर से नीचे कभी नहीं गिरते और एक भी शेर ऐसा नहीं कहते जिसमें कोमल भावना को ठेस पहुँचे या उलझी हुई अभिव्यंजना हो या कल्पना की ऐसी भौंड़ी उड़ान हो, जो सरस पाठकों के मन को बुरी लगे।

'नज़र' के कुछ शेर उदाहरण स्वरूप दिये जा रहे हैं, जिनसे उनकी शैली का अन्दाज़ा लगेगा—

वो एक तुम कि सरापा बहारो - नाज़िशे - गुल
वो एक मैं कि नहीं सूरत - आशनाए - बहार
ज़मीं पे लाला - ओ - गुल बनके आशकार हुआ
छुपा न ख़ाक में जब हुस्ने - ख़ुदनुमाए - बहार
तअल्लुक़े - गुलो - शबनम है राज़े - उल्फ़त भी
उन्हें हँसाये जहाँ तक हमें रुलाए बहार

अभी मरना बहुत दुश्वार है ग़म की कशाकश से
अदा हो जायेगा यह फ़र्ज़ भी, फ़ुरसत अगर होगी

मुआफ़ ऐ हमनशीं ! गर आह कोई लब पे आ जाये
तबीयत रफ़्ता रफ़्ता ख़ूगरे - दर्दे - जिगर होगी

वह शमअ नहीं हैं कि हों इक रात के मेहमाँ
जलते हैं तो बुझते नहीं हम वक़्ते - सहर भी
जीने के मज़े देख लिये तेरी बदौलत
अब, ओ दिले - नाकामे - तमन्ना ! कहीं मर भी

मिर्ज़ा ज़ाकिर हुसैन 'साक़िब' क़िज़िलबाश—मिर्ज़ा 'साक़िब' भी लखनऊ के उन प्रतिभाशाली कवियों में से हैं, जिन्होंने ग़ज़ल का मर्तबा बहुत ऊँचा कर दिया। वे २ जनवरी १८६९ ई० को आगरे में पैदा हुए थे। अभी छः महीने के ही थे कि उनके पिता परिवार सहित लखनऊ आ गये। मिर्ज़ा ज़ाकिर हुसैन को शुरू से ही—१२ वर्ष की अवस्था से ही—शेर कहने का चस्का लग गया था, लेकिन उनके पिता को शायरी से चिढ़ थी। फलतः बेचारे मुशायरों की तरह में छुप-छुप कर शेर कहते थे और उनके साथी अपने नाम से उनकी ग़ज़ल पढ़ देते थे और वापस आकर बताते थे कि किस शेर पर कैसी दाद मिली। इन्हें मुशायरों में जाने की भी अनुमति न थी।

१८८७ ई० से १८९१ ई० तक अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे आगरे में रहे। सौभाग्यवश वहाँ आपको मोमिन हुसैन खां 'सफ़ी' जैसे योग्य पथ-प्रदर्शक मिल गये। 'सफ़ी' उर्दू, फ़ारसी और अरबी तीनों भाषाओं के कवि थे और काव्यशास्त्र में पारंगत। चुनाँचे 'साक़िब' ने भी गुरु की कृपा और अपनी जन्मजात प्रतिभा के बल पर कुछ ही दिनों में इतनी योग्यता प्राप्त कर ली कि अपने गुरु-भाइयों की ग़ज़लों का भी सफलता-पूर्वक संशोधन करने लगे।

मिर्ज़ा 'साक़िब' को आयु पर्यन्त आर्थिक कठिनाइयों ने नहीं छोड़ा। एक बार अपनी सारी जमा पूंजी लगाकर एक मित्र के साझे में व्यापार किया, तो उन महोदय ने सारी पूंजी ही चौपट कर दी। १९०६ ई० में वे कलकत्ते गये, जो उस समय भारत की राजधानी थी। वहाँ ईरानी दूतावास में दो वर्ष तक प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। १९०८ ई० में महाराजा महमूदाबाद ने आपको लखनऊ वापस बुला लिया और ५० रुपया महीना वज़ीफ़ा उनके लिए बाँध दिया।

मिर्ज़ा साहब की संतोषी प्रवृत्ति के लिए इतना सहारा काफ़ी था। इसी छोटी सी आय पर सारा जीवन काट दिया। २२ नवम्बर १९४६ ई० को इनका देहावसान हो गया।

मिर्ज़ा 'साक़िब' शायरी के लिए अपना सारा जीवन अर्पित कर चुके थे। रातदिन शेर की फ़िक्र में डूबे रहते थे। अक्सर राह चलते हुए भी शेर कहते थे, फलस्वरूप कई बार सवारियों और राहगीरों से टकराकर चोट खा गये। पुरानी सभ्यता के जीते-जागते नमूने थे। उनका स्वभाव सरल और गंभीर था। वे अत्यन्त मिलनसार, किन्तु स्वाभिमानी बुज़ुर्ग थे। अपने मित्रों के सामने नम्र रहते, किन्तु विरोधियों के आगे सर झुकाने की आदत नहीं थी। अपने समकालीन अन्य उस्तादों—'सफ़ी' 'नज़र' आदि—की भाँति यह भी आत्म-विज्ञापन पसंद न करते थे, फलतः अपने काल में उतनी ख्याति नहीं पा सके, जितनी के हक़दार थे। विचारों में स्वतन्त्र थे और व्यवहार में अत्यन्त भद्र। दुबले-पतले आदमी थे। फ्रेंच कट दाढ़ी और आँखों पर चश्मा निहायत अच्छा लगता था। अक्सर काली शेरवानी और गोल टोपी पहना करते थे।

मिर्ज़ा 'साक़िब' का काव्यपाठ का ढंग बड़ा मनोहर था। पुराने लोग मुशायरों में तरन्नुम से (गाकर) ग़ज़ल नहीं पढ़ते थे। मिर्ज़ा 'साक़िब' भी गाकर नहीं पढ़ते थे, लेकिन पढ़ने की सादगी का अंदाज़ इतना प्रभावशाली था कि तरन्नुम से पढ़ने वाले उनके आगे माँद (मन्द) पड़ जाते थे। मिर्ज़ा में फ़िल बदीह (तात्कालिक) कविता करने का भी गुण था। अक्सर ऐसा हुआ कि मुशायरे में ही तरह दी गयी और कवियों से उसी समय ग़ज़ल पढ़ने को कहा गया। ऐसे मुशायरों में केवल कुछ ही प्रतिभाशाली कवि भाग ले सकते हैं। इस पर भी जिन कवियों ने भी ऐसे अवसरों पर ग़ज़लें कहीं, उनमें मिर्ज़ा 'साक़िब' की ग़ज़ल ही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती रही।

मिर्ज़ा 'साक़िब' की ग़ज़लों में जो सबसे पहली ख़ूबी दिखाई देती है, वह उनकी ज़बान की सफ़ाई, रवानी और मुहावराबन्दी है। लखनऊ के सारे प्रमुख कवि इस बात के लिए प्रसिद्ध रहे हैं और लखनवी शैली में सुन्दर शब्द-योजना, बन्दिश की चुस्ती और मुहावरों का बाहुल्यपूर्वक प्रयोग लखनऊ के सारे कवियों की विशेषताएँ हैं। मिर्ज़ा 'साक़िब' में भी ये विशेषताएँ अपने

पूरे रूप में मौजूद हैं। किन्तु इनके अलावा उनकी कुछ ऐसी भी विशेषताएँ हैं, जो उनका व्यक्तित्व उभार देती हैं।

पहली बात तो यह है कि वे प्रेम-व्यापार को इतने कोमल इशारों में पेश कर देते हैं कि देख कर दिल झूम उठता है। यह वर्णन-सौन्दर्य की विशेषता है। दूसरी बात यह है कि एक ही समय हृदय में उठने वाली परस्पर विरोधी भावनाओं को भी पूरे सामञ्जस्य के साथ वे प्रदर्शित कर देते हैं। ज़ोरे-बयान (ओज) और कल्पना की उड़ान भी मिर्ज़ा 'साक़िब' की ग़ज़लों में देखते ही बनती है। इसके अलावा उनकी उल्लेखनीय विशेषता मानव—विशेषत: प्रेमी मानव—के महत्त्व का पूर्ण बोध और उसका सफल प्रदर्शन है। इसी स्वाभिमान के बोध के आधार पर उनके प्रेम में समर्पण में भी ज़बर्दस्त शान पैदा हो जाती है और वे प्रेम की कड़ी परीक्षाओं को भी हँसते-हँसते उत्तीर्ण करना चाहते हैं, बल्कि इन्हीं कड़ी आज़माइशों को जीवन की सबसें बड़ी देन समझते हैं। 'साक़िब' की एक विशेषता यह भी है कि वे कभी-कभी 'ग़ालिब' की तरह बड़े लम्बे-चौड़े विषय को एक ही शेर में सफलतापूर्वक बाँध देते हैं। ऐसे शेरों का पूरा आनन्द उसी समय आता है, जब कि उनकी विशद रूप से व्याख्या की जाय।

भाषा के मामले में 'साक़िब' की यह स्थिति है कि वे अपने समकालीनों की अपेक्षा कुछ क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं। वे कुछ फ़ारसी और अरबी के ऐसे शब्द-विन्यास प्रयोग करते हैं,जो उर्दू में प्रचलित नहीं हैं। इस क्लिष्टता के बावजूद उनकी भाषा कभी लड़खड़ाती या खड़खड़ाती नहीं है। फिर ऐसे शेर भी वे कम ही कहते हैं, अधिकतर शेर वे बहुत प्रवाह-युक्त और सादा कहते हैं।

मिर्ज़ा 'साक़िब' का एक ही दीवान छपा है, लेकिन वह काफ़ी लम्बा-चौड़ा है। नीचे हम उनकी एक ग़ज़ल और कुछ शेर उदाहरण के लिए दे रहे हैं—

हिज्र की शब नालए-दिल यूँ सदा देने लगे
सुनने वाले रात कटने की दुआ देने लगे

बाग़बाँ ने आग दी जब आशियाने को मेरे
जिन पे तकिया था वही पत्ते हवा देने लगे
आइए, हाले - दिले - बीमार सुनिए देखिए
क्या कहा ज़ख़्मों ने ? क्यों टाँके सदा देने लगे
मुट्ठियों में ख़ाक लेकर दोस्त आये बादे - दफ़्न
जिन्दगी भर की मुहब्बत का सिला देने लगे
किस नज़र से आपने देखा दिले - महरूम को
ज़ख़्म जो कुछ भर चुके थे फिर हवा देने लगे
जुज़ ज़मीने - कूए - जानाँ कुछ नहीं पेशे - निगाह
जिसका दरवाज़ा नज़र आया सदा देने लगे

फ़तीलों की रगों पर जो गुज़रती है गुज़रने दें
खड़े हों दूर ही सैरे - चराग़ाँ देखने वाले
ज़बर्दस्ती की रुख़सत अहले - दिल निश्तर समझते हैं
ख़ुद उट्ठे जाते हैं दुनिया को मेहमाँ देखने वाले

कहने को मुश्ते - पर की असीरी तो थी मगर
ख़ामोश हो गया है चमन बोलता हुआ

सय्यद अनवर हुसैन 'आरज़ू' लखनवी—'आरज़ू' लखनवी अपनी सरस भाषा और काव्य के लिए प्रसिद्ध हो गये हैं। उनके पिता मीर ज़ाकिर हुसैन 'यास' और बड़े भाई मीर यूसुफ़ हुसैन 'क़यास' भी अच्छे शायर थे। अनवर हुसैन १८ फरवरी १८७२ ई० को पैदा हुए। यह भी बचपन में ही शेर कहने लगे। पिता को इनकी प्रतिभा का पता चला तो उसी रोज़ उन्हें 'जलाल' लखनवी के पास ले गये। उस समय इनकी अवस्था तेरह वर्ष की थी।

लखनऊ में उन दिनों आये दिन मुशायरे होते रहते थे और शेरो-शायरी का चर्चा अक्सर हुआ करता था। मुशायरों में शीघ्र ही यह चमकने लगे। एक रोज़ एक सज्जन ने इन्हें एक मिसरा दिया और कहा कि अगर तुम दस वर्षों में भी इस पर दूसरा मिसरा लगा कर शेर बना दो तो तुम्हें शायर मान

लूँगा। यह मिसरा यूँ था "उड़ गयी सोने की चिड़िया रह गये पर हाथ में।" मिसरा अजीब-सा था, किन्तु इन्होंने कहा कि 'दस वर्ष जीने की क्या आशा है, अभी कोशिश करता हूँ' और यह कहकर इतना सुन्दर मिसरा लगाया कि पहले का बेकार मिसरा भी चमक उठा। पूरा शेर इस तरह कर दिया—

दामन उस यूसुफ़ का आया पुरज़े होकर हाथ में
उड़ गयी सोने की चिड़िया रह गये पर हाथ में

इनकी ऐसी प्रतिभा देखकर विद्वानों ने भविष्यवाणी की कि यह अपने ज़माने के प्रमुख कवि होंगे और ऐसा ही हुआ। १८ वर्ष के ही थे कि उस्ताद ने अपने सारे शागिर्दों की ग़ज़लों के संशोधन का भार इन्हीं पर डाल दिया। 'जलाल' की मृत्यु के पश्चात् इन्हीं को उनका उत्तराधिकारी मान लिया गया।

'आरज़ू' ने शायरी तो की, लेकिन दरबारदारी को अपनी जीविका का साधन नहीं बनाया। कलकत्ते में न्यू थियेटर्स कम्पनी स्थापित हुई तो उसमें गीत लिखने की नौकरी कर ली। कुछ वर्षों बाद बम्बई जाकर फ़िल्म कम्पनियों में यही काम करने लगे। १९५० ई० में 'डान' की ओर से मुशायरा हुआ तो उन्हें बुलाया गया। कराची जाकर वे वहीं के हो रहे। १९५१ ई० में उनका वहीं देहावसान हो गया।

'आरज़ू' पुराने ज़माने के बड़े बज़अदार बुज़ुर्ग थे। जो कोई भी उनसे मिलने जाता, बड़े खुले दिल से मिलते थे। विनोद-प्रिय बहुत थे और अस्सी वर्ष की अवस्था में भी चुटकुले सुनते-सुनाते और हँसते-हँसाते रहते थे। तबीयत में कठमुल्लापन या धर्मांधता नाम को भी न थी। बग़ैर धार्मिक भेदभाव के हरएक से मिलते थे और हर समय देश-हित का ध्यान नज़र में रखते थे। जीवन का पूरा रस लेते थे। संगीत अच्छा ख़ासा जानते थे, बल्कि कभी-कभी दोस्तों में बैठ कर गाया भी करते थे। पतंगबाज़ी का जवानी में बहुत शौक़ था और बुढ़ापे में भी हालाँकि ख़ुद पतंग नहीं उड़ाते थे, किन्तु पतंगबाज़ी की बातें काफ़ी किया करते थे।

'आरज़ू' की ग़ज़लें ही प्रसिद्ध नहीं हैं, उन्होंने नज़्में भी अच्छी ख़ासी संख्या में कहीं हैं। पुराने काव्यरूप क़सीदा, मसनवी, रुबाई आदि भी ख़ूब

कही हैं। इनके अतिरिक्त मरसिये भी काफ़ी और सफलतापूर्वक लिखे हैं। उनकी कविताओं के तीन संग्रह—'फ़ुग़ाने-आरज़ू', 'जहाने-आरज़ू' और 'सुरीली बाँसुरी' प्रकाशित हुए हैं। कवि के अलावा 'आरज़ू' नाटककार भी थे। उनके कई नाटक 'मतवाली जोगिन', 'दिलजली बैरागिन', 'शरारे-हुस्न' आदि प्रसिद्ध हो चुके हैं। इनके अलावा उन्होंने उर्दू व्याकरण की एक पुस्तक 'निज़ामे-उर्दू' के शीर्षक से लिखी है। यह पुस्तक बीस वर्षों के परिश्रम के फलस्वरूप लिखी गयी है और इसके बारे में कहा जा सकता है कि यह उर्दू के भंडार में महत्त्वपूर्ण वृद्धि है।

'आरज़ू' ने उर्दू के साथ एक और प्रयोग किया है। 'ख़ालिस उर्दू' के नाम से उन्होंने ऐसी भाषा को जन्म दिया, जिसमें एक भी शब्द अरबी या फ़ारसी का नहीं है। यह सभी जानते हैं कि गद्य में ऐसी भाषा लिखना अपेक्षाकृत आसान काम है। 'इंशा' तो पूरी की पूरी 'रानी केतकी की कहानी' ऐसी भाषा में लिख गये हैं, जिसमें अरबी-फ़ारसी तो क्या, संस्कृत का भी कोई तत्सम शब्द नहीं है। 'आरज़ू' ने यह कमाल किया है कि पद्य में भी अरबी-फ़ारसी के शब्द छोड़ दिये। उनका काव्य-संग्रह 'सुरीली बाँसुरी' इसी 'ख़ालिस उर्दू' का पद्य-संग्रह है। इसमें केवल लखनवी मुहावरों के बल पर बंदिश में चुस्ती पैदा की गयी है। यह ठीक है कि इस चक्कर में उन्होंने अक्सर उलझे हुए और कम प्रचलित मुहावरे भी इस्तेमाल किये हैं, भाव पक्ष अपेक्षाकृत निर्बल हो गया है और भाषा कुछ बनावटी हो गयी है, जिससे कि उसका प्रचलन संभव नहीं। फिर भी निस्संदेह भाषा के विकास की दृष्टि से यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रयोग है और हिन्दी-उर्दू का अन्तर दूर करके एक जन-भाषा का विकास करने की दिशा में यह महत्त्वपूर्ण क़दम कहा जा सकता है।

ग़ज़लों में 'आरज़ू' ने भावपक्ष में 'मीर' के रंग का अनुसरण किया है। उनके शेरों में नरमी, कोमलता और करुणा के तत्त्व काफ़ी पाये जाते हैं। साथ ही लखनवी शायर होने के नाते उनके शेरों में प्रवाह, शब्दों का उचित चयन और सुन्दर शब्द-विन्यास (बन्दिश) के तत्त्व भी बहुत हैं। हिन्दी के शब्दों का जी खोलकर प्रयोग करते हैं, जिससे काव्य-माधुर्य और गीतात्मकता काफ़ी बढ़ जाती है। मुहावरे और कहावतें भी संतुलित रूप में प्रयोग करते

हैं, जिससे वर्णन-सौन्दर्य बढ़ जाता है। कभी-कभी वे शाब्दिक अनुरूपता से भी काम लेते हैं, किन्तु उसी सीमा तक जहाँ तक वह भाव-प्रकाशन में योग दे। वे शाब्दिक अनुरूपता के चक्कर में कभी भाव पक्ष निर्बल नहीं होने देते। नीचे हम उनकी एक साधारण ग़ज़ल और एक 'ख़ालिस' उर्दू की ग़ज़ल के कुछ शेर देकर उनकी शैली का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

क़फ़स से ठोकरें खाती नज़र जिस नख़्ल तक पहुँची
उसी पर, ले के इक तिनका, बिनाए - आशियाँ रख दी
सुकूने - दिल नहीं जिस वक़्त से इस बज़्म में आये
ज़रा सी चीज़ घबराहट में क्या जाने कहाँ रख दी
बुरा हो इस मुहब्बत का हुए बरबाद घर लाखों
वहीं से आग लग उट्ठी ये चिनगारी जहाँ रख दी
किया फ़िर तुमने रोता देखकर दीदार का वादा
फ़िर इक बहते हुए पानी में बुनियादे - मकाँ रख दी
दरे दिल 'आरज़ू' दरवाज़ए - काबा से बेहतर था
ये, ओ ग़फ़लत के मारे! तूने पेशानी कहाँ रख दी

रस उन आँखों का है कहने को ज़रा - सा पानी
सैकड़ों डूब गये फ़िर भी है उतना पानी
किसने भीगे हुए बालों से ये झटका पानी
झूम कर आयी घटा टूट के बरसा पानी
फैलती धूप का है रूप लड़कपन की उठान
दोपहर ढलते है उतरेगा ये चढ़ता पानी
न सता उसको जो चुप रह के भरे ठंडी साँस
यह हवा करती है पत्थर का कलेजा पानी
यह पसीना वही आँसू है जो पी जाते थे हम
'आरज़ू' लो वो खुला भेद, वो फूटा पानी

मिर्ज़ा मुहम्मद हादी 'अज़ीज़' लखनवी—'अज़ीज़' लखनवी अपनी उच्च विचारोंवाली ओजपूर्ण ग़ज़लों और क़सीदों के बल पर काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर

चुके हैं। इनके पूर्वज शीराज़ के रहने वाले थे। वहाँ से चलकर वे कश्मीर में रहे और फिर स्थायी रूप से लखनऊ में बस गये। मिर्ज़ा मुहम्मद हादी का जन्म १८८२ ई० में हुआ। पाँच वर्ष की अवस्था में आपका विद्यारंभ हुआ और विभिन्न विद्वान शिक्षकों से आपने अरबी-फ़ारसी, व्याकरण, धर्मशास्त्र, दर्शन, साहित्य आदि पढ़ा। कविता में आप 'सफ़ी' लखनवी के शागिर्द हुए, लेकिन बाद में किसी बात पर उस्ताद से झगड़ा हो गया जो अंत तक रहा। शुरू में सात-आठ वर्षों तक 'अज़ीज़' साहब मिर्ज़ा मुहम्मद अब्बास अली ख़ाँ (डिप्टी कमिश्नर और रईस) के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। अब्बास अली ख़ाँ साहब कविता में इनसे संशोधन भी कराया करते थे। इसके बाद 'अज़ीज़' अमीनाबाद हाईस्कूल लखनऊ में फ़ारसी के अध्यापक रहे। इसी बीच कई वर्षों तक वे लखनऊ विश्वविद्यालय में फ़ारसी के परीक्षक भी रहे थे। १९२८ ई० में महाराजा साहब महमूदाबाद के बुलावे पर उनके युवराज को पढ़ाने के लिए चले गये। कुछ समय के बाद महाराजा साहब ने रियासत का विशाल पुस्तकालय उनके सुपुर्द कर दिया। अंत समय तक 'अज़ीज़' इसी पद पर रहे। २ अगस्त १९३५ ई० को उनका देहान्त हो गया।

'अज़ीज़' की तबीयत में सादगी और बेतकल्लुफ़ी थी। ज़बर्दस्त योग्यता के बावजूद किसी तरह का घमंड उनमें नहीं था। किसी से जलन भी नहीं थी, दूसरों की कविता की जी खोलकर प्रशंसा किया करते थे। फ़ौरन घुल-मिल जाने वाले लोगों में न थे, किन्तु जब मित्रता करते तो उसमें दृढ़ता होती। उनकी प्रकृति संतोषी थी, व्यवहार भद्र और विचार गंभीर थे।

वर्तमान समय में जितने योग्य शागिर्द 'अज़ीज़' को मिले, उतने किसी और को नसीब नहीं हुए। उनके शागिर्दों में कुछ प्रमुख नाम ये हैं—'जोश' मलीहाबादी, 'आशुफ़्ता' लखनवी, 'असर' लखनवी, 'रशीद' लखनवी, जगत मोहन लाल 'रवाँ', 'जिगर' बरेलवी, 'शेफ़्ता' लखनवी, 'कैफ़ी' लखनवी।

उनकी ग़ज़लों का पहला दीवान 'गुलकदा' उनके जीवन काल में ही प्रकाशित हो गया था। दूसरा दीवान पिछले वर्ष ही प्रकाशित हुआ है (जो हमें अभी देखने को नहीं मिला)। क़सीदों का संग्रह 'सहीफ़ए-विला' के नाम से प्रकाशित हुआ है। कई जीवन चरित्र भी उन्होंने लिखे हैं और व्याकरण तथा

भाषा के सम्बन्ध में भी दो पुस्तकें हैं। दो शब्द-कोष भी उन्होंने बनाये हैं। 'अज़ीज़' की कविता की उनके समकलीनों ने भी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। 'साक़िब' लखनवी की राय में "अज़ीज़ की तबीयत निहायत पुरदर्द वाक़अ हुई है। हर शेर से हसरत का इज़हार होता है। कमाल यह है कि आपने 'मीर'-ओ-'ग़ालिब' की तक़लीद करते हुए अपने खास रंग को हाथ से नहीं जाने दिया है। ज़बान की सफ़ाई, मज़ामीन की रिफ़अत और बयान की सलासत, मअनी-आफ़रीनी और नुक्तारसी से दस्तो-गरेबाँ है।"

लखनवी शैली की ग़ज़ल को बदनामी के गढ़े से निकालकर उसमें नयी चमक-दमक पैदा करने वालों में 'अज़ीज़' का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। उनके शेरों में कहीं हलके भाव नहीं आते। हद तो यह है कि वे अँगड़ाई जैसे वासनापूर्ण विषय को उठाते हैं तो उसे इस दृष्टिकोण से देखते हैं कि उसमें लालित्य और सौन्दर्यबोध की तृप्ति के अलावा वासना का कोई तत्त्व नहीं रहने पाता। 'अज़ीज़' की एक विशेषता उनकी उच्च कल्पना है। यह असर उन्होंने 'ग़ालिब' से लिया है। 'ग़ालिब' की प्रसिद्ध ग़ज़लों की ज़मीन में उन्होंने कई ग़ज़लें कही भी हैं। 'अज़ीज़' के शेरों में शब्दों के उचित प्रयोग के बड़े सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उनके शब्दों में ओज भी है और संगीत भी। वर्णन में नवीनता, नवीन विचार, नवीन दृष्टिकोण—ग़रज़ कि ग़ज़ल के भाव क्षेत्र में प्रत्येक दृष्टि से उन्होंने ऐसी नवीनता दिखायी है कि पढ़नेवाले को हमेशा एक तरह की ताज़गी महसूस होती है। करुणा का पुट 'अज़ीज़' की ग़ज़लों में भी बहुत अधिक है—यहाँ तक कि कुछ लोग इस पर आपत्ति भी कर बैठते हैं। भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं में सफ़ाई और सरलता पायी जाती है। साथ ही यह विशेषता है कि रचनाओं में कहीं खैंचतान या बनावट नहीं है। उनमें एक स्वाभाविक प्रवाह, एक बेसाख्तापन, मौजूद रहता है। ग़ज़ल के क्षेत्र में यही चीज़ें किसी कवि को उत्कृष्ट बनाती हैं। ग़ज़लों की ही भाँति क़सीदे के क्षेत्र में भी—यद्यपि 'अज़ीज़' का समय क़सीदा-गोई का अंतिम काल था—वे प्रमुख हैं। उनके क़सीदे कल्पना की तेज़ उड़ान, शब्दों की धूम-धाम, गंभीर अर्थात्मकता और क्रमिक संबद्धता के लिए प्रसिद्ध हैं।

भाषा के सम्बन्ध में भी दो पुस्तकें हैं। दो शब्द-कोष भी उन्होंने बनाये हैं। 'अज़ीज़' की कविता की उनके समकलीनों ने भी मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। 'साक़िब' लखनवी की राय में "अज़ीज़ की तबीयत निहायत पुरदर्द वाक़अ हुई है। हर शेर से हसरत का इज़हार होता है। कमाल यह है कि आपने 'मीर'-ओ-'ग़ालिब' की तक़लीद करते हुए अपने ख़ास रंग को हाथ से नहीं जाने दिया है। ज़बान की सफ़ाई, मज़ामीन की रिफ़अत और बयान की सलासत, मअनी-आफ़रीनी और नुक्तारसी से दस्तो-गरेबाँ है।"

लखनवी शैली की ग़ज़ल को बदनामी के गढ़े से निकालकर उसमें नयी चमक-दमक पैदा करने वालों मे 'अज़ीज़' का नाम प्रथम पंक्ति में आता है। उनके शेरों में कहीं हलके भाव नहीं आते। हद तो यह है कि वे अँगड़ाई जैसे वासनापूर्ण विषय को उठाते हैं तो उसे इस दृष्टिकोण से देखते हैं कि उसमें लालित्य और सौन्दर्यबोध की तृप्ति के अलावा वासना का कोई तत्त्व नहीं रहने पाता। 'अज़ीज़' की एक विशेषता उनकी उच्च कल्पना है। यह असर उन्होंने 'ग़ालिब' से लिया है। 'ग़ालिब' की प्रसिद्ध ग़ज़लों की ज़मीन में उन्होंने कई ग़ज़लें कही भी हैं। 'अज़ीज़' के शेरों मे शब्दों के उचित प्रयोग के बड़े सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। उनके शब्दों में ओज भी है और संगीत भी। वर्णन में नवीनता, नवीन विचार, नवीन दृष्टिकोण—ग़रज़ कि ग़ज़ल के भाव क्षेत्र में प्रत्येक दृष्टि से उन्होंने ऐसी नवीनता दिखायी है कि पढ़नेवाले को हमेशा एक तरह की ताज़गी महसूस होती है। करुणा का पुट 'अज़ीज़' की ग़ज़लों में भी बहुत अधिक है—यहाँ तक कि कुछ लोग इस पर आपत्ति भी कर बैठते हैं। भाषा की दृष्टि से उनकी रचनाओं में सफ़ाई और सरलता पायी जाती है। साथ ही यह विशेषता है कि रचनाओं में कहीं खैंचतान या बनावट नहीं है। उनमें एक स्वाभाविक प्रवाह, एक बेसाख़्तापन, मौजूद रहता है। ग़ज़ल के क्षेत्र में यही चीज़ें किसी कवि को उत्कृष्ट बनाती हैं। ग़ज़लों की ही भाँति क़सीदे के क्षेत्र में भी—यद्यपि 'अज़ीज़' का समय क़सीदा-गोई का अंतिम काल था—वे प्रमुख हैं। उनके क़सीदे कल्पना की तेज़ उड़ान, शब्दों की धूम-धाम, गंभीर अर्थात्मकता और क्रमिक संबद्धता के लिए प्रसिद्ध हैं।

'अजीज' के काव्य-सग्रह 'गुलकदा' से कुछ शेर उदाहरण के रूप मे दिये जा रहे है—

अपने मरकज की तरफ मायले-परवाज था हुस्न
भूलता ही नहीं आलम तेरी अँगड़ाई का

दिखाऊँ किसको मैं ऐ इश्क़ ताक़त जज़्बे-कामिल की
खिचे बैठे हैं वह याँ टूटी जाती हैं रगें दिल की
यही इक परदये-तस्वीर बुतख़ाने के क़ाबिल था
कि आँसू गिरते ही दामन पे सूरत खिंच गयी दिल की

कौन है वह जो लगी दिल की बुझा ही देंगे
कुछ न होगा तो उन्हें दिल से दुआ ही देंगे
रूह बीमारे-मुहब्बत की ये कह कर निकली
है क़यामत का ये वक़्त उनको जगा ही देंगे

लब्भूराम 'जोश' मल्सियानी—जोश मल्सियानी को एक तरह से पुराने जमाने की यादगार कहा जा सकता है। वे 'दाग' स्कूल के स्नातक है। फिर भी उनकी कविता मे भाव तत्त्व अपने ललित रूप मे कुछ इस तरह रहता है कि उन्हे केवल आकारवादी कवि नही कहा जा सकता। वैसे भी दिल्ली शैली का अनुयायी होने के नाते उनके केवल आकारवादी होने का प्रश्न ही नही उठता।

'जोश' मल्सियानी कस्बा मल्सियाँ, जिला जालधर के रहनेवाले है। उनका जन्म १ फरवरी १८८४ ई० को हुआ था। १४ वर्ष के थे कि पिता का देहात हो गया। घर की स्थिति ऐसी न थी कि अग्रेजी स्कूल की पढाई का खर्चा उठा पाते। फिर भी उन्होने 'मुशी फाजिल' और 'अदीब फ़ाजिल' की परीक्षाएँ पास की और एक हाई स्कूल मे फारसी के अध्यापक हो गये। बचपन से ही वे बडे कुशाग्र-बुद्धि थे। उनके कुछ सहपाठी यह नही चाहते थे कि वे दरजे मे अव्वल रहे। इसका उपाय उन लोगो ने यह किया कि उन्हे शायरी की लत लगा दी। भाग्यवश जो बात दुर्भावनावश की गयी थी, उसीके कारण 'जोश' साहब का नाम अमर हो गया। १९०२ ई० मे वे नवाब मिर्जा खाँ 'दाग' देहलवी

के शागिर्द हुए। किन्तु यह सिलसिला अधिक न चल सका, क्योंकि 'दाग़' की १९०५ ई० में मृत्यु हो गयी।

'जोश' साहब की तसवीर या उनकी शक्ल-सूरत देखकर शायद ही कोई विश्वास करेगा कि यह शायर भी हो सकते हैं। उर्दू के शायर के लिए यही क्या कम आश्चर्य की बात है कि वह धोती पहने ही मुशायरे में चला आये, लेकिन 'जोश' साहब तो धोती के अलावा पंजाब के ठेठ देहातियों की तरह साफ़ा भी बाँधे रहते हैं। सफ़ेद कमीज़, धोती, देशी जूते और साफ़े के अलावा इनकी और कोई पोशाक नहीं है। जाड़ों में बन्द गले का कोट भी पहन लेते हैं। हुलिया भी बिलकुल देहाती—ख़सख़सी दाढ़ी और बेसँवरी मोंछें। मगर चौड़े माथे और चमकती हुई आँखों से मस्तिष्क की शक्ति का पता चल ही जाता है। बातचीत में बड़े गंभीर हैं, लेकिन बड़े मिलनसार भी। न किसी से ईर्ष्या करने की आदत, न अपनी प्रशंसा करवाने का चस्का। मुशायरों में वाहवाही लूटने के बाद भी उसी सादगी और निर्लिप्त भावना से वापस आकर बैठ जाते हैं, जैसे पहले बैठे थे। हरएक के अच्छे शेर की प्रशंसा करने की आदत है। लालच नाम को भी नहीं छू गया है। इतनी ख्याति के बाद भी पैसा बटोरने की कोई विशेष इच्छा नहीं है। उनके पुत्र 'अर्श' मल्सियानी, जो ख़ुद भी वर्तमान काल के प्रसिद्ध कवियों में हैं, भारत सरकार में अच्छे पद पर आसीन हैं, लेकिन 'जोश' साहब ने अपना रहन-सहन नहीं बदला। उनके अपने ख़र्चे ही इतने कम हैं कि उन्हें लालच करने की ज़रूरत नहीं पड़ी। खाने-पीने में कोई शौक़ नहीं, बहुत ही सादा खाना खाते हैं, मांस-मदिरा को हाथ नहीं लगाते। सिर्फ़ हुक़्क़ा पीने का शौक़ है, सिग्रेट वह भी नहीं पीते। मुशायरों आदि में मजबूरी में सिग्रेट पीना पड़ता है तो 'रेड लेम्प' सिग्रेट पीते हैं। वैसे यात्रा में भी सफ़री हुक़्क़ा साथ रहता है। दूसरा शौक़ शतरंज का है। चौबीस-चौबीस घंटे बिसात पर बैठे रहते हैं। उनकी गिनती पंजाब के प्रसिद्ध शतरंजबाज़ों में होती है। उनके बहुत-से शागिर्द हैं, लेकिन अपने पुत्र बालमुकुन्द 'अर्श' को उन्होंने कभी कविता के लिए प्रोत्साहित न किया।

'जोश' नज़्में भी लिखते हैं और ग़ज़लें भी। कविता का आरंभ उन्होंने

नज़्मों से ही किया था। 'बादए-सरजोश' नामक उनका काव्य-संग्रह है, जो १९४० ई० में प्रकाशित हुआ था।

'जोश' के यहाँ कोई विशेष दर्शन या संदेश नहीं है। वे केवल कवि हैं, जिनकी भावना का आधार या तो परम्परागत प्रेम है या फिर बुद्धि के क्षेत्र में सीधे-सादे सुलझे हुए विचार। काव्य-कला के मामले में वे काव्य-शास्त्र के नियमों का पूर्णरूपेण पालन करने के पक्षपाती हैं। फिर भी उनकी उन्हीं ग़ज़लों में, जो एक दृष्टि से परम्परावादी भी कही जा सकती हैं, उनकी निज की वैयक्तिकता और उनके हृदय की भावनाएँ साफ़ दिखाई देती हैं। उनके विचार गंभीर हैं और कल्पना की उड़ान ऊँची, किन्तु बोधगम्य। सरलता, प्रवाह, चुस्त बंदिश, शब्दों का उचित चयन आदि कविता के जो सामान्य गुण हैं, वे 'जोश' के यहाँ बहुत निखरे हुए रूप में मिलते हैं। उनके कुछ शेर देखिए—

करूँ शरहे - जुनूँ क्योंकर ख़िरदमन्दों की महफ़िल में
य वह नुक्ते हैं जिनको अहले - दानिश कम समझते हैं
शबे - तारीके - ग़म में ज़िन्दगी का है यक़ीं किसको
सफ़े - अंजुम को हम अपनी सफ़े - मातम समझते हैं
हमारे इश्क़ ने मफ़हूम लफ़्ज़ों का बदल डाला
कि जो दम पर बना दे हम उसे हमदम समझते हैं
हुए जो ख़ूगरे - ग़म ऐश का उन पर असर क्या हो
ख़ुशी को वह ख़ुशी समझें जो ग़म को ग़म समझते हैं

ना - शिगुफ़्ता ही रही दिल की कली
मौसमे - गुल बारहा आता रहा

तेरे अन्दाज़ पर उम्रे - रवाँ कुछ शक गुज़रता है
लिये जाती है तू मुझको किधर आहिस्ता आहिस्ता

तिलोक चन्द 'महरूम'—'महरूम' भी बीसवीं शताब्दी के वह नवचेतनावादी कवि हैं, जिन्होंने नज़्में भी कहीं और ग़ज़लें भी अच्छी कहते हैं। वे १८८७ ई० में पैदा हुए थे। सिंध नदी के किनारे ईसाख़ेल तहसील का गाजरौंवाला

गाँव इनकी जन्मभूमि है। यह गाँव उसी ज़माने में सिंध की बाढ़ में डूब गया था और इनका परिवार अपनी थोड़ी-बहुत खेती और दुकानदारी को छोड़कर ईसाख़ेल में बस गया। छ-सात वर्ष की अवस्था में इन्हें स्थानीय मिडिल स्कूल में दाख़िल कर दिया गया। यह अपने दरजे में हमेशा अव्वल रहते थे। मिडिल पास करने के बाद ईसाख़ेल से साठ-सत्तर मील दूर जाकर बन्नू के विक्टोरिया डाइमंड जुबली स्कूल से १९०७ ई० में मेट्रिकुलेशन किया। पिता की मृत्यु के कारण अपनी पढ़ाई जारी न रख सके, लेकिन बाद में नौकरी करते हुए इन्होंने एफ० ए० और बी० ए० की परीक्षाएँ भी पास कर लीं। १९०८ ई० में मिडिल स्कूल में मास्टरी शुरू की और लगभग दस वर्ष तक कई स्थानों के स्कूलों में काम करने के बाद कलोरकोट स्कूल के हेडमास्टर बना दिये गये। बाद में कुछ स्कूल के अन्दरूनी झगड़ों और कुछ अपनी देशभक्तिपूर्ण कविताओं के आधार पर सरकारी पकड़ में आ जाने के डर से यह रावलपिंडी के कन्टोनमेंट बोर्ड मिडिल स्कूल में हेडमास्टर हो गये। १९४३ ई० में नौकरी से रिटायर हुए तो अगले साल गोर्डन कालेज रावलपिंडी में उर्दू-फ़ारसी पढ़ाने के लिए नियुक्त कर दिये गये। भारत-विभाजन के बाद दिल्ली आकर कुछ दिनों उर्दू के दैनिक 'तेज' में काम किया। इसके बाद पंजाब यूनीवर्सिटी कैम्प कालेज नयी दिल्ली में अध्यापन कार्य करने लगे।

'महरूम' ने कविता के क्षेत्र में किसी को उस्ताद नहीं किया। शुरू-शुरू में काव्य-शास्त्र का भी अध्ययन आवश्यक नहीं समझा। इनकी मातृभाषा भी पंजाबी—वह भी पश्चिमी पंजाबी—थी, उर्दू नहीं थी। फिर भी केवल काव्य-अध्ययन और स्वाभाविक प्रतिभा के बल पर उन्होंने जो भी नज़्में या ग़ज़लें कहीं, उनमें शुरू में भी काव्य-शास्त्र सम्बन्धी कोई भूल नहीं होती थी। दरअस्ल 'महरूम' अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति हैं। मेट्रिकुलेशन के बाद जब वे आगे पढ़ने के लिए लाहौर आये तो उन्होंने सम्राज्ञी नूरजहाँ का मक़बरा देखा। उस नौजवानी की उम्र में ही इस मक़बरे को देखकर उन पर ऐसा असर हुआ कि 'नूरजहाँ का मज़ार' नामक नज़्म लिख डाली, जो आज तक इनकी प्रसिद्ध नज़्मों में समझी जाती है। उन्हें जब काव्य-सर्जन का मूड आता था, तो घरबार की चिन्ता छोड़कर उसमें लग जाते थे। इसके अतिरिक्त

काव्यसाधना ऐसे स्तर पर पहुँच गयी थी कि आशु-कविता भी कर लेते थे। अक्सर ऐसा हुआ कि उन्हें कुछ देर में ही नयी नज़्म कहनी पड़ी, लेकिन ऐसे मौक़ों पर भी उन्होंने सिर्फ़ भरती की शायरी नहीं की, बल्कि वाक़ई अच्छी नज़्म कही। उनके एक पुत्र—वर्तमान युग के प्रतिभाशाली कवि जगन्नाथ 'आज़ाद'—और चार पुत्रियाँ थीं। इनमें सबसे बड़ी पुत्री ने, जब उसकी शादी हो चुकी थी और वह तीन बच्चों की माँ बन चुकी थी, ससुराल के झगड़ों से तंग आकर अपने कपड़ों में आग लगाकर आत्महत्या कर ली। इसके पहले इनकी सबसे छोटी पुत्री दो वर्ष की अवस्था में मर गयी थी। इन दोनों पुत्रियों की मृत्यु का झटका 'महरूम' को बहुत गहरा लगा और वे अधिकतर रंजीदा रहने लगे। इन दोनों की मृत्यु पर उन्होंने बड़े व्यथापूर्ण शोक-काव्य लिखे हैं। इसके बाद उनकी कविताओं में दर्द और गहरा हो गया।

उर्दू के अतिरिक्त 'महरूम' फ़ारसी में भी अत्यन्त सफलतापूर्वक कविता करते हैं।

नज़्मों के क्षेत्र में 'महरूम' को दृश्य-वर्णन में कमाल हासिल है। काव्य के प्रवाह और छंदों के ओज के कारण उनके शब्द-चित्रों में नयी जान पड़ जाती है और हृदय झूमने लगता है। साधारण प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी इस सफ़ाई से करते हैं कि नज़्मों में वे अपने वास्तविक रूप से भी अधिक आकर्षक लगने लगते हैं। अक्सर वे साधारण प्राकृतिक दृश्यों और निर्जीव पदार्थों का वर्णन करते समय नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा के पहलू भी काव्य के रस को कम किये बग़ैर सफलतापूर्वक निकाल लेते हैं। इनके अतिरिक्त धार्मिक भेद-भाव के बग़ैर भारत के कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों पर बहुत ही सुन्दर नज़्में कही हैं, जिनमें प्रवाह और प्रसाद गुण पूरी तरह मौजूद हैं। इन नज़्मों में 'ख़्वाबे-जहाँगीर', 'नूरजहाँ का मज़ार', 'मिर्ज़ा ग़ालिब', 'महात्मा बुद्ध', 'सीताजी की फ़रियाद' आदि बहुत प्रसिद्ध नज़्में हैं, जिनसे आपसी मेल-मिलाप और मानवीय गुणों की प्राप्ति का संदेश मिलता है।

ग़ज़लों के क्षेत्र में 'महरूम' की विशेषता करुणा और वेदना के भावों का चित्रण है। उनके शेरों को सुनते समय वेदना की सच्ची तसवीर आँखों के सामने फिर जाती है। मालूम होता है कि वसंत हो या पतझड़, उनकी वेदना

हर नयी चीज़ को देखकर उभरती है और प्रकृति का प्रत्येक रंग उनके हृदय के छुपे हुए घावों को कुरेदकर रख देता है। इस करुणा की मानसिक पृष्ठ-भूमि पहले बतायी जा चुकी है। उनकी समस्त रचनाओं को देखने से अन्दाज़ा होता है कि उन्हें ज़बान की सफ़ाई, वर्णन-शैली और गंभीरता का बहुत ध्यान रहता है। शालीनता और प्रौढ़ता के गुण उनकी कविता में हर जगह मिलते हैं। हृदय की सरसता और भाषा पर अधिकार होने के कारण शब्दों का उचित प्रयोग और काव्य-प्रवाह 'महरूम' की रचनाओं में हर जगह दिखाई देता है। वे अक्सर ऐसे छंदों में ही कविता करते हैं, जिनमें शब्दों की सजा-वट से अपने-आप संगीत फूटता है और काव्य का रस बहुत बढ़ जाता है।

'महरूम' के कुछ शेर उदाहरणस्वरूप देकर हम उनकी काव्य-शैली को स्पष्ट करना चाहते हैं—

है है किसी की बज़्म मुझे याद आ गयी
वाअज़ ख़ुदा के वास्ते ज़िक्रे-जिनाँ न छेड़
दुनिया में, ऐ ज़बाँ ! रविशे-सुलहे-कुल न छोड़
जिससे किसी को रंज हो ऐसा बयाँ न छेड़
हमदम ! कहीं न हसरते ख़्वाबीदा जाग उठे
अफ़्सामे-हुस्नो-इश्क़ की फिर दास्ताँ न छेड़

समझ में आया न राज़े-सनअत ज़रा भी सूरतगरे-अज़ल का
बना रहा है मिटा मिटा कर मिटा रहा है बना बना कर
अगर है मंज़ूर सरबलन्दी तो दूर नज़रों से कर बलन्दी
कि मौज शम्सो-क़मर ने पाया है सर को अपने झुका झुका कर

पहलू में दिल है दर्द की दुनिया कहें जिसे
पर इस क़दर उजाड़ कि सहरा कहें जिसे
वह रोबे-हुस्न था कि बन आयी न हमसे बात
यूँ हाले-दिल कहा कि न कहना कहें जिसे

जीस्त की दुशवारियों ने यह तो अहसाँ कर दिया
मौत सी मुश्किल को मेरे हक़ में आसाँ कर दिया

जगत मोहन लाल 'रवाँ'—चकबस्त की भाँति 'रवाँ' को भी अकाल मृत्यु ने कुछ अधिक कहने का समय न दिया, किन्तु थोड़े ही समय में उन्होंने जो कुछ कह दिया, उससे उर्दू का भंडार और भर गया। चौधरी जगत मोहन लाल १४ जनवरी १८८९ ई० को पैदा हुए थे। नौ वर्ष के ही थे कि उनके पिता चौधरी गंगा प्रसाद का देहांत हो गया। पिता के मरने पर बड़े भाई बाबू कन्हैयालाल ने इनका लालन-पालन किया। यह पढ़ाई में बड़े तेज़ थे और परीक्षाओं में हमेशा अच्छे नम्बरों से पास होते थे। 'रवाँ' ने १९१३ ई० में एम० ए० पास किया और १९१६ ई० मे वकालत पास करने के बाद उन्नाव में वकालत शुरू की। शीघ्र ही अपनी योग्यता के कारण वे उन्नाव के नामी वकीलों मे गिने जाने लगे। किन्तु मृत्यु ने शीघ्र ही आह्वान किया और अक्तूबर १९३४ ई० में इस प्रतिभाशाली कवि का देहावसान हो गया।

'रवाँ' अपनी कविताओं पर मौलाना 'अज़ीज़' लखनवी से संशोधन कराया करते थे। उनकी ग़ज़लों में 'अज़ीज़' का साफ़ प्रभाव पाया जाता है। यह अपने उस्ताद से मुहब्बत भी बहुत करते थे। ग़ज़लों में 'रवाँ' ने भाषा का बहुत ध्यान रखा है। फ़ारसी शब्द-विन्यास के साथ काव्य-प्रवाह को क़ायम रखते हुए चुने हुए और उचित शब्दों का प्रयोग इनकी विशेषता है। इसके कारण संगीत अपने आप पैदा होता है। बाज़ारू शब्दों और विचारों से 'रवाँ' को चिढ़-सी थी। उनके विचार बहुत उच्च होते थे और अर्थात्मकता तथा दार्शनिक जिज्ञासा की चकबस्त-जैसी प्रवृत्ति इनके यहाँ देखने को काफ़ी मिलती है। फिर भी तारीफ़ की बात यह है कि इससे ग़ज़लों में रूखापन नहीं आता और रस-परिपाक पूरी तरह होता है। कभी-कभी तो ऐसे बेसाख़्ता मिसरे कह जाते हैं, जिन्हें हजार बार पढ़ने पर भी नया मज़ा मिलता है।

'रवाँ' की सारी रचनाओं में एक ज़ोर और गंभीरता हर जगह पायी जाती है, जिससे हृदय और मस्तिष्क दोनों को आनन्द मिलता है। वे अपनी नज़्मों में भी ग़ज़ल की भावात्मकता ले आते हैं, जिससे प्रभाव बहुत बढ़ जाता है। नज़्मों में सफल चरित्र-चित्रण 'रवाँ' की उल्लेखनीय विशेषता है। इन्होंने

जहाँ कहीं पात्रों के भावों का वर्णन किया है, किसी तटस्थ पर्यवेक्षक की तरह नहीं, बल्कि इस तरह किया है, जैसे वे भावनाएँ इनकी अपनी ही हों। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन अत्यन्त सफल हैं और निर्जीव वस्तुओं के वर्णन में भी अपनी दार्शनिक स्तर की कल्पना द्वारा जान-सी डाल देते हैं। नज़्मों और ग़ज़लों के अलावा 'रवाँ' ने रुबाइयाँ भी अच्छी कही हैं, जिनमें दुरूह विषयों को भी कोमल उपमाओं और रूप के बल पर ऐसा सरल और आकर्षक कर दिया है कि देखते ही बनता है। उनका एक काव्य-संग्रह 'रूहे-रवाँ' है, जिसमें ग़ज़लें, नज़्में, रुबाइयाँ सभी कुछ हैं। नीचे उनकी एक ग़ज़ल के कुछ शेर उदाहरणस्वरूप दिये जा रहे हैं—

किसी तदबीर से जब जी न बहलते देखा
आशियाँ फूँक के अपना उसे जलते देखा
हैरत-अंगेज है, ऐ शमए-लहद! तेरी हयात
जल बुझी जिसके लिए उसने न जलते देखा
मेरे साक़ी तेरी महफ़िल में किसे होश आये
और वो घूँट दिये जिसको सँभलते देखा
काँटे काँटे का क़लक़ है तेरे दीवाने को
रख लिया दिल में जो तलवों से निकलते देखा
ज़ब्ते-गिरिया से यहाँ जान के लाले हैं 'रवाँ'
और वो शाकी हैं कि आँसू न निकलते देखा

: १२ :

ग़ज़ल का पुनरुत्थान

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में मौलाना अल्ताफ़ हुसेन 'हाली' और मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से नवीनता का जो आन्दोलन उठाया, उसने एक बार तो उर्दू की पुरानी शायरी की नींव हिला कर रख दी। मालूम होता था कि रामपुर और हैदराबाद के दरबारों के अलावा ग़ज़ल-गोई कहीं रह ही न जायेगी। इन दरबारों में भी 'दाग़', 'अमीर' आदि की काव्य-प्रतिभा भी बुझने वाले दिये की आख़िरी भड़क-सी लग रही थी। पश्चिमी यथार्थवाद और सामाजिकता के प्रचण्ड वेग में उर्दू गज़ल की कोमल कल्पना और वैयक्तिक चेतना के ताने-बाने टूटे जा रहे थे। प्रेम की कोमल और समर्पणवादी अनुभूतियों का स्थान साहित्य से उठता-सा मालूम होता था और उसका स्थान सामाजिक आत्म-विश्वास और कर्मक्षेत्र में डटने की उत्कट अभिलाषा लेती मालूम होती थी।

किन्तु दरअस्ल ग़ज़ल की व्यक्तिवादी चेतना का आधार इतना कमज़ोर नहीं था, जितना ऊपर से देखने पर मालूम होता था। प्रेम की भावना उतनी ही स्वाभाविक है, जितनी भूख और प्यास। कोई व्यक्ति देश-प्रेमी हो या देश-द्रोही, हिन्दू हो या मुसलमान, पुराण-पंथी हो या प्रगतिशील, हरएक को भूख, प्यास और नींद एक-सी लगती है। इसी प्रकार हरएक के हृदय में प्रेम और उसके अनिवार्य तत्त्व आत्म-समर्पण की भावना थोड़ी-बहुत मौजूद ही रहती है। फिर उर्दू काव्य के पीछे सूफ़ीवाद की वह शक्तिशाली परम्परा थी, जिसे न धार्मिक कर्मकाण्ड का पशु-बल दबा सका, न समय के प्रवाह ने जिसकी धार को कुन्द किया। कारण यह है कि सूफ़ीवादी चेतना उसी प्रकार स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जैसे कि पार्थिव जीवन की आवश्यकताओं का बोध। चेतना का इतना उच्च स्तर प्राप्त कर लेने के बाद उसे पूरी तरह छोड़ा या उसे भुलाया

नहीं जा सकता था। यहाँ यह भी बता देना जरूरी है कि मौलाना 'हाली' ने भी जिस चीज़ के विरुद्ध आवाज़ उठायी थी, वह सूफ़ीवादी कविता नहीं थी, बल्कि लखनवी शैली की वह निष्प्राण कविता थी, जिसमें चेतना का स्तर निम्न था और स्वाभाविकता का अभाव, जिसमें भोंडी कल्पना और शाब्दिक खिल-वाड़ के साथ ही निम्न कोटि की वासना का भी पुट रहता था। यद्यपि 'हाली' स्वयं सूफ़ीवाद से अधिक प्रभावित नहीं थे और उन्होंने अपनी कविता में उसकी अधिक छाप नहीं पड़ने दी, तथापि उन्होंने इसका विरोध भी नहीं किया था। वे इसका विरोध करने की बात सोच भी नहीं सकते थे।

इसीलिए सामाजिकता और यथार्थवाद का रेला भी उर्दू की सूफ़ीवादी चेतना ने ही—जो उन्नीसवीं शताब्दी में कविता के अधिकतर शाही दरबारों में क़ैद हो जाने के कारण साहित्यिक क्षेत्र से अलग हुई मालूम होती थी—सँभाला। उसने ग़ज़ल को और निखरे और सँवरे हुए रूप में सामने रखा, कविता में दार्शनिक तत्त्वों को बचाये रखा और व्यक्ति की महत्ता की बात कभी दिलों से भुलाने न दी। प्रेम की भावना को उसने भूख-प्यास जैसी पार्थिव आवश्यकताओं के स्तर पर न जाने दिया, बल्कि सर्वाधिक परिष्कृत मानवीय चेतना के रूप में उसे अक्षुण्ण बनाये रखा। सूफ़ीवादी प्रेम निस्संदेह अलौकिक और आध्यात्मिक है, किन्तु वह अपना सम्बन्ध पूर्णतः समर्पणवादी भौतिक प्रेम से भी बनाये रखता है। इसी कारण आगे चलकर सूफ़ीवादी प्रेम की निर्मलता से प्रेरित होकर आगे आनेवाले कवियों—'हसरत' मौहानी आदि—ने अपनी पार्थिव प्रेम की चेतना में इतना निखार पैदा कर दिया कि उनकी कविताएँ साहित्य की अमूल्य निधि बन गयीं। दरअस्ल 'हाली' के बाद सूफ़ीवादी चेतना के प्रसार को पुनरुत्थान (revival) नहीं, बल्कि सँभाल (survival) कहना चाहिए। इस सँभाल के अग्रणी दो कवि दिखाई देते हैं—एक तो 'शाद' अज़ीमाबादी और दूसरे 'आसी' गाज़ीपुरी। यद्यपि टेकनीक के क्षेत्र में ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं—'आसी' लखनवी शैली को अपनाते हैं, किन्तु आधारभूत चेतना इन दोनों महाकवियों की एक ही थी।

खान बहादुर नवाब अली मुहम्मद खाँ 'शाद' अज़ीमाबादी—'शाद' ही वे स्वनामधन्य कवि हैं, जिन्होंने उर्दू में 'दर्द' की परम्परा को टूटने न दिया और

बाद में जाकर जिनसे 'असग़र' गोंडवी, 'फ़ानी' बदायूनी, 'जिगर' मुरादाबादी आदि ने प्रेरणा पायी और उर्दू कविता के दामन में मोती भर दिये। शाद के पिता सय्यद अब्बास मिर्ज़ा इलाहाबाद में ही पैदा हुए थे, किन्तु चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में अज़ीमाबाद (पटना) चले गये, जहाँ १८४६ ई० में सय्यद अली मुहम्मद की पैदायश हुई। यह परिवार बहुत ज़माने से अपने विद्या-प्रेम और राजनीतिक प्रतिष्ठा के लिए प्रसिद्ध रहा है। 'शाद' की शिक्षा चार वर्ष की अवस्था से आरंभ हुई थी। प्रारंभिक पुस्तकें उन्होंने कई मौलवियों से पढ़ीं, किन्तु इनके असली गुरु अपने काल के प्रसिद्ध विद्वान् मीर सय्यद थे। उन्हीं की शिक्षा-दीक्षा में रहकर 'शाद' को उर्दू भाषा पर इतना अधिकार हो गया कि वर्तमान युग के लिए उनकी भाषा आदर्श बन गयी। अरबी-फ़ारसी की पाठ्य पुस्तकें पढ़ने के बाद एक बुज़ुर्ग के कहने पर उन्होंने थोड़ी-सी अंग्रेज़ी भी पढ़ी। फिर भी उनकी अंग्रेज़ी शिक्षा अधिक न चल सकी और वे कुछ ही समय के बाद इसे छोड़ बैठे। अरबी-फ़ारसी की शिक्षा काफ़ी ऊँची हुई।

'शाद' ने आरंभ में अपनी कविताओं का संशोधन दो सज्जनों से कराया। इनके नाम नाज़िर वज़ीर अली 'इबरती' और मौलाना मीर तसद्दुक़ हुसेन 'ज़ख्मी' थे। 'शाद' ने इन दोनों बुज़ुर्गों से साहित्य तथा काव्यशास्त्र सम्बन्धी कई पुस्तकें पढ़ीं। किन्तु काव्य-क्षेत्र में वास्तविक प्रगति अपने काव्य-गुरु सय्यद शाह उल्फ़त हुसेन 'फ़रियाद' के पथ-प्रदर्शन में की। 'फ़रियाद' ख्वाजा मीर 'दर्द' के शिष्य थे और उनकी सूफ़ीवादी प्रेम-मार्गी परम्परा में पूरी तरह रँगे हुए थे। इन्हीं के असर से 'शाद' ने सूफ़ीवादी परम्परा को इतना आगे बढ़ाया कि उसने और भावों को दबा-सा दिया।

'शाद' ने अपना सारा जीवन उर्दू साहित्य की सेवा में व्यतीत किया। ख़ानदानी कुलीनता के कारण उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त थी। सरकार ने १८९१ ई० में उन्हें 'ख़ान बहादुर' की उपाधि से सम्मानित किया। बत्तीस वर्ष तक वे आनरेरी मैजिस्ट्रेट रहे और चौदह वर्षों तक सरकार द्वारा नाम निर्देशित म्यूनिस्पिल कमिश्नर रहे। उन्हें सरकार से एक हज़ार रुपया सालाना वज़ीफ़ा मिलता रहा। इस प्रकार सम्मानपूर्वक ८१ वर्ष का जीवन व्यतीत करके शाद ने १९२७ ई० में परलोक-गमन किया।

'शाद' को धर्म और दर्शन से विशेष रूप से दिलचस्पी थी। उन्होंने इस्लामी धर्म, दर्शन, इतिहास आदि की पूर्ण शिक्षा तो प्राप्त की ही, साथ ही उन्होंने अन्य धर्मों का भी विस्तृत और गंभीर अध्ययन किया था। ईसाइयों के बाइबिल के दोनों भागों 'ओल्ड टेस्टामेंट' और 'न्यू टेस्टामेन्ट', पारसियों की 'ज़न्द' और 'पाज़न्द' तथा हिन्दुओं की गीता और रामायण का भी उन्होंने गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया था।

'शाद' के काव्य के सम्बन्ध में आलोचक-प्रवर 'नियाज़' फ़तेहपुरी की सम्मति उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं—"शाद बलिहाज़े-तग़ज़्ज़ुल बड़े मरतबे के शायर थे। उनके हाँ मीर-ओ-दर्द का सोज़ो-गुदाज़, मौमिन की नुक्ता-संजी, ग़ालिब की बुलन्द-परवाज़ी और अमीर-ओ-दाग़ की सलासत सब एक ही वक़्त में ऐसी मिली-जुली नज़र आती है कि अब ज़माना मुश्किल से ही कोई दूसरी नज़ीर पेश कर सकेगा।" उक्त सम्मति में हमें कोई संशोधन नहीं करना है। हम केवल इसकी कुछ विस्तृत व्याख्या करना चाहते हैं।

ऊपर ख़्वाजा मीर 'दर्द' की परम्परा की बात आयी है। 'दर्द' की ग़ज़लों की विशेषता का उनके प्रकरण में उल्लेख हो चुका है। इस परम्परा के सम्बन्ध में 'शाद' के शिष्य 'हमीद' अज़ीमाबादी द्वारा लिखित 'शाद' के दीवान 'मैख़ान-ए-इल्हाम' की भूमिका से एक उद्धरण देना काफ़ी समझते हैं। 'हमीद' अज़ीमाबादी लिखते हैं—

"ख़्वाजा मीर दर्द के चार मशहूर शागिर्द थे जिनकी बदौलत हिन्दुस्तान के चारों कोनों पर 'दर्द' का फ़लसफ़ए-शायरी चमका। उनमें अव्वल क़ायमुद्दीन 'क़ायम' थे जिनका असर दिल्ली से पंजाब तक पहुँचा। दूसरे मीर हसन 'हसन' थे। तीसरे ख़्वाजा मुहम्मद जान 'तपिश' जिनके ज़रिये से बंगाले और बिलख़सूस मुर्शिदाबाद में ख़्वाजा 'दर्द' की शायरी फैली और उनके फ़लसफ़ए इख़लाक़ ने रिवाज पकड़ा। चौथे हज़रत 'अश्की' थे जिनके क़दमों की बरकत से बिहार, ख़सूसन अज़ीमाबाद, 'दर्द' के रंग से दर्द-आश्ना हुआ। हज़रते अश्की का यह रंग बिहार और अज़ीमाबाद में बहुत जल्द दायर-ओ-सायर हो गया क्योंकि हज़रते-'रासिख़' अज़ीमाबादी जो रंग यहाँ छोड़ गये थे यहाँ के

अहले-होश उसी रंग में रँगे हुए नज़र आते थे। 'शाद' ब-यक-वास्ता* हज़रते-अश्की के शागिर्द और ख्वाजा 'दर्द' के स्कूल के जय्यद तालिबुलइल्म थे। उनके कलाम में भी वही असर नज़र आता है जो 'दर्द' के मदरसे के तुलवा का तुर्रए-इम्तियाज़ था। लेकिन कहीं-कहीं उनका कलाम उस लखनवी मज़ाक़ से भी मुतअस्सर नज़र आता है जो उस वक़्त अवध में रायज था। जब मीर 'अनीस' मग़फ़ूर अज़ीमाबाद आये तो 'शाद' पर उनकी शायरी और ख़सूसन उस फ़लसफ़े का असर पड़ा जो 'अनीस' के बे-मिस्ल सलामों में पाया जाता था। इससे असर-पिज़ीर होकर 'शाद' ने उन चीज़ों को अपने हाँ दाख़िल करके अपने फ़लसफ़ए-शायरी की एक ऐसी मुस्तह्कम बुनियाद रखी जो उस वक़्त मुब्तज़ल शायरी को रौंदने वाली थी। मरहूम का यह रंग १८९८ ई० के बाद से शुरू होकर १९२६ ई० तक एक तरह क़ायम रहा।"

'शाद' के काव्य पर आन्तरिक रूप से तो ख्वाजा मीर 'दर्द' के सूफ़ीवादी प्रेम मार्ग का पूरा प्रभाव था, जिसके साथ ही प्राचीन भारतीय तथा अन्य ग़ैर-इस्लामी दर्शनों का भी पुट रहता था, किन्तु भाषा और शैली के बारे में अगर उन्हें पूरी तरह मीर 'अनीस' का अनुयायी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। 'अनीस' की शैली की विशेषता भाषा की सादगी, सफ़ाई और घुलावट है। मुहावराबन्दी, रोज़मर्रा की भाषा और अभिव्यक्ति की स्थानीयता उनके काव्य को अत्यन्त प्रभावपूर्ण बना देती है। 'अनीस' की इन्हीं विशेषताओं को 'शाद' ने पूरे तौर पर ग़ज़लों में पैदा कर दिया और यही उनकी उर्दू कविता को ऐसी देन है, जिसके कारण बीसवीं शताब्दी की ग़ज़ल-गोई में वे पथप्रदर्शक के रूप में रहे हैं और रहेंगे। 'अनीस' का प्रभाव उनकी ग़ज़लों तक ही सीमित हो, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने 'अनीस' के रंग में मरसिये भी ज़ोरदार कहे हैं और उनके मरसिये काफ़ी मशहूर भी हैं। फिर भी मरसियों में उनका वह नाम न हो सका, जो ग़ज़लों में है। इसका कारण स्पष्ट है। मरसियों में उन्होंने जो विशेषताएँ दिखायीं, वे 'अनीस' पहले ही दिखा चुके थे। मरसियों में यही कहा जा सकता

---

*'शाद' के उस्ताद हज़रत शाह उल्फ़त हुसेन साहब 'फ़रियाद' अज़ीमाबाद 'दर्द' के निधन के बाद उनके शिष्य 'अश्की' से काव्य संशोधन कराने लगे थे।

है कि वे उन थोड़े-से लोगों में थे जो 'अनीस' के बनाये हुए मार्ग पर सफलता-पूर्वक चल सके। किन्तु इतनी ही विशेषता किसी को किसी क्षेत्र में प्रमुख स्थान दिलाने में समर्थ नहीं हो सकती। हाँ, ग़ज़लों में उन्होंने जो नयी राह निकाली और जिस तरह 'दर्द' की भावनात्मक उच्चता को 'अनीस' के भाषा-सौष्ठव के साथ जोड़ दिया, वह अपनी जगह बे-जोड़ चीज़ है और उर्दू काव्य संसार इसके लिए 'शाद' अज़ीमाबादी का सदैव ऋणी रहेगा।

'शाद' की भाषा के बारे में यह कह देना भी ज़रूरी है कि यद्यपि वे देशज मुहावरेदार और सरल शैली के पक्षपाती हैं, फिर भी जहाँ कहीं सूफ़ीवादी दर्शन की काव्य में व्याख्या करने लगते है, वहाँ सरलता से काम नहीं लेते, बल्कि पूरे के पूरे मिसरे अरबी और फ़ारसी के लिख जाते हैं। ऐसे अवसरों पर 'दर्द' की याद आती है, जो गूढ़तम और गहनतम दार्शनिक समस्याओं को अत्यन्त सफलता-पूर्वक सरलतम भाषा और शैली में कह जाते थे। फिर भी ऐसे दुरूह स्थल 'शाद' की कविता में कम ही हैं और उनकी शैली साधारणतः दुरूह नहीं कही जा सकती।

एक बात और भी कह देना आवश्यक मालूम होता है। 'शाद' अज़ीमाबादी बीसवीं और उन्नीसवीं शताब्दी की ग़ज़ल-गोई को जोड़ने वाली कड़ी का काम करते हैं। यद्यपि उनके यहाँ उन्नीसवीं शताब्दी की उच्छृंखलता नहीं दिखाई देती, फिर भी उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ प्रतीकों—बन्द, क़बा, लटपटी दस्तार, कान के मोती, क़ब्र पर ख़ुशजमालों की भीड़ आदि—का उन्हें बहुत मोह हैं, यद्यपि उनके ज़माने में ही ये पुराने प्रतीक काफ़ी छूट गये थे। प्रियतम के हाथों प्रेमी की हत्या का विषय, जिससे आजकल सभी चिढ़ते हैं, उन्हें इतना प्रिय है कि लगभग हर ग़ज़ल में एक आध शेर इस मज़मून का भी आ जाता है। साथ ही साथ उन्होंने कई नये विषय इस अछूते अन्दाज़ से पेश किये हैं, जो उन्नीसवीं शताब्दी के बड़े से बड़े उस्ताद के लिए असंभव था। इस प्रकार 'शाद' को किसी काल के साथ बाँधा नहीं जा सकता।

नीचे 'शाद' के कुछ शेर उदाहरण-स्वरूप दिये जा रहे हैं, ताकि उनकी भाषा और शैली का अन्दाज़ा हो सके—

बुलाया कोह पर शीरीं को ऐ फ़रहाद क्या कहना
बड़े पत्थर को पानी कर दिया, उस्ताद क्या कहना !
तेरी मज़मूं-निगारी, नुक्ता-संजी 'शाद' क्या कहना
बनाये सैकड़ों उस्ताद, ऐ उस्ताद क्या कहना

नज़र मिलायी नज़र से कि दिल पे आयी चोट
दिखायी तूने किधर और किधर लगायी चोट
दिल अपना सीने में रह रह के गुदगुदाने लगा
किसी ख़याल से हमने अगर छुपायी चोट

न ख़ुशी से ख़ुश है न ग़म से ख़ुश, न मकां से ख़ुश न मकीं से ख़ुश
तो ख़ुदा ने हमको दिया है दिल कि न आसमां न ज़मीं से ख़ुश
इसी सोच में हूँ पड़ा हुआ कि वजूद के हैं हदूद क्या
मुझे दिल मिला भी तो वह मिला कि यहीं से ख़ुश न वहीं से ख़ुश
तुम्हें 'शाद' चाहिए अब यही न पड़ो गुमान के फेर में
कि ज़माने भर में हरएक है फ़क़त अपने दिल के यक़ीं से ख़ुश

उठती जवानी, उज़्वे-मुनासिब साँवली रंगत हाय सितम !
आँखें रसीली, बातें भोली, चाल क़यामत हाय सितम !
बुअदे-मुसाफ़त, रात अँधेरी, शमअ न मिशअल, मैं तनहा
ज़ोफ़ से गिरना, साँस का चढ़ना, शिद्दते-वहशत हाय सितम !

असीरे-जिस्म हूँ, मेयादे-क़ैद ला-मालूम
ये किस गुनाह की पादाश है ख़ुदा मालूम
सफ़र ज़रूर है और उज़्र की मजाल नहीं
मज़ा तो यह है कि मंज़िल न रास्ता मालूम
सुनी हिकायते-हस्ती तो दरमियाँ से सुनी
न इब्तदा की ख़बर है न इन्तहा मालूम

तलब करें भी तो क्या शै तलब करें ऐ 'शाद'
हमें तो आप नहीं अपना मुद्दआ मालूम

शाह अब्दुल अलीम 'आसी' ग़ाज़ीपुरी—'आसी' एक सूफ़ी फ़क़ीर थे। इनके जीवन के बारे में विस्तृत रूप से कहीं कुछ नही मिलता। इनके जन्म का समय भी हमें ज्ञात नहीं हो सका है। अभी तक इनकी रचनाएँ भी संग्रह के रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी हैं। सिर्फ़ इतना मालूम हुआ है कि कविता में यह लखनवी शैली के अनुगामी थे। इनका देहावसान १९१७ ई० में हुआ।

'आसी' के काव्य में सूफ़ीवादी चेतना पूरी तरह से उभरी है। फिर भी 'शाद' की शैली से उनकी शैली एकदम भिन्न है। 'शाद' के शेर दर्द में डूबे होते हैं, 'आसी' मस्ती में नारे मारते हैं। मस्ती का जो स्तर बाद में 'असग़र' गोंडवी ने क़ायम किया था—यानी पूर्णतः आध्यात्मिक मस्ती—उसकी भी 'आसी' परवा नहीं करते। वे लखनऊ के नासिख़ स्कूल के अनुयायी थे, इसलिए उन्होंने शुद्ध आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी इस तरह भौतिक प्रेम के प्रतीकों में व्यक्त की हैं कि कभी-कभी उनमें अश्लीलत्व दोष भी थोड़ा-बहुत आ जाता है। प्रियतम का नख-शिख वर्णन भी वे कर दिया करते हैं। भाषा के बारे में उनमें और 'शाद' में कोई विशेष अन्तर नहीं मालूम होता, सिवाय इसके कि 'आसी' पूर्णतः लखनवी भाषा बोलते हैं और 'शाद' लखनऊ या दिल्ली कहीं की भाषा से बँधे नहीं दिखाई देते।

नीचे 'आसी' की ग़ज़लों के कुछ शेर नमूने के तौर पर उद्धृत किये जाते हैं—

कोई तो पी के निकलेगा, उड़ेगी कुछ तो बू मुँह से
दरे - पीरे - मुग़ाँ, पर मै - परस्तो! चलके बिस्तर हो
किसी के दर पे 'आसी' रात यह रो रो के कहता था
कि आख़िर मैं तुम्हारा बन्दा हूँ तुम बन्दा - परवर हो

जो रहो और कोई दम यही हालत दिल की
आज है पहलुए - ग़मनाक से रुख़सत दिल की
घर छुटा शहर छुटा, कूचए - दिल्दार छुटा
कोहो - सहरा में लिये फिरती है वहशत दिल की

इतने बुतख़ानों में सजदे एक काबे के इवज़
कुफ़्र तो इस्लाम से बढ़कर तेरा गिरवीदा है
हश्र में कहना किसी का फेर कर मुँह हाय हाय
'आसी' - ए - गुस्ताख़ का हर जुर्म ना - बख़्शीदा है

वहाँ पहुँच के ये कहना सबा सलाम के बाद
कि तेरे नाम की रट है ख़ुदा के नाम के बाद
वहाँ भी वादए - दीदार इस तरह टाला
कि ख़ास लोग तलब होंगे बारे - आम के बाद

इश्क़ कहता है कि आलम से जुदा हो जाओ
हुस्न कहता है जिधर जाओ नया आलम है

इतना तो जानते हैं कि आशिक़ फ़ना हुआ
और इससे आगे बढ़के ख़ुदा जाने क्या हुआ

अकबर, इक़बाल और चकबस्त के नव संदेशों के काल ही उर्दू ग़ज़ल के पुनरुत्थान की पूरी चेष्टा होने लगी थी और हाली तथा आज़ाद के गंभीर आरोपों का उत्तर देने के लिए ग़ज़ल ने अपने को फिर सँभाल लिया। इस पुनरुत्थान की एक प्रमुख धारा सूफ़ीवाद का आधार लेकर बही और उसने ग़ज़ल को फिर पुरानी प्रतिष्ठा दिला दी। शाद अज़ीमाबादी से प्रेरणा पाकर हसरत मौहानी, फ़ानी बदायूनी, असग़र गोंडवी और ग़ालिब से प्रेरणा पाकर यगाना चंगेज़ी ने ग़ज़ल में नयी राहें खोल दीं। आगे इनका संक्षिप्त उल्लेख होगा।

फ़ज़लुल हसन 'हसरत' मौहानी—मौलाना हसरत की ख्याति राजनीतिक और साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में हुई और यद्यपि वे किसी भी क्षेत्र में प्रथम पंक्ति के नेताओं में न आ सके, तथापि उनके व्यक्तित्व के निरालेपन ने दोनों क्षेत्रों में उनकी धाक बिठा दी, और उनका स्थान सदा के लिए सुरक्षित कर दिया।

मौलाना फ़ज़लुल हसन हसरत का पैतृक आवास तो ज़िला फ़तेहपुर हसवा के किसी गाँव में था, किन्तु उनका जन्म और लालन-पालन तथा शिक्षा-दीक्षा उनकी ननिहाल ज़िला उन्नाव के क़स्बे मौहान में हुई थी। उनका जन्म १८७५

ई० में हुआ था। ननिहाल वाले खाते-पीते ज़मींदार थे, उन्होंने पाँच-छः वर्ष स्थानीय मकतब में शिक्षा दिलाने के बाद ११ वर्ष की अवस्था में अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए अलीगढ़ के मुस्लिम कालेज में भेज दिया। यहीं पर उन्होंने राजनीति और साहित्य दोनों से ऐसा नाता जोड़ा जो अंत तक नहीं टूटा।

१८९५ ई० में बी० ए० पास करके वे मौहान लौटे और अगले वर्ष लखनऊ चले गये। बहाँ वे साहित्य-साधना में लग गये। वे कविता में 'तसलीम' लखनवी के शागिर्द हो गये। 'तसलीम' 'मोमिन' के शिष्य 'नसीम' देहलवी के शिष्य थे। इस प्रकार मोमिन की परम्परा में एक और मज़बूत कड़ी जुड़ गयी।

लखनऊ में कुछ दिन रहने के बाद 'हसरत' फिर अलीगढ़ आ गये, क्योंकि लखनऊ का जीवन उनके लिए निष्क्रिय सिद्ध हो रहा था। जीविकोपार्जन का प्रश्न भी उनके सामने था। सरकारी नौकरी की उन्होंने बात ही नहीं सोची। एक बार उन्हें जजी का लालच दिया गया था, लेकिन उन्होंने उसे ठुकरा दिया। साहित्य को ही उन्होंने जीविका का साधन बनाया। किसी तरह एक प्रेस ख़रीदा और अपना साहित्यिक मासिक पत्र 'उर्दूए-मुअल्ला' निकालने लगे। इस काम में उन्हें उनकी धर्मपत्नी से, जो स्वयं भी लेखिका और आलोचिका थीं, बड़ी सहायता मिली। इसी अरसे में उन्होंने चमड़े का भी व्यापार किया, किन्तु शीघ्र ही उसे छोड़ दिया। साथ ही उन्होंने ब्रिटिश-विरोधी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया और सबसे पहले जेल जाने वाले राजनीतिज्ञों में हसरत का नाम प्रमुख हो गया। सरकार ने जेल में और बाहर भी उन पर बड़ी सख़्तियाँ कीं, लेकिन 'हसरत' अपनी धुन के पक्के थे। उन्हें कई बार जेल जाना पड़ा, उनकी काव्य-रचना अधिकतर जल में ही हुई। किन्तु असहयोग आन्दोलन की असफलता के बाद साम्प्रदायिक तनातनी के वातावरण में वे मुस्लिम लीग में शामिल हो गये। फिर भी मुस्लिम लीग में उन्होंने वामपक्षीय उग्रवाद का झंडा हमेशा ऊँचा रखा और इसी कारण वे मि० जिन्ना तथा अन्य प्रतिक्रिया-वादियों की निगाहों में उठ न सके। इस शताब्दी के चौथे दशक में वे अलीगढ़ से कानपुर आ गये। यहाँ उनकी बेगम और पुत्री का देहांत हो गया। पाकिस्तान बनने के बाद भी मौलाना भारत में ही रहे और मुसलमानों तथा किसान मज़दूरों के लिए राजनीतिक सेवाएँ करते रहे। १३ मई १९५१ ई० को लखनऊ में

उनका देहान्त हुआ और उन्हें उनके इच्छानुसार उनके धर्मगुरु की क़ब्र की पाँयती की ओर दफ़्न किया गया।

मौलाना 'हसरत' के काव्य को देखकर कुछ लोगों को आश्चर्य होता है कि यद्यपि उनका जीवन क्रान्तिकारी था, तथापि उन्होंने साहित्य में केवल शृंगार का सहारा पकड़ा है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उनका शृंगारमय साहित्य उनके तूफ़ानी राजनीतिक जीवन की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। साहित्यिक दृष्टि से ध्यान देने की बात यह नहीं है कि उन्होंने क्या लिखा, महत्त्व इसी का है कि उन्होंने जो कुछ लिखा, वह कैसा लिखा। पहले ही कहा जा चुका है कि मौलाना 'हसरत' मोमिन की परम्परा के पृष्ठपोषक थे। यह परम्परा एक ओर तो लखनवी कविता के बेजान आकारवाद से अपना दामन बचाये थी और दूसरी ओर सूफ़ीवाद की दार्शनिक उड़ान से। मौलाना खुद सूफ़ी थे और उनके शेरों में कहीं-कहीं इसका असर साफ़ दिखाई देता है। फिर भी उनके साहित्य की प्रेरक-शक्ति दर्शन नहीं, बल्कि संवेदना थी। मोमिन की तरह वे भी वास्तविक सांसारिक प्रेम के जीते-जागते और तड़पते हुए चित्र पेश करते थे। यहाँ तक कि वे कभी-कभी रक़ीब (प्रेम-प्रतिद्वंद्वी) का भी उल्लेख करने लगते थे जो कि आधुनिक रुचि के विपरीत है। फिर भी उनके चित्र इतने सजीव और वास्तविक होते हैं कि उनमें प्रेम-पात्र के पद पर हमें उर्दू के परम्परा-वादी क्रूर और निष्ठुर पुरुष प्रियतम के स्थान पर आरंभिक बीसवीं शताब्दी की मध्यवर्गीय किशोरिकाओं के दर्शन होते हैं जो लज्जावश और समाजभय से प्रेम का प्रतिदान खुल कर तो नहीं कर सकतीं, किन्तु अपने हृदय में भी प्रेम की कसक का अनुभव करती हैं और लुकाछिपी करके कभी-कभी प्रेमी से मिल भी लेती हैं।

'हसरत' की दूसरी विशेषता यह है कि वास्तविक प्रेम के चित्रण के बावजूद उनके यहाँ शालीनता और सुथरापन बराबर रहता है, छिछोरापन कभी देखने को नहीं मिलता। यहाँ तक कि प्रेमिका को उपालंभ भी देते हैं तो उसमें भी उसकी और अपनी मर्य्यादा का पूरा ध्यान रखते हैं।

'हसरत' बहुत शीघ्र लिखने वाले थे। राजनीतिक जीवन की व्यस्तता के कारण उन्हें लिखने का अवसर कम मिला। फिर भी तेरह दीवान और लगभग

एक दर्जन आलोचना पुस्तकें उनके ज्ञान की विशालता और अनुभूति की तीव्रता की परिचायक हैं। निम्नलिखित शेरों से उनकी रचनाओं का नमूना मालूम होगा—

शबे-फ़ुरक़त में याद उस बेख़बर की बार बार आयी
भुलाना हमने भी चाहा मगर बे-इख़्तियार आयी
इलाही रंग यह कब तक रहेगा हिज्रे-जानाँ में
कि रोज़े-बेदिली गुज़रा तो शामे-इन्तज़ार आयी

दिल ग़म से जो कहता है मुहब्बत का बुरा हो
ऐसे में तेरी याद जो आ जाये तो क्या हो
पास आओ तो कुछ दिल की तपिश और सिवा हो
हरचन्द कि तुम दर्दे-जुदाई की दवा हो

निगाहे-यार जिसे आशनाए-राज़ करे
वो अपनी ख़ूबी-ए-क़िस्मत पे क्यों न नाज़ करे
दिलों को फ़िक्रे-दो आलम से कर दिया आज़ाद
तेरे जुनूँ का ख़ुदा सिलसिला दराज़ करे
तेरे करम का सज़ावार तो नहीं 'हसरत'
अब आगे तेरी ख़ुशी है जो सरफ़राज़ करे

मिर्ज़ा वाजिद हुसेन 'यगाना' चंगेज़ी—मिर्ज़ा वाजिद हुसेन जो पहले 'यास' तख़ल्लुस करते थे और बाद में 'यगाना' हो गये, यद्यपि 'शाद' अज़ीमाबादी के शागिर्द थे तथापि उनकी सूफ़ीवादी परम्परा से हटकर 'ग़ालिब' की स्वतन्त्र चिन्तन की परम्परा में उसी प्रकार चले गये, जैसे 'नसीम' 'आतिश' के शिष्य होते हुए भी 'नासिख़' की परम्परा में चले गये थे। उर्दू ग़ज़ल को हसरत मौहानी के साथ मिलकर इन्होंने भी सँभाला दिया, किन्तु इनकी काव्य-चेतना 'हसरत' की दिशा के विपरीत थी। हसरत दार्शनिकता की उपेक्षा करके संवेदना को ही आधार बनाये थे और वास्तविक प्रेम के जीते-जागते चित्र उपस्थित करते थे, 'यगाना' को वास्तविक और भौतिक प्रेम से कोई सरोकार

नहीं, उनका प्रियतम कोई व्यक्ति न होकर सौन्दर्य मात्र है। इस प्रकार उनकी चेतना ऊँची ज़रूर उठी है,किन्तु जीवन और उसकी संवेदनाओं का नहीं, बल्कि भावनात्मक चिन्तन की आलौकिक स्थितियों का ही चित्रण कर सकी है।

मिर्ज़ा वाजिद हुसेन १८८४ ई० में पटना के मुहल्ला मुग़ल पुरा में पैदा हुए। शिक्षा-दीक्षा पटना में ही हुई और वहीं कविता में पहले 'बेताब' और फिर 'शाद' अज़ीमाबादी के शिष्य हो गये। १९०३ ई० में उन्होंने मेट्रिक पास किया और दूसरे साल मटिया बुर्ज और कलकत्ता गये। वहाँ सख़्त बीमार पड़े। इलाज के लिए दूसरे वर्ष लखनऊ आये तो यहीं के हो रहे और शादी करके बस गये। लखनऊ में उन्होंने तत्कालीन प्रचलित निराशावादी कविता के विरुद्ध जिहाद बोल दिया। इस पर लखनऊ के जमे हुए उस्ताद बिगड़ खड़े हुए। 'यगाना' ने, जो उस समय 'यास' के नाम से कविता करते थे, एक साहित्यिक पत्र भी निकाला और विरोधियों का डटकर मुक़ाबिला किया। जैसा कि ऐसी बहसों में हमेशा होता है, बात सिद्धांतों से उतर कर व्यक्तियों पर आ गयी और 'यगाना' साहब पर इस निरन्तर विरोध की ऐसी विचित्र प्रतिक्रिया हुई कि जिन 'ग़ालिब' से उन्होंने प्रेरणा ली थी, उन्हीं को अब गालियाँ देकर अपने से नीचा ठहराने लगे। कटुता बहुत बढ़ी तो लाहौर चले गये और मौलाना ताजवर नजीबाबादी के साथ साहित्य-सेवा करने लगे। वहाँ भी इनकी अपने स्वभाव के कारण पंजाबियों से न पटी और फिर लखनऊ आ गये। कुछ दिन बाद महाराजा सर किशन प्रसाद ने इन्हें हैदराबाद बुला लिया। वे वहाँ किसी ज़िले में सब-रजिस्ट्रार हो गये। रिटायर होकर फिर लखनऊ में आ गये, लेकिन लखनऊ वालों ने अब भी उन्हें क्षमा न किया और एक बार धर्म का बहाना लेकर सरेबाज़ार इनका घोर अपमान किया और अपने मुँह पर कालिख लगा ली। अंत में सत्तर वर्ष की अवस्था में मिर्ज़ा यगाना का लखनऊ में देहावसान हो गया।

मिर्ज़ा 'यगाना' के तीन कविता-संग्रह हैं—'निश्तरे-यास', 'गंजीना' और 'आयाते-विजदानी'। आपके कलाम का नमूना निम्नलिखित है—

किसी के हो रहो; अच्छी नहीं ये आज़ादी
किसी की ज़ुल्फ़ से लाज़िम है सिलसिला दिल का

आह ! ये बन्दए-ग़रीब आप से लौ लगाये क्यों
आ न सके जो वक़्त पर वक़्त पे याद आये क्यों

इतना तो जिन्दगी का कोई हक़ अदा करे
दीवाना वार हाल पे अपने हँसा करे

शौकत अली ख़ाँ 'फ़ानी' बदायूनी—करुणा के क्षेत्र में 'फ़ानी' बदायूनी से आगे बढ़ा हुआ कवि शायद ही कोई हो। 'ज़फ़र' की करुणा सीमित है और 'मीर' की करुणा अपने अन्दर महान् आत्म-सम्मान लिये है, किन्तु 'फ़ानी' की करुणा नितान्त करुणा है। इस दृष्टि से वे अपने ढंग के एकमात्र शायर हैं।

इनके पूर्वज काबुल के रहने वाले थे। शाह आलम के समय में इनके पूर्वज नवाब बशारत ख़ाँ भारत आये और उन्हें बदायूँ की गवर्नरी मिल गयी। ग़दर में अँगरेज़ों ने इनकी जागीर ज़ब्त कर ली और इनके पिता मुहम्मद शुजाअत अली ख़ाँ को पुलिस इंस्पेक्टरी करनी पड़ी। शौकतअली ख़ाँ का जन्म १३ सितम्बर १८७९ ई० को बदायूँ में हुआ था। उन्होंने बदायूँ से एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की। १९०१ ई० में म्योर सेन्ट्रल कालेज इलाहाबाद से उन्होंने बी० ए० पास किया। कविता की ओर बचपन से ही रुचि थी। दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने उस ज़माने के सर्वश्रेष्ठ कवि 'दाग़' के पास संशोधनार्थ अपनी कुछ ग़ज़लें भेजीं। इनके पिता को कविता से चिढ़ थी। उन्हें मालूम हुआ तो इनकी ख़ूब पिटाई की गयी। फलतः 'दाग़' की शागिर्दी ख़त्म हो गयी। पिता ने ही ज़ोर देकर इन्हें वकालत पढ़ने के लिए विवश किया। इनकी स्वाभाविक रुचि वकालत की ओर नहीं थी, इसीलिए दो दो कालेजों—म्योर सेन्ट्रल कालेज इलाहाबाद और अलीगढ़ के मुस्लिम कालेज—में उन्होंने वकालत का दो वर्ष का कोर्स सात वर्ष में पूरा किया और १९०८ ई० में एल-एल० बी० की परीक्षा पास की। इस अरसे में इनका कविता का 'मरज़' भी क़ायम रहा। शायद इसी कारण परीक्षाओं में असफल होते रहे। घरवालों का विरोध बहुत बढ़ा तो १९०६ ई० में कविता करना बिलकुल छोड़ दिया और तनमन से अपने पेशे की तय्यारी में लग गये। कुछ दिनों बदायूँ और बरेली में प्रेक्टिस

करने के बाद लखनऊ आ गये और १९२३ ई० तक यहाँ वकालत की। लेकिन मालूम होता है कि तक़दीर ने ही उन्हें वकालत के लायक़ नहीं बनाया था। इसके बाद वे आगरे चले गये, जहाँ प्रेक्टिस के साथ ही उन्होंने एक अन्य साहित्य-कार 'मानी' के साथ मिलकर एक साहित्यिक पत्रिका 'तसनीम' निकालने का आयोजन किया, किन्तु 'फ़ानी' की आगरे की वकालत भी असफल रही और 'तसनीम' भी शीघ्र ही बन्द हो गयी।

अन्त में १९३२ ई० में हैदराबाद के दीवान महाराजा सर किशन परशाद 'शाद' ने उन्हें हैदराबाद बुला लिया। वहाँ भी उन्हें वहाँ की प्रान्तीय भावना के कारण बड़ी परेशानी उठानी पड़ी। बड़ी मुश्किल से उन्हें वहाँ के एक हाई स्कूल की हेडमास्टरी नसीब हुई। यद्यपि उनकी ख्याति को देखते हुए यह नौकरी कुछ भी न थी, लेकिन मजबूरी की मार बुरी होती है। 'फ़ानी' को यह अपमान-जनक नौकरी भी करनी पड़ी। इस पर भी दुर्भाग्य ने उनका पीछा न छोड़ा। मरने के कुछ दिनों पूर्व उन्हे इस नौकरी से भी अलग कर दिया गया था। अन्त में २६ अगस्त १९४० ई० को 'फ़ानी' ने इस निष्ठुर संसार से विदा ली और भगवान् के आश्रय में चले गये।

'फ़ानी' ने पहली ग़ज़ल १८९० ई० में लिखी थी। बीस वर्ष की अवस्था तक दीवान पूरा हो गया था। १९०६ ई० तक दूसरा दीवान भी हो गया था। लेकिन यह दोनों दीवान खो गये। इसके बाद १९१७ ई० तक उन्होंने कविता करना छोड़ दिया था। फिर लिखना शुरू किया तो पहला दीवान तीन-चार वर्ष में पूरा हो गया, और बदायूँ से छपा। दूसरा दीवान 'बाक़ियाते-फ़ानी' १९२६ ई० में और अंतिम संग्रह 'विजदानियात' १९४० ई० में छपा। तीनों उपलब्ध दीवानों का एक कुल्लियात भी छप गया है और बाज़ार में उपलब्ध है।

'फ़ानी' को यासियात का इमाम यानी निराशावाद का कवि कहा गया है। दरअस्ल देखिए तो 'फ़ानी' निराशावादी जरूर हैं, किन्तु उनकी निराशा साधारण निराशा नहीं है। कुछ आलोचकों ने 'फ़ानी' के जीवन की आर्थिक असफलताओं और पारिवारिक दुखों (लखनऊ में ही उनकी पत्नी और पुत्री का देहान्त हो गया था) में उनके निराशावाद के कारण ढूंढ़ने की चेष्टा की है। स्पष्टतः ही इन असफलताओं और दुखों का 'फ़ानी' की निराशा से कोई सम्बन्ध नहीं है।

सांसारिक कष्ट अगर किसी में निराशा पैदा करते हैं तो उसके साथ ही कटुता भी पैदा कर देते हैं (जैसा 'यगाना' चंगेज़ी के साथ हुआ)। लेकिन 'फ़ानी' में इस कटुता के दर्शन कहीं नहीं होते। उनमें कोमलता अन्त तक रहती है। दरअस्ल 'फ़ानी' की निराशा का आधार वह सूफ़ीवादी परम्परा है, जो संसार को बिलकुल असार ही नहीं, अस्तित्वहीन समझने की भी प्रेरणा देती है। इसी प्रेरणा ने 'फानी' की निराशाप्रद मानसिक पृष्ठभूमि में (जो उनके बचपन से उनके साथ लगी हुई थी) आकर घोर निराशा का रूप ले लिया, साथ ही अपनी कोमलता भी नहीं खोयी।

'फ़ानी' के प्रथम दो दीवान नष्ट हो गये हैं, इसलिए उनकी चेतना के विकास की छानबीन नहीं की जा सकती। उपलब्ध रचनाएँ उनकी मानसिक परिपक्वता के समय की हैं और उनमें हर जगह हमवारी है। 'फानी' का प्रियतम सूफ़ियों का परमेश्वर ही है, इस बात का उन्होंने अपनी ग़ज़लों में हर जगह संकेत दिया है। किन्तु उस प्रियतम की कृपा उनपर इसी रूप में हुई है कि उन्हें अथाह दुख दे दिया है, यहाँ तक कि उन्हें जीवन ही भार नहीं लगने लगा है, मौत भी बेकार-सी चीज़ लगने लगी है।

भाषा और अभिव्यक्ति के क्षेत्र में 'फ़ानी' की रचनाएँ उर्दू की श्रेष्ठतम रचनाओं में रखी जा सकती हैं। कभी-कभी वे ज़रूर अत्यधिक फ़ारसी शब्द और शब्द-विन्यास ले आये हैं, वरना अधिकतर उनकी कविताओं में कोमलता, सरलता और प्रवाह अपने अत्यन्त ललित रूप में देखने को मिलते हैं। कभी-कभी वे अनुभूति की तीव्रता में 'ग़ालिब' की सी उलझी भाषा भी बोलने लगते हैं, किन्तु बहुत कम।

निम्नलिखित उदाहरणों से 'फ़ानी' के रंग का पता चल सकता है—

ग़म के टहोके कुछ हों बला से, आके जगा तो जाते हैं
हम हैं मगर वह नींद के माते जागते ही सो जाते हैं

ज़ब्त अपना शुआर था, न रहा
दिल पे कुछ इख़्तियार था, न रहा

उनकी बे-मेह्रियों को क्या मालूम
कोई उम्मीदवार था, न रहा
मेह्रबाँ! यह मज़ारे-'फ़ानी' है
आपका जाँनिसार था न रहा

मआले-सोज़े-ग़महाए-निहानी देखते जाओ
भड़क उट्ठी है शमए-ज़िन्दगानी देखते जाओ
सुने जाते न थे तुमसे मेरे दिन रात के शिकवे
कफ़न सरकाओ, मेरी बेज़बानी देखते जाओ

असग़र हुसेन 'असग़र' गोंडवी—'असग़र' की ख्याति उर्दू के साहित्यिक क्षेत्रों मे जितनी अधिक है, जनसाधारण में उतनी ही कम। फिर भी अगर और बातों को छोड़ दिया जाये तो भी सिर्फ़ इतनी ही बात काव्य-संसार में उन्हें अमर कर देने के लिए काफ़ी है कि 'जिगर' मुरादाबादी-जैसे लोकप्रिय कवि ने उन्हीं की कविताओं से प्रेरणा ली है और उन्ही के रास्ते पर और आगे बढ़कर उर्दू काव्य की चेतना को एक नयी दिशा दी। 'जिगर' 'असग़र' का गुरु से अधिक सम्मान करते हैं, यद्यपि उनके शिष्य नही थे।

'असग़र' के पूर्वज ज़िला गोरखपुर के रहने वाले थे। किन्तु उनके पिता गोंडा में क़ानूनगो थे और पेन्शिन लेने के बाद भी वहीं बस गये थे। इस लम्बे आवास के कारण ही 'असग़र' ने भी अपने को गोंडवी कहना शुरू कर दिया। उनका जन्म १ मार्च १८८४ ई० को हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा अत्यन्त साधारण और अस्थायी रूप से हुई थी। इसका कारण परिवार का प्राचीनतावादी दृष्टिकोण और आर्थिक परेशानियाँ थी। कुछ दिनों अंग्रेज़ी स्कूल में शिक्षा पायी, लेकिन उसे जल्दी ही छोड़ना पड़ा। एन्ट्रेन्स की परीक्षा की भी तय्यारी की, किन्तु पारिवारिक उलझनों के कारण इम्तहान न दे सके। फिर भी जन्मजात प्रतिभा के बलपर इतनी योग्यता पैदा कर ली कि अंग्रेज़ी की पुस्तकें अच्छी तरह पढ़ने लगे। फ़ारसी की शिक्षा का भी यही हाल रहा, फ़ारसी-अरबी अच्छी ख़ासी जानते थे, लेकिन उसकी भी व्यवस्थित रूप से शिक्षा नहीं

हुई, केवल स्वाध्याय के बल पर ही वह बात पैदा कर ली जो बाक़ायदा पढ़ लिख-कर लोग कर पाते हैं।

आर्थिक कारणों से 'असग़र' ने पहले चश्मे का कारोबार कर लिया। उनकी आय सीमित थी, लेकिन पुराने ज़माने के वज़ेदार आदमी थे, अच्छा खाते थे, अच्छा पहनते थे और आतिथ्य-सत्कार भी पूर्वीय परम्परा के अनुसार दिल खोल-कर करते थे। कुछ दिन लाहौर के 'उर्दू मरकज़' में काम किया, फिर इलाहाबाद में हिन्दुस्तानी एकेडेमी की पत्रिका 'हिन्दोस्तानी' के प्रकाशन पर उसके उर्दू के सम्पादक होकर इलाहाबाद में आ गये। यहीं पर १९३६ ई० में उनका निधन हो गया।

'असग़र' कवि से अधिक सूफ़ी थे। सहारनपुर में मंगलौर शरीफ़ के हज़रत क़ाज़ी शाह अब्दुलग़नी साहब ने सूफ़ी मत में उन्हें दीक्षा दी थी। उन्हें आत्म-प्रदर्शन बिलकुल मंज़ूर नहीं था। यूँ ख़ुशदिल और मिलनसार आदमी थे, लेकिन अपने या अपनी शायरी के बारे में बातें बहुत कम करते थे। अगर सूफ़ियों का ज़िक्र आ जाता तो वे घंटों तक बातें करते रहते थे। ख़ुद कहा करते थे "मेरी ज़िन्दगी में कोई वाक़िया क़ाबिले-ज़िक्र नहीं है।" कविता में वे आरंभ में अपनी ग़ज़लें मुंशी ख़लील अहमद 'वज्द' बिलग्रामी को दिखाते रहे। अंत में कुछ ग़ज़लें मुंशी अमीरुल्ला 'तसलीम' को भी दिखायीं। किन्तु यह आरंभिक रचनाएँ अब कहीं नहीं मिलतीं। असग़र साहब ने उन्हें स्वयं ही नष्ट कर दिया और बाद की रचनाओं में भी केवल वे ही रहने दीं जो सर्वोत्कृष्ट थीं। इस प्रकार उनके दो छोटे-छोटे संग्रह 'निशाते-रूह' और 'सरोदे-ज़िन्दगी' निकले हैं। इनमें कुल मिलाकर ११२ उर्दू ग़ज़लें, चार-पाँच फ़ारसी ग़ज़लें और तीन नज़्में हैं, जिन्हें क़सीदे भी कहा जा सकता है। इतना कम कलाम किसी और शायर का नहीं है। फिर भी चूँकि बहुत काट-छाँट कर प्रकाशित की हुई ग़ज़लें हैं, इसलिए हर शेर बहुत ही अच्छा है। हर शेर में नया अन्दाज़ है और कल्पना की मनोहर उड़ान। नवीनता के बारे में वे ख़ुद कहा करते थे कि मैं पुराने शायरों का कलाम नहीं पढ़ता।

'फ़ानी' की तरह 'असग़र' की कविता में भौतिक प्रेम का कहीं पता नहीं है। वे पक्के सूफ़ी थे और सूफ़ीवादी चेतना का जितना परिष्कृत रूप उन्होंने

पेश किया है, वह अन्य किसी शायर को नसीब नहीं हुआ, बावजूद इसके कि सारे उर्दू शायर कभी न कभी सूफ़ीवाद का दार्शनिक आधार लेते दिखाई देते हैं। 'असग़र' ने सूफ़ीवाद की व्याख्या नहीं की है, बल्कि अपने शेरों में उस आनन्दमय स्थिति का चित्र खैंचा है जो साधना की कई मंज़िलों से गुज़रने के बाद साधक को प्राप्त होती है। यह कहना तो शब्दों का अपव्यय होगा कि 'असग़र' की ग़ज़लों में हर जगह पवित्रता के दर्शन होते हैं, लेकिन उल्लेखनीय बात यह है कि आध्यात्मिकता के इस स्तर पर भी प्रेम की तीव्रता में कोई कमी नहीं दिखाई देती; बल्कि अक्सर हालतों में यह आध्यात्मिक प्रेम ठोस भौतिक प्रेम से कहीं अधिक सजीव और तड़पने वाला दिखाई देता है। 'असग़र' के किसी शेर में शिथिलता नाम के लिए भी नहीं दिखाई देती।

आध्यात्मिक उत्थान के एक विशेष स्तर पर सांसारिक अनुभूतियाँ समाप्त हो जाती हैं और एक ऐसी स्थिति आ जाती है, जिसका एक पहलू नितान्त दुख की अनुभूति है और दूसरा नितान्त और निरपेक्ष आनन्द की। 'फ़ानी' ने एक पक्ष के दर्शन कराये हैं तो 'असग़र' ने आध्यात्मिक प्रेम की चिर आनन्दमयी स्थिति के दर्शन कराये हैं। दुख और करुणा सहज ही दूसरे पर भी प्रभाव डालती है और दुख के स्वर उठाकर किसी को द्रवित कर देना फिर भी अपेक्षाकृत सरल होता है, किन्तु आनन्द की बातें करके सुनने वालों के मन में आनन्द और मस्ती की हिलोर पैदा कर देना मुश्किल काम है। 'असग़र' को इस कठिन कार्य में शत प्रतिशत सफलता मिली है, इसका सबूत उनका हर शेर देता है।

'असग़र' की रचनाओं में फ़ारसीपन बहुत है। इसका कारण भी स्पष्ट है। उन्हें दुनिया वालों की तो चिन्ता थी नहीं और वे लोकप्रियता की परवा न करते थे। इसलिए उन्होंने अपने शेरों को बोधगम्य बनाने पर कभी ध्यान न दिया। अपनी अनुभूति के प्रकाशन के लिए उन्हें सबसे आसानी फ़ारसीमय उर्दू में हुई और इसका उन्होंने प्रयोग किया। वैसे भी जनसाधारण उनके शेरों की तह तक नहीं पहुँच सकते, उनका पूरा आनन्द लेने के लिए परिष्कृत चेतना अपेक्षित है। फिर भी यह बात उल्लेखनीय है कि उनके शेरों में चुस्ती, प्रवाह और गीतात्मकता ग़ज़ब की हैं और शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से वे श्रेष्ठ कवि ठहरते हैं।

'असग़र' के कुछ शेर उदाहरणार्थ नीचे दिये जाते हैं—

फिर मैं नज़र आया न तमाशा नज़र आया
जब तू नज़र आया मुझे तनहा नज़र आया
उट्ठे अजब अन्दाज़ से वह जोशे - ग़ज़ब में
चढ़ता हुआ इक हुस्न का दरिया नज़र आया
किस दर्जा तेरा हुस्न भी आशोबे - जहाँ है
जिस ज़र्रे को देखा वो तड़पता नज़र आया

कोई महमिल-नशीं क्यों शाद या नाशाद होता है
ग़ुबारे - क़ैस ख़ुद उठता है ख़ुद बरबाद होता है
यहाँ मस्तों के सर इल्ज़ामे - हस्ती ही नहीं 'असग़र'
फिर इसके बाद हर इल्ज़ाम बे-बुनियाद होता है

अली सिकन्दर 'जिगर' मुरादाबादी—'जिगर' मुरादाबादी से अधिक लोकप्रिय उर्दू शायर इस शताब्दी में कोई नहीं हुआ। उनके विरोधी भी उनकी लोकप्रियता को स्वीकार करने के लिए मजबूर हैं। मुशायरों में 'जिगर' के शामिल होने का नाम ही सुनकर हज़ारों की भीड़ लग जाती है। नौजवानों को तो उनके शेर पागल बना देते हैं।

'जिगर' साहब का जन्म १८९० ई० में मुरादाबाद में ऐसे ख़ानदान में हुआ है, जिसमें पठन-पाठन की पुरानी परम्परा रही है। उनके पूर्वज मौलवी अब्दुल समी बादशाह शाहजहाँ के शिक्षक थे। बादशाह किसी कारण से उनसे नाराज़ हो गये और मौलवी समी मुरादाबाद जा बसे। इस ख़ानदान में कई अच्छे शायर हुए हैं। 'जिगर' साहब के पिता मौलवी अली नज़र साहब 'नज़र' और पितामह हाफ़िज़ मुहम्मद नूर साहब 'नूर' भी अच्छे शायर थे। 'नज़र' साहब ख़्वाजा 'वज़ीर' के शागिर्द थे, जो कि शैख़ इमामबख़्श 'नासिख़' के शिष्य थे। 'नज़र' साहब ने अपनी रचनाओं का दीवान भी छोड़ा है।

इनका घराना पुराने ढंग का था, जहाँ अंग्रेज़ी शिक्षा को ज़रूरी नहीं समझा जाता था। 'जिगर' की स्कूली शिक्षा तो हुई ही नहीं। पुराने ढंग की शिक्षा भी

उन्होंने भली प्रकार ग्रहण नहीं की। वे अरबी नहीं जानते। फ़ारसी में अच्छी गति है, कुछ ग़ज़लें भी फ़ारसी मे कही हैं, लेकिन फ़ारसी का भी उनका अध्ययन किसी प्रकार विद्वत्तापूर्ण नहीं कहा जा सकता। तर्कशास्त्र और दर्शन का उन्होंने अध्ययन किया ही नहीं।

'जिगर' ने शायरी बचपन से ही शुरू कर दी थी। तेरह-चौदह वर्ष की अवस्था से ही शेर कहने लगे थे। पहले पिता को ही ग़ज़ले दिखाते थे, फिर मिर्ज़ा दाग़ से दो-तीन ग़ज़लों पर डाक द्वारा संशोधन कराया। 'दाग़' के मरने पर वे लखनऊ के अमीरुल्ला 'तसलीम' के शागिर्द हो गये। 'तसलीम' मौलाना हसरत मौहानी के भी काव्य-गुरु थे और 'मोमिन' शैली के अनुसार भाषा की रवानी, चुस्ती और प्रभावोत्पादकता के क़ायल थे। चार-पाँच वर्षों के बाद 'तसलीम' का भी देहावसान हो गया। कुछ वर्षों तक 'जिगर' उसी पुरानी लीक पर चलते रहे, फिर 'असग़र' गोंडवी के सम्पर्क में आने पर उनकी चेतना की दिशा ही बदल गयी और वे भी सूफ़ीवाद के समर्पणवादी आनन्दमय मार्ग पर चलने लगे। 'असग़र' मित्र की हैसियत से 'जिगर' को कविता में ही नही, अन्य बातों मे भी सलाह दिया करते थे। 'जिगर' उनसे इतने प्रभावित थे कि उनकी इच्छा देखकर अपनी पत्नी को तलाक़ दे दिया, जिससे कि वे उनसे विवाह कर सकें। 'असग़र' के मरने पर 'जिगर' ने फिर उस महिला से विवाह कर लिया। 'असगर' के प्रति 'जिगर' की भक्ति 'जिगर' की रचनाओं मे हर जगह दिखाई देती है।

'जिगर' जितने अच्छे शायर हैं, उससे ज्यादा अच्छे आदमी हैं। बहुत हँस-मुख, बड़े मिलनसार, ज़रूरतमन्दों को अपना सब कुछ दे डालने वाले, नारी-वर्ग का सम्मान करनेवाले (इस बारे में 'फ़ानी' को छोड़कर शायद ही कोई अन्य कवि 'जिगर' से बढ़ा हुआ हो) और बच्चों को प्यार करने वाले। अपनी आर्थिक अवस्था की उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। कुछ दिनों तक उन्हें भोपाल की रियासत से कुछ रुपया मिलता था, अब वह भी बन्द हो गया है। उनकी सारी आमदनी मुशायरों और पुस्तकों से होती है, उसी में बादशाह की तरह रहते हैं। पहले भौतिक सौन्दर्य के दीवाने थे, फिर आध्यात्मिकता में डूब गये। पहले अंधाधुंध शराब पीते थे, फिर एकदम से शराब छोड़ दी और धुआँधार

सिग्रेट पीने लगे। अब धूमपान भी बिलकुल छोड़ दिया है, सिर्फ़ बेतहाशा ताश खेलने लगे हैं। इस शौक़ को भी न जाने कब छोड़ बैठें, कुछ कहा नहीं जा सकता। संक्षेप में 'जिगर' साहब बड़े दिलचस्प और प्यारे इन्सान हैं।

'जिगर' की चेतना के तीन युग स्पष्टतः उनकी कविता के क्रमिक विकास में देखने को मिल जाते हैं। उनकी प्रारंभिक शैली में परिमार्जन तो ख़ूब है, किन्तु चेतना का स्तर वही भौतिकवादी साधारण प्रेम का है, जिसमें प्रभाव तो होता है, किन्तु मन में मस्ती की उमंग नहीं उठती। उनपर 'दाग़' और 'तसलीम' का पूरा प्रभाव था, यह उनके पहले दीवान 'दाग़े-जिगर' को देखने से साफ़ मालूम होता है। हाँ, यह अन्तर स्पष्ट है कि 'जिगर' में उस काल की कविता में भी पुराने कवियों की भाँति उच्छृंखलता नहीं दिखाई देती। उनकी भौतिकवादी मस्ती में भी मर्य्यादा का रख-रखाव है।

शायद इसी रख-रखाव की प्रवृत्ति ने बाद में उन्हें 'असग़र' की ओर आकृष्ट कर दिया और वे पूर्णतः असग़र के रंग में रँग गये। उन्होंने अपनी चेतना में उसी आध्यात्मिक आनन्दवाद का समावेश कर लिया, जो 'असग़र' की विशेषता है। 'जिगर' की इस काल की कविता 'असग़र' की कविता का पूर्णतः प्रतिबिंब मालूम होती है और अगर 'जिगर' इसी तक सीमित रह जाते तो उनकी कोई विशेष देन न समझी जाती। किन्तु तीसरे दौर में वे आगे बढ़े और उनकी कविता में प्रखरतापूर्ण समर्पण और एक नया बाँकपन पैदा हो गया। साथ ही वे ऐसी कविता करने लगे, जिसका क्षेत्र आध्यात्मिक और भौतिक दोनों हों। यही रंग उनके चौथे काल में परिपक्व हो गया और इसी ने 'जिगर' को 'जिगर' बना दिया। 'जिगर' की कविता के इस युग में उनकी तड़प और मस्ती बहुत बढ़ गयी और उसके आध्यात्मिक और भौतिक दोनों स्तरों पर लागू होने के कारण उसकी लोकप्रियता भी बढ़ गयी। साथ ही इस शताब्दी के मध्यकाल के लगभग 'जिगर' में सामाजिक चेतना का भी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, किन्तु यह क्षेत्र उनके बस का नहीं है। ख़ैरियत यही है कि उन्होंने अपनी सामाजिक चेतना को अधिक मुखरित नहीं किया, नहीं तो उनकी असफलता निश्चित थी।

भाषा के मामले में 'जिगर' काफ़ी सफल हैं। उनकी भाषा अधिक क्लिष्ट नहीं है और उसमें गीतात्मकता चाहे 'असग़र' से कम हो, किन्तु बहाव ग़ज़ब का है। उनकी कविता के उदाहरण ये हैं—

हज़ारों क़ुरबतों पर यूँ मेरा महजूर हो जाना
जहाँ से चाहना उनका वहीं से दूर हो जाना
मुहब्बत क्या है ? तासीरे मुहब्बत किसको कहते हैं ?
तेरा मजबूर कर देना मेरा मजबूर हो जाना

नज़र मिला के मेरे पास आके लूट लिया
नज़र हटी थी कि फिर मुस्कुरा के लूट लिया
बड़े वो आये दिलो-जाँ के लूटने वाले
नज़र से छेड़ दिया गुदगुदा के लूट लिया

इक लफ़्ज़े-मुहब्बत का अदना ये फ़साना है
सिमटे तो दिले आशिक़ फैले तो ज़माना है
यह इश्क़ नहीं आसाँ इतना तो समझ लेना
इक आग का दरिया है और डूब के जाना है

: १३ :

आधुनिक उर्दू गद्य

बीसवीं शताब्दी का उर्दूगद्य प्रौढ़ता के उस स्तर तक पहुँच चुका है, जिस पर 'दाग़' और 'अमीर' के समय की उर्दू काव्य की अभिव्यंजना शक्ति पहुँच चुकी थी। शिबली, शरर और मिर्ज़ा हादी रुसवा का परवान चढ़ाया यह पौधा इस समय फूलों से लदा हुआ है। इस शताब्दी में उर्दू गद्य कथा साहित्य, साहित्यालोचना तथा विभिन्न विषयों के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गया है। उसमें ऐसे विस्तार की भी गुंजायश पैदा हो गयी है, जो पाठक में ऊबने का भाव पैदा न करे और सूत्र रूप में बात करने की भी वह अभिव्यंजना शक्ति आ चुकी है कि गागर में सागर भरने की भाँति जटिल से जटिल समस्याओं को या गिने-चुने शब्दों में इस प्रकार सामने रख दिया जाय कि समझने में मानसिक व्यायाम न करना पड़े। भारी भरकम और अपेक्षाकृत बोझिल अरबी-फ़ारसी शब्दावली और उलझे हुए वाक्य-विन्यासों की बजाय गद्य लेखकों का आग्रह सीधी-सादी, प्रवाह युक्त और मधुर, किन्तु पूर्णतः अभिव्यंजक भाषा के प्रयोग का है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भाषा के सुधार की संभावनाएँ समाप्त हो गयी हैं (कभी भी नहीं होतीं), किन्तु यह आवश्यक है कि उर्दू गद्य जिस स्तर पर पहुँच चुका है, उसमें कोई गंभीर अभाव बाक़ी नहीं रह गया है।

इस शताब्दी ने उर्दू में चोटी के कहानीकार, निबंध लेखक और आलोचक पैदा किये, जो अपने प्रत्येक लेखन में, यहाँ तक कि आपसी पत्रों में भी साहित्य लिखते हैं। इनमें से प्रमुख नामों का उल्लेख आगे किया जाता है।

प्रेमचंद—मुंशी प्रेमचन्द से हिन्दी संसार अच्छी तरह परिचित है। उनकी रचनाएँ प्रत्येक शिक्षित हिन्दी-भाषी तो पढ़ ही चुका है, साथ ही अंग्रेज़ी, रूसी आदि विदेशी भाषाओं में भी उनके उपन्यासों के काफ़ी अनुवाद हो चुके हैं। उनकी रचनाओं ने विदेशों में भी लोक-प्रियता प्राप्त करके भारत का मस्तक

ऊँचा किया है। इस अवसर पर केवल इतना बता देना काफ़ी है कि मुंशी धनपत राय (प्रेमचन्द) ने आरंभ में कई वर्षों तक केवल उर्दू में ही लिखा और उनकी प्रथम कृतियाँ पहले उर्दू में ही लिखी गयीं और बाद में उन्होंने उनका हिन्दी रूपान्तर किया। बाद के जो उपन्यास और कहानियाँ उन्होंने मूल रूप से हिन्दी में लिखीं, उन्हें भी रूपान्तर करके उर्दू में दे दिया। इस प्रकार उनकी लगभग सारी रचनाएँ उर्दू में भी उपलब्ध हैं और उर्दू संसार उन्हें अपने साहित्य की प्रथम पंक्ति में स्थान देता है। प्रेमचन्द के ही पदचिह्नों का—हर मामले में, अनुसरण करने वाले पं० सुदर्शन भी उसी प्रकार उर्दू और हिन्दी दोनों क्षेत्रों में समान रूप से मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम काल के स्वनामधन्य बाबू बालमुकुन्द गुप्त भी उर्दू के भी जानेमाने लेखक और पत्रकार थे। प्रसन्नता की बात है कि गुप्तजी, प्रेमचन्द और सुदर्शन की उर्दू-हिन्दी के मेल-मिलाप की यह परम्परा इस शताब्दी के छठे दशक में तेजी से आगे बढ़ रही है।

ख्वाजा हसन निजामी—ख्वाजा साहब के बारे में एक ज़माने में हिन्दुओं में कुछ ग़लतफ़हमी पैदा हो गयी थी, लेकिन उनके जीवनवृत्त और उनकी रचनाओं को देखने से मालूम होता है कि उन्होंने सूफ़ी संतों की वही परम्परा निभायी, जिसने उर्दू कविता को किसी विशेष सम्प्रदाय तक सीमित नहीं रखा। ख्वाजा साहब १८७३ ई० में दिल्ली में पैदा हुए। उनके पिता आर्थिक दृष्टि से बहुत निर्धन थे, किन्तु वंश परम्परा प्रख्यात संतों से मिलती थी। वे दिल्ली में निज़ामुद्दीन औलिया की दरगाह में रहते थे और ख्वाज़ा साहब का बचपन भी वहीं पर बीता। किन्तु इन्हें आरंभ से ही लिखने-लिखाने का शौक़ था। आरंभ में पुस्तकों की गठरी लादे हुए उनकी फेरी लगाते थे। फिर स्वयं पुस्तक-प्रकाशन करने लगे। इनकी मेहनत और लगन से आर्थिक दशा बहुत अच्छी हो गयी। इनकी वंशानुगत आध्यात्मिक प्रतिष्ठा के साथ इनकी विद्वत्ता का भी सब लोहा मानते थे और देश के बड़े-बड़े नवाब और जागीरदार, यहाँ तक कि हैदराबाद के निज़ाम भी उनकी चरण-रज लेने में सौभाग्य समझते थे। ख्वाजा साहब की रचनाओं की संख्या बहुत अधिक है, जिनमें इस्लाम और हिन्दू धर्म सम्बन्धी पुस्तकों से लेकर सारे राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर—यहाँ तक कि 'मुफ़लिसी का मुजर्रब इलाज' और 'पड़ोस के सत्रह पाजी' तक पुस्तकें

लिखी हैं। उनका एक पत्र 'मुनादी' प्रकाशित होता था, जिसमें केवल वे ही लिखते थे और गंभीरतम विषयों से लेकर हँसी-मज़ाक़ तक सब कुछ लिखते थे। हाल में ही १९५९ ई० में उनका देहांत हुआ है। अपने अंतिम समय तक उन्होंने लेखन-कार्य जारी रखा।

ख़्वाजा साहब की विशेषता उनका बहुलेखन तो है ही, साथ ही उनकी विशेष लेंखन शैली भी है। वे अत्यन्त सरल, किन्तु बहुत ही आकर्षक भाषा का प्रयोग करते हैं। हलके-फुलके विषयों को उठाते समय उनकी शैली में चुलबुलापन आ जाता है और धार्मिक तथा सामाजिक विषयों में वे भावात्मक आवेश में आ जाते हैं। सादगी और सरलता का दामन कभी नहीं छूटने पाता, किन्तु छोटे-छोटे वाक्यों, शब्दों के उचित प्रयोग और मुहावरों के ज़ोर से लेखन में ऐसा आकर्षण पैदा कर देते हैं कि पाठक को प्रत्येक स्थिति में अपने साथ बहाये लिये चलते हैं। उनकी भाषा और शैली का नमूना निम्नलिखित उद्धरण से मिलेगा, जो उनके द्वारा लिखित 'बहादुर शाह की बेटी' से लिया गया है और जिसमें बहादुर शाह द्वितीय की पुत्री कुलसूम ज़मानी बेगम की कहानी उन्हीं के शब्दों में कही गयी है।

"आख़िर लाल क़िले से हमेशा के लिए जुदा होकर कोराली गाँव में पहुँचे और वहाँ अपने रथबान के मकान पर क़याम किया। बाजरे की रोटी और छाछ खाने को मयस्सर आयी और उस वक़्त भूख में यह चीज़ें बिरियानी और मुतंजन से ज़ियादा मज़ेदार मालूम हुई। एक दिन रात तो अम्न से बसर हुआ, दूसरे दिन गिर्दो-नवाह के जाट गूजर जमा होकर कोराली को लूटने चढ़ आये। सैकड़ों औरतें भी इन लुटेरों के साथ थीं जो चुड़ैलों की तरह हमको चिमट गयीं। तमाम ज़ेवर और कपड़े उन कमबख़्तों ने उतार लिये। जिस वक़्त यह सड़ी-बुसी औरतें अपने मोटे मैले हाथों से हमारे गले को नोचती थीं तो उनके लहँगों से ऐसी बू आती थी कि दम घुटने लगता था।"

राशिदुल ख़ैरी—मौलाना राशिदुल ख़ैरी इस शताब्दी के आरंभ के एक प्रख्यात कथाकार थे। उन्हें 'मुसव्वरे-ग़म' यानी दुख का चितेरा कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में स्त्रियों की दुर्दशा का

इतना करुणाजनक चित्रण किया है कि पाठक बरबस ही दुख सागर में डूबने उतराने लगता है। मौलाना का सम्बन्ध नज़ीर अहमद के परिवार से था और उन्होंने अपने कथा साहित्य में मौलवी नज़ीर अहमद की परम्परा भी निभायी। मौलाना का देहावसान अपने निवास स्थान दिल्ली में १९३६ ई० में हुआ और उनके साथ ही उर्दू की सुधारवादी कथासाहित्य की परम्परा उठ गयी। मौलाना अपने निजी जीवन में बहुत ही ज़िन्दादिल और हँसने-हँसाने वाले आदमी थे, किन्तु साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने करुणा के माध्यम से मुस्लिम समाज की उत्पीड़ित नारियों की दशा के सुधार के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी। फिर भी मौलाना को किसी प्रकार क्रांतिकारी नहीं कहा जा सकता। वे पुराने सामाजिक मूल्यों की चहारदीवारी के अन्दर ही सुधार चाहते थे। पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति अपनाने वालों की उन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में हमेशा दुर्दशा दिखायी है और इस प्रकार पाठकों को इस रास्ते पर जाने से रोका है। स्त्रियों की शिक्षा को वे आवश्यक समझते हैं, किन्तु उसका उद्देश्य स्त्रियों का मानसिक और बौद्धिक परिष्कार ही समझते हैं। उन्हें स्त्री-शिक्षा के आर्थिक पहलू से कोई दिलचस्पी नहीं है। इसी प्रकार बच्चों की शिक्षा-दीक्षा में भी वे सुधारवादी पहलू पर बहुत ज़ोर देते हैं, क्रांतिवादी पहलू को ग़लत समझते हैं।

मौलाना राशिदुल ख़ैरी की भाषा-शैली अधिकतर नज़ीर अहमद का ही अनुसरण है। वे सरल शब्दावली और वाक्य-विन्यास का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनकी शैली में भावुकता की अपील मौलवी नज़ीर अहमद से कहीं अधिक है। उनकी भाषा में कवित्व भी अधिक है, यहाँ तक कि सर सय्यद काल की परम्परा के विरुद्ध वे कभी-कभी ज़ोर और रंगीनी लाने के लिए अनुप्रास-युक्त भाषा का भी प्रयोग करने लगते हैं, जो कभी-कभी उलझन भी पैदा कर देती है।

उनकी रचनात्मक शैली की दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि वे स्त्रियों की बोलचाल के मुहावरे धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं, जिससे शैली में नरमी भी क़ायम रहती है और वातावरण में वास्तविकता की भी सृष्टि हो जाती है। दूसरी बात यह है कि दृश्य-वर्णन में अपनी भाषा का कम प्रयोग करते हैं, पात्रों की भाषा द्वारा उनके कथोपकथन के ही दौरान वातावरण की सृष्टि कर देते हैं। कथा साहित्य के विकास में यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है।

मौलाना की रचनाओं की संख्या तीस से अधिक है, जिसमें 'समरना का चाँद', 'उरूसे-करबला', 'सुब्हेज़िन्दगी', 'शामे-ज़िन्दगी', 'शबे-ज़िन्दगी', 'सुराबे-मग़रिब', 'माहे-अजम', 'महबूब-ए-ख़ुदावन्द' आदि उल्लेखनीय हैं। मौलाना की लेखन-शैली का अन्दाज़ा उनके एक लेख के निम्नलिखित उद्धरण से हो सकता है—

"माना कि बाज़ जगह बीबियों की क़द्र हो रही है जो होनी चाहिए मगर इनसे बहुत ज़ियादा वह मिट्टी पलीद हो रही है जो न होनी चाहिए। मियाँ, सास, ख़ुसुर, ननद, ननद के बच्चे, देवर, जेठ, उनकी औलाद, ग़रज़ इन सबको रज़ामन्द रखना उसका फ़र्ज़ है। कोसना, फ़ज़ीहतियाँ, तमनो-तश्नी उसका इनाम। तलाक़ का डरावा, दूसरे निकाह की धमकी उसका सिला। जिन बेचारियों ने कभी ख़्वाब में भी मेहनत न की थी, दिन भर पापड़ बेलें। एक का आगा तागा, एक की लल्लो पत्तो, ग़रज़ ज़िन्दगी क्या हुई वबाल हो गयी। पकाओ रींधो, सियो पिरोओ, झाड़ो बुहारो, लीपो पोतो, ग़रज़ घुलकर ख़ाक और जलकर कोयला हो जाओ मगर फिर भी किसी के भावें नहीं। आने जाने वाले फूहड़ बतायें, मिलने जुलने वाले कीड़े डालें। ज़बाँ-दराज़ वह, काम-चोरनी वह, जल-जोगनी वह, बेढंगी वह, ग़रज़ कोई ऐसा ऐब नहीं जो एमालनामे में मौजूद न हो। नाक़िसुल-अक़्ल उसका ख़िताब, बेवक़ूफ़ उसका लक़ब। मुख़्तसर यह कि कुत्ते की ज़िन्दगी उससे बेहतर है, जिसको मौत की कभी तमन्ना नहीं होती।"

नियाज़ फ़तेहपुरी—नियाज़ साहब भी उन गिने-चुने विद्वानों में हैं, जिन्होंने लेखन और पत्रकारिता दोनों में अपने जौहर दिखाये हैं। वे भी मौलाना राशिदुल ख़ैरी की तरह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में पैदा हुए थे। फतेहपुर, जहाँ वे पैदा हुए थे, एक क़स्बा ही है और उस समय क़स्बों और देहात के शरीफ़ मुसलमान घरानों में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार न हुआ था। चुनाँचे नियाज़ साहब की प्रारंभिक शिक्षा भी घर पर ही हुई और उन्होंने अरबी-फ़ारसी अपने पिता से पढ़ी, जो फ़ारसी और उर्दू के विद्वान् थे। उन्होंने नियाज़ साहब को ज्ञानार्जन की रुचि को बहुत प्रोत्साहित किया। बाद में नियाज़ साहब ने स्वयं ही मेहनत करके कुछ समय में अंग्रेज़ी सीख ली और इसी प्रकार दो-तीन महीने मेहनत करके तूर्की का भी यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया। साहित्यिक जीवन

उन्होंने 'मखज़न' और 'नक्क़ाद' से आरंभ किया। जीविका के अर्जन के लिए वे कुछ दिनों भोपाल में इंस्पेक्टर जनरल पुलिस के कार्यालय में क्लर्क भी रहे, किन्तु डा० अब्दुर्रहमान बिजनौरी की सिफ़ारिश पर नवाब साहब ने १९१९ ई० में इन्हें मासिक वृत्ति देना शुरू कर दिया। इस प्रकार नियाज़ का शुद्ध साहित्यिक जीवन आरंभ हुआ। कुछ दिनों वे हैदराबाद में भी रहे। इसके बाद उन्होंने लखनऊ से अपना साहित्यिक आलोचनात्मक मासिक पत्र 'निगार' प्रकाशित किया, जो अभी तक उर्दू का लगभग सबसे गंभीर आलोचनात्मक पत्र बना हुआ है। अगर नियाज़ की और रचनाओं की उपेक्षा कर दी जाय, तो केवल 'निगार' ही साहित्य के इतिहास में उनका स्थान अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए काफ़ी है। लेकिन इनकी अन्य रचनाएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सबसे पहली चीज़ जिसने 'नियाज़' को उर्दू साहित्य में ऊँचा स्थान दिलाया, रवि बाबू की गीताञ्जलि का उर्दू में अनुवाद है। इसके अलावा 'निगारिस्तान', 'जमालिस्तान' आदि कहानी-संग्रह तथा 'तारीख़ु-द्दौलतैन', 'फ़रासत अलीद', 'क्यूपिड और साइकी', 'गहवार-ए-तमद्दुन', 'शहाब की सरगुज़िश्त', 'अल-मसल-इर्शाकिया', 'जज़बाते-भाषा', 'तरग़ीबाते जिसी' आदि उनकी अन्य पुस्तकें भी ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। इन पुस्तकों के नामों से ही स्पष्ट होता है कि नियाज़ ने इतिहास, समाजशास्त्र, दर्शन, हिन्दी साहित्य, यौन मनोविज्ञान आदि कोई भी क्षेत्र नहीं छोड़ा है।

नियाज़ साहब की प्रतिभा केवल बहुमुखी ही नहीं, उसमें ग़ज़ब का अहं भी है। साहित्य में उनकी राय औरों से कुछ अलग ही होती है और वे उसे निधड़क कह भी देते हैं। हद यह है कि उन्होंने धर्म के मामले में भी ऐसे विचार प्रकट कर दिये हैं, जिनसे उनके सहधर्मियों में रोष और असंतोष की लहर दौड़ गयी। मौलाना अब्दुल्माजिद दरियाबादी से उनकी इस मामले पर बहुत दिनों तक क़लम की लड़ाई चलती रही। नियाज़ के इन विचारों से उनके जो सहधर्मी क्षुब्ध नहीं हैं, उनकी भी राय है कि नियाज़ को इस व्यर्थ के पचड़े में नहीं पड़ना चाहिए था, लेकिन नियाज़ साहब को न अपने विरोधियों की परवा है, न अपने हमदर्दों का ख़याल। उन्होंने जो कुछ कह दिया, उस पर वे डटे रहेंगे, कोई कुछ भी कहे।

नियाज़ की भाषा और शैली उनकी विद्वत्ता के अनुरूप ही है। उसमें सरलता का आग्रह नहीं है, बल्कि ओज और प्रवाह बहुत अधिक दिखाई देता है, जो कि उनके विश्वास की गहराई का पता देता है।

मौलाना अबुल कलाम 'आज़ाद'—मौलाना आज़ाद से कौन परिचित नहीं है? संक्षेप में उनका जीवन-वृत्त यह है—सितम्बर १८८८ ई० में मक्का में जन्म, सात-आठ वर्ष की अवस्था में पिता के साथ, जो सूफ़ियों के एक प्रसिद्ध वंश के रत्न थे, भारत को वापसी; उर्दू की कलकत्ते में शिक्षा, अरबी-फ़ारसी और तुर्की की उच्च शिक्षा अपने ही अध्यवसाय से प्राप्त की; बचपन में पहले उर्दू और फिर फ़ारसी कविता की; बचपन से ही कई पत्रों का प्रकाशन, जो अपने ऊँचे और प्रेरणादायक लेखों के कारण तुरंत ही देश के श्रेष्ठ पत्रों में गिने जाने लगे। १९१२ में राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रवेश, महायुद्ध के समय काँग्रेस के अध्यक्ष, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद अपने अंतकाल (२२ फ़रवरी १९५८ ई०) तक भारत के शिक्षा-मन्त्री।

मौलाना ने ललित साहित्य के नाते लगभग कुछ नहीं लिखा। बचपन में जो कविताएँ की थीं, उनके बारे में बाद में हँस कर कहा करते थे, "हाँ मेरे भाई, कुछ दिनों मुझे भी यह जुनून था।" पुस्तकों में अधिकतर केवल धर्म सम्बन्धी हैं; केवल 'गुबारे-ख़ातिर' साहित्यिक दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसमें उनके विभिन्न 'इम्प्रेशन' ही हैं। इसे भी उन्होंने अहमद नगर किले की लम्बी नज़र-बन्दी (१९४२–४५) में मजबूरी की हालत में लिखा, क्योंकि और कुछ लिखने को ही नहीं था। उर्दू अदब को उनकी अमर देन उनके अभिभाषण तथा उनके अपने पत्रों में लिखे हुए लेख हैं, जो यद्यपि राजनीतिक और सामाजिक विषयों पर ही लिखे गये हैं, किन्तु उनकी एक-एक पंक्ति भाषा और अभिव्यक्ति-शैली के लिहाज़ से स्थायी साहित्यिक मूल्य रखती है। मौलाना का पत्रकारिता का जीवन बहुत लम्बा और महत्त्वपूर्ण था। उन्होंने बचपन में ही 'नैरंगे-नज़र' नामक एक पत्रिका जारी की, जो केवल आठ महीने चल सकी। इसमें कविताएँ ही होती थीं। साथ ही अन्य पत्रों, 'अलमिस्बाह', 'तुहफ़ए-मुहम्मदिया', 'ख़ुदंगे नज़र', 'अहसानुल-अख़बार', 'मख़ज़न', 'अल निदवा', 'वकील' आदि

में उनके लेख प्रकाशित होते रहते थे। 'अलनिदवा', 'खुदंगे-नज़र' और 'वकील' के गद्य भाग का उन्होंने कुछ दिनों सम्पादन भी किया। उन्होंने 'लिस्सान उस्सिद्क़' जारी किया, जिसे १९०४ में इराक़ जाने पर बन्द कर दिया। १९१२ में उन्होंने अपने राजनीतिक और सामाजिक विचारों के प्रकाशन के लिए 'अलहिलाल' जारी किया, जिसमें उन्होंने मुसलमानों को निडर होकर हिन्दुओं पर भरोसा करने और ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने का आह्वान किया। १९१५ में वे बंगाल से निष्कासित कर दिये गये और 'अलहिलाल' बन्द हो गया। तब उन्होंने 'अलबलाग़' जारी किया, जिसका उद्देश्य राजनीतिक न होकर दार्शनिक और धार्मिक था। इस पत्र को भी कुछ वर्षों के बाद उन्हें बन्द कर देना पड़ा और १९२१ ई० में उन्होंने 'पैग़ाम' नामक पत्र निकाला, लेकिन इसका वे सम्पादन ही अधिक करते थे, कभी-कभी ही लेख लिखते थे। १९२७ ई० में 'अलहिलाल' दुबारा जारी किया गया, लेकिन सरकार ने उसे अधिक चलने न दिया।

मौलाना की शैली में ओज, प्रवाह, और मर्मस्पर्शी होने की विशेषताएँ तो अत्यधिक थीं—और इन्हीं विशेषताओं के आधार पर उन्हें साहित्यिक मान्यता मिली—किन्तु उनमें सरलता का तत्त्व लगभग शून्य था। उनके लेखों में अरबी-फ़ारसी के शब्दों और वाक्य-विन्यासों की भरमार रहती थी और उनका रसास्वादन करने के लिए थोड़ी-बहुत अरबी-फ़ारसी का ज्ञान होना अनिवार्य था। बाद में उन्होंने ओज को कम और प्रवाह को अधिक कर दिया और अरबी-फ़ारसी वाक्य-विन्यासों को भी बहुत कम कर दिया। उनकी गद्य में उर्दू और फ़ारसी के शेरों के उद्धरण बहुत आते हैं, बल्कि कहीं-कहीं बोझिल तक बन जाते हैं। प्रत्येक अवसर के लिए उपयुक्त भाषा वे लिख सकते थे। उन्होंने अति दुरूह और अति सरल दोनों प्रकार की भाषाएँ विभिन्न अवसरों पर अपने-अपने औचित्य के साथ लिखी हैं। हम उनकी दोनों प्रकार की भाषा-शैली का एक-एक नमूना दे रहे हैं।

"रअमसेस को इन अज़ीमुश्शान कामयाबियों ने निहायत मग़रूरो-मुतकब्बर बना दिया था। जो सलातीन असीर होकर उसके साथ आये थे उनसे निहायत सख़्त तहक़ीर से पेश आने लगा और शबो-रोज़ सिवाय

फ़ख्रो-ग़रूर-ओ-तअद्दी ओ-तुग़यान-ओ-तज़किरए-फ़ुतूहात उसका कोई काम न रहा। आखिर बशरियत से मुनज्ज़ा होकर वह एक और आलम का मख़लूक़ अपने को समझने लगा। पस, ख़ुदा का क़ानून जिसमें कभी तग़य्युर नहीं होता, जारी हुआ और निहायत इहानत-ओ-तहक़ीर के साथ ख़ुद अपने हाथ से ख़ुदकुशी करके दुनिया से रुख़सत हो गया।" (आसारे-अतीक़ा—अलहिलाल, सितम्बर १९१३)

"देखिए, बेख़बरी में कितने सफ़े लिखा गया। या तो ख़तों के जवाब में दो सतर लिखना भी दूभर होता है या यह आलम है कि दस बारह सफ़हे सियाह हो चुके हैं और अभी तक कहानी ख़त्म नहीं हुई। अस्ल यह है कि रमज़ान की आमद ने यकायक बुझी हुई तबीयत में ताज़गी पैदा कर दी है। इशा के बाद बैठता हूँ तो सुब्ह तक दिमाग़ के कैफ़ो-सुकून में कोई ख़लल-अन्दाज़ी नहीं होती। इस वक़्त तीन बज चुके हैं। आला दरजे की सब्ज़ चाय का फ़िंजान सामने धरा है जो एक जापानी दोस्त ने हाल में ही भेजा है।" (एक पत्रकार को लिखे गये पत्र से)

मौलाना अब्दुल माजिद दरियाबादी—उर्दू-भाषियों को पहली बार पश्चिमी दर्शन से परिचित कराने वालों में मौलाना अब्दुल माजिद दरियाबादी का नाम प्रमुख है। यह मार्च १८९२ ई० में पैदा हुए थे। मौलाना के पिता मौलवी अब्दुल क़ादिर डिप्टी कलक्टर थे और अपने समय के प्रख्यात विद्वान् थे। मौलाना की प्रारंभिक फ़ारसी-अरबी शिक्षा घर पर ही हुई, फिर सीतापुर के गवर्नमेंट हाईस्कूल में दाख़िल हो गये। इनके लेख आठवें दरजे से ही प्रमुख पत्रों में प्रकाशित होने लगे थे। १९०८ ई० में सीतापुर से मैट्रिक और १९१२ में लखनऊ केनिंग कालेज से बी० ए० किया। एम० ए० की शिक्षा के लिए अलीगढ़ गये, किन्तु पिता की मृत्यु के कारण पढ़ाई का सिलसिला छोड़ना पड़ा। कुछ दिनों हैदराबाद के दारुलतरजुमा में काम किया, फिर लखनऊ में आकर रहे। इस समय तक इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। १९१८ के लगभग यह एक ओर तो काँग्रेस में आये और दूसरी ओर धर्म-निरपेक्ष दर्शन को छोड़कर पूर्णतः धार्मिक व्यक्ति हो गये और लखनऊ छोड़कर

अपने गाँव दरियाबाद (ज़िला बाराबंकी) में आ बसे और अभी तक वहीं लिखने-पढ़ने का काम करते रहते हैं।

मौलाना पर आरंभ में पश्चिमी दर्शन का अत्यधिक प्रभाव था और वे धर्म की बजाय बौद्धिकता के पक्षपाती अधिक थे। हैदराबाद के आवासकाल में इन्होंने एक अंग्रेज़ी पुस्तक 'साइकॉलाजी आफ़ लीडरशिप' लिखी, जो लंदन के प्रकाशक फ़िशर एण्ड अनविन ने प्रकाशित की और अंजुमने तरक्क़ी-ए-उर्दू ने इसका उर्दू अनुवाद 'फ़लसफ़-ए-इजतमा' के नाम से प्रकाशित किया। इस पर इस्लामी धर्माचार्यों ने इन्हें काफ़िर घोषित किया और हैदराबाद के कई पत्रों ने इसके विरुद्ध आवाज़ उठायी। किन्तु उस समय के प्रख्यात कवि 'अकबर' इलाहाबादी ने इन्हें केवल यही मशविरा दिया कि क़ुरान पढ़ो, बार-बार पढ़ो और बार-बार समझो। मौलाना मुहम्मद अली से भी इनका इसके बारे में पत्र-व्यवहार हुआ। बाद में जब मौलाना अब्दुल माजिद धर्म-निरपेक्षता छोड़कर पूर्णतः धर्म के पक्षपाती हो गये, तो उन्होंने इस पुस्तक को, जिसकी बदौलत वे प्रसिद्ध हुए थे, अपनी रचनाओं की सूची में से निकाल दिया। धर्म के पक्ष में आने के समय से ही वे राष्ट्रीय आन्दोलन में आये और ख़िलाफ़त आन्दोलन में आगे बढ़कर हिस्सा लिया। खद्दर पहनना उन्होंने अभी तक नहीं छोड़ा है। १९२५ ई० से मौलाना ने एक धार्मिक साप्ताहिक पत्र 'सच' निकालना शुरू किया। १९३२ ई० में इन्होंने क़ुरान का व्याख्या सहित अंग्रेज़ी अनुवाद आरंभ किया, इसलिए 'सच' को अस्थायी रूप से बन्द कर दिया। १९३४ ई० में यह पत्र 'सिद्क़' के नाम से लखनऊ से निकलना शुरू हुआ और १९५० ई० तक निकलता रहा, फिर कुछ कारणों से बन्द हो गया। सितम्बर १९५० से यह पत्र 'सिद्क़े-जदीद' के नाम से फिर निकलना शुरू हुआ है। मौलाना का सबसे बड़ा कारनामा क़ुरान-शरीफ़ का सव्याख्या अंग्रेज़ी अनुवाद है। दस-ग्यारह वर्ष की मेहनत के बाद इसे सात जिल्दों में पूरा किया गया है, जिनमें से कुछ लाहौर की ताज कम्पनी प्रकाशित कर चुकी है, कुछ करने वाली है। क़ुरान की उर्दू व्याख्या भी मौलाना ने सात जिल्दों में लिखी है और वह भी ताज कम्पनी द्वारा ही प्रकाशन में आ रही है। इन व्याख्याओं के बारे में इतना

ही कह देना काफ़ी है कि इन्हें इस्लामी एनसाइक्लोपीडिया (विश्व-कोश) कहा जा सकता है।

इनके अतिरिक्त मौलाना के निबंधों के कई संग्रह हो चुके हैं। अन्य पुस्तकों में फ़लसफ़ए-जज़बात (मनोविज्ञान सम्बन्धी), सफ़रे-हिजाज़, जूद-पशेमाँ (नाटक), हम आप (मनोविज्ञान सम्बन्धी), अकबरनामा आदि उल्लेखनीय हैं। यूरोप के कुछ दार्शनिकों की पुस्तकों का भी उन्होंने अनुवाद किया है। इनमें लेकी की 'हिस्टरी आफ़ द यूरोपियन मॉरेल्स' का अनुवाद 'तारीख़े-इख़्लाक़े-यूरोप' नाम से (दो जिल्दों में), बरक्ले के 'डायलाग्ज़' का अनुवाद 'मुकालिमाते-बरक्ले', फ्रांसीसी लेखक पॉल रिचर्ड की एक पुस्तक का अनुवाद 'पयामे-अम्न' आदि उल्लेखनीय हैं। मौलाना की समस्त रचनाओं की संख्या चालीस के लगभग है।

ज़फ़र अली ख़ाँ—मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ भी बीसवीं शताब्दी के आरंभ की उसी जागरूकता की देन हैं, जिसने इक़बाल, अबुल कलाम 'आज़ाद', मौलाना मुहम्मद अली आदि को पैदा किया। ज़फ़र अली ख़ाँ एक ही समय में राजनीतिक कार्यकर्त्ता, कवि और पत्रकार तीनों थे और तीनों क्षेत्रों में उन्होंने तूफ़ानी तेज़ी दिखायी। लाहौर के दैनिक पत्र 'ज़मींदार' के साथ इनका नाम भी याद आ जाता है, क्योंकि 'ज़मींदार' पूर्णतः अकेले इनके दम पर चलता था, लेकिन अपने प्रतिद्वंद्वी 'इनक़लाब' से, जिसमें साहित्यकारों की एक पूरी फ़ौज काम कर रही थी, आख़िर तक डटकर लोहा लेता रहा।

ज़फ़र अली ख़ाँ का जन्म १८७० ई० में स्यालकोट के एक गाँव महरथ में हुआ था। उनके पिता डाक व तार विभाग में उच्चाधिकारी थे और कश्मीर सरकार के नौकर थे। ज़फ़र अली ख़ाँ ने भी १८९२ ई० में अलीगढ़ से एफ़० ए० किया और डाक विभाग में नौकरी कर ली। किन्तु कुछ दिनों बाद अपने अधिकारी से नाराज़ होकर उसकी निन्दा में एक कविता लिख डाली और नौकरी छोड़ दी। फिर अलीगढ़ आकर बी० ए० किया और मुहसिनुल्मुल्क की सिफ़ारिश पर हैदराबाद के दारुल तर्जुमा में हो गये। यहाँ अपनी विलक्षण प्रतिभा से बार-बार उन्नति करते और अपने उग्र स्वभाव के कारण बार-बार नौकरी छोड़ने के लिए विवश होते रहे। अंत में ख़्वाजा हसन निज़ामी की

शिकायत पर हैदराबाद से इस तरह निकाले गये कि पेंशिन भी बन्द हो गया। अब यह पंजाब आये। इनके पिता ने 'ज़मींदार' निकाला था। उसे यह वज़ीराबाद से लाहौर ले आये। यह बल्क़ान युद्ध के कुछ ही पहले की बात है। इसके बाद मौलाना की सारी तूफ़ानी सरगर्मियाँ 'ज़मींदार' के ही द्वारा होती रहीं। उनकी उग्र नीति के फलस्वरूप इस पत्र से बार-बार ज़मानतें माँगी गयीं और वह बार-बार बन्द होकर निकला। ख़ुद मौलाना ख़िलाफ़त आन्दोलन और उग्रवादी पत्रकारी के कारण बार-बार जेल जाते रहे। १९३६ ई० तक कुल मिलाकर बारह वर्ष इन्होंने जेल के अन्दर काटे। लेकिन फिर भी इनके उग्र विचारों में कोई अन्तर नहीं आया। ब्रिटिश नीति की इन्होंने धज्जियाँ उड़ा दीं।

लेकिन मौलाना की किसी से अंत तक नहीं पटी। उन्होंने काँग्रेस और ख़िलाफ़त आन्दोलन दोनों में भाग लिया, लेकिन जल्द ही उनसे अलग हो गये। फिर मजलिसे अहरार का संगठन किया, किन्तु शहीदगंज की मसजिद के मामले पर उसके भी विरोधी हो गये। फिर इत्तिहादे-मिल्लत नामी संस्था को जन्म दिया, किन्तु उससे भी अलग हो गये। अंत में मुस्लिम लीग में शामिल हो गये, किन्तु उसमें भी हसरत मौहानी की तरह विरोधी दल में ही रहे। उनकी काव्य-प्रतिभा एक-एक करके अलीबन्धु, गांधी जी, जिन्ना साहब, डाक्टर इक़बाल आदि की प्रशंसा के पुल भी बाँधती रही और जब उन्हें इन लोगों पर क्रोध आया तो एक-एक करके सभी को खरी-खोटी सुना डाली। इक़बाल से नाराज़ हुए तो कहा—

माँग कर अहबाब से रजअत-पसंदी की कुदाल
क़ब्र आज़ादी की खोदी किसने? सर इक़बाल ने
काट ली पंजाब की नाक आप अपने हाथ से
आबरू मिल्लत की खो दी किसने? सर इक़बाल ने

इक़बाल की इस निन्दा का अवसर वह था, जब इक़बाल साइमन कमीशन बहिष्कार के विरोधी हो गये थे।

ज़फ़र अली ख़ाँ जब महात्मा गाँधी से ख़ुश थे तो उन्होंने लिखा था—

परवर्दगार ने, कि वो है मंज़िलत-शनास,
गांधी को भी ये मरतबा पहचान कर दिया

और जब गांधी जी से बिगड़े तो फ़रमाने लगे—

भारत में बलाएँ दो ही तो हैं, इक सावरकर इक गाँधी है
इक झूठ का चलता झक्कड़ है इक मक्र की उठती आँधी है

मौलाना ज़फ़र अली ख़ाँ में काव्य-प्रतिभा भी थी और गद्य-लेखन भी कमाल का करते थे, किन्तु राजनीति और अपनी अस्थिर मनोवृत्ति के कारण अपनी प्रतिभा को किसी साहित्यिक मूल्य के सर्जन की ओर न लगा सके। शेर उन्होंने दस-बारह हज़ार लिखे होंगे। उनके तीन काव्य-संग्रह 'बहारिस्तान', 'निगारिस्तान' और 'चमनिस्तान' हैं। काव्य में उनकी विशेषता नातिया (मुहम्मद साहब की प्रशस्ति) कलाम है। गद्य में केवल 'ज़मींदार' की फाइलें हैं।

मजनूँ गोरखपुरी—वर्तमान युग के गद्य-लेखकों और आलोचकों में मजनूँ गोरखपुरी का स्थान काफ़ी ऊँचा है। वे इस समय गोरखपुर के सेंट एण्ड्रयूज़ कालेज में प्रोफ़ेसर हैं। 'मजनूँ' का नाम अहमद सिद्दीक़ है। उनका जन्म १९०४ ई० में गोरखपुर में हुआ। उनके पिता की जीविका का साधन व्यापार था। मजनूँ ने गोरख़पुर से इन्ट्रेन्स पास करके १९२४ ई० में इलाहाबाद के क्रिश्चियन कालेज में प्रवेश किया, किन्तु कुछ ही दिनों बाद बीमार हो गये और फिर गोरखपुर चले गये और वहाँ 'ऐवाने इशाअत' नामक एक प्रकाशन संस्थान खोला। साथ ही वे अपनी शिक्षा भी जारी रखे हुए थे। उन्होंने एम० ए० करके अध्यापन-कार्य आरंभ कर दिया।

मजनूँ की चेतना बुनियादी तौर पर व्यक्तिवादी है और वे इक़बाल के बहुत बड़े प्रशंसक हैं। उनकी इक़बाल पर लिखी हुई आलोचना-पुस्तक बहुत प्रसिद्ध हो चुकी है। फिर भी उनकी निगाहें संसार के दुख-दर्द और जीवन-संघर्ष को पूरी तरह देखती हैं। भावनाओं के चित्रण में उन्हें टामस हार्डी ने बहुत प्रभावित किया है। उनकी कहानियाँ साधारणतः दुखांतक होती हैं, यद्यपि उनका व्यक्तिवाद अपने दुख में भी सामाजिक क्रांति की आवश्यकता की ओर इंगित करता है। कहानियों के दो संग्रह 'ख़्वाबो-ख़याल' और 'समन पोश' प्रकाशित हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त उनके उपन्यास 'ज़ैदी का हश्र', 'सोगवारे-

शबाब' और 'मरियम मजदलीन' काफ़ी प्रसिद्ध हैं। शॉपेनहार के दर्शन पर उनकी पुस्तिका और 'तारीख़े-जमालियात' के नाम से एक अन्य आलोचना-पुस्तिका भी उल्लेखनीय है। उनके आलोचनात्मक निबंधों के कई संग्रह हैं। इनके अतिरिक्त मजनूँ ने ऑस्कर वाइल्ड के नाटक 'सालोम' का उसी नाम से, टॉल्सटॉय के 'द फ़र्स्ट डिस्टिलर' नामक नाटक का 'अबुलख़म्र' के नाम से और बायरन के संगीत-नाटक 'काइन' का 'क़ाबैल' के नाम से अनुवाद किया है। जार्ज बर्नार्ड शॉ के प्रसिद्ध नाटक 'बैक टु मेथ्यू सेला' के आधार पर उन्होंने 'आग़ाज़े-हस्ती' नामक नाटक लिखा है।

मजनूँ के व्यक्तित्व में ऊपर से देखने में कुछ बातें अजीब लग सकती हैं। उदाहरणतः वे बुनियादी तौर पर बुद्धिवादी हैं, किन्तु उनकी उपचेतना उन्हें सदैव भावनात्मकता की ओर ले जाती है, जिसका सबूत उनकी लिखी हुई कहानियाँ और उपन्यास हैं। वे एक ओर तो 'मीर' की वेदना के क़ायल हैं और 'सौदा' से विशेषतः प्रभावित नहीं हैं; दूसरी ओर वे दिल्ली की भावनात्मक काव्य-शैली की बजाय लखनवी यथार्थवादी कविता अधिक पसंद करते और कहते हैं, "दबिस्ताने-दिल्ली की शायरी यकसर जज़बाती है और गोश्त के ऐसे लोथड़े के मानिन्द है जिसमें हड्डी न हो।" साथ ही 'जोश' मलीहाबादी का काव्य भी उन्हें बहुत पसन्द नहीं है। शायद उनकी दृष्टि से उसमें हड्डी ही हड्डी है, गोश्त बिलकुल नहीं।

किन्तु वास्तव में यह परस्पर विरोध केवल ऊपरी दृष्टि से देखने पर मालूम होता है। वस्तुतः मजनूँ की चेतना में बुद्धि और भावना का इतना अनोखा समन्वय है, जो उनकी सृजनात्मक और आलोचनात्मक, दोनों प्रकार की कृतियों को एक अत्यन्त स्वस्थ और संतुलित दृष्टिकोण दे देता है। उनकी नज़र पैनी है और उनकी पैठ गहरी। कभी-कभी वे परम्परा से अलग बातें करते हैं, किन्तु उनका आधार इतना दृढ़ होता है कि उनमें नयी परम्परा को जन्म देने की भी क्षमता होती है। मजनूँ ने पद्य के क्षेत्र में बहुत ही कम लिखा है, यद्यपि उनमें काव्य-प्रतिभा भी उच्चकोटि की थी। आलोचना के क्षेत्र में उनकी इसी काव्य-प्रतिभा ने उनकी कृतियों को अमरत्व प्रदान किया है।

: १४ :

गद्य में हास्य रस का विकास

हँसना, हँसाना वैसे भी मनुष्य मात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और साहित्य में तो इसको विशेष स्थान प्राप्त है। जिस साहित्य में हास्य रस का अभाव है, उसमें मानवीय अनुभूतियों का अभाव है। उर्दू में आरंभ से ही यह प्रवृत्ति अच्छी ख़ासी रही है, किन्तु हास्य के माध्यम ज़माने के साथ बदलते रहे हैं। प्रारंभिक हास्य हमें पद्य में 'सौदा' और 'मीर' के ज़माने में एक दूसरे के प्रति रची हुई हजवों (निन्दात्मक कविताओं) में मिलता है। इसके कुछ ही समय के बाद 'इंशा' और 'रंगीं' तथा अन्य रेख़्ती-गोयों के द्वारा हमें फक्कड़पन के हास्य के दर्शन होते हैं। इस हास्य में निन्दात्मक काव्य जैसी कटुता तो नहीं थी, किन्तु जिन भावों और जिस मनोवृत्ति का चित्रण था, वह आज के सुरुचिपूर्ण मस्तिष्क को बर्दाश्त नहीं होती। वैसे साधारणतः ग़ज़ल में शोख़ी का पुट कहीं-कहीं हास्यात्मक वातावरण की सृष्टि कर दिया करता था, किन्तु व्यवस्थित रूप से हास्य साहित्य का उद्भव अंग्रेज़ी साहित्य के संसर्ग से आया। इस संसर्ग के स्पष्ट प्रमाण उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश और बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में 'अवध पंच' नामक पत्र, मुंशी सज्जाद हुसेन और 'सरशाद' के गद्य और 'अकबर' इलाहाबादी के पद्य में मिलते हैं। इन तीनों हास्यावतारों ने उर्दू में हास्य रस का स्तर बहुत ऊँचा कर दिया और आगे के स्वस्थ हास्यात्मक साहित्य के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

अंग्रेज़ी की 'पेरोडी' ने ही संभवतः उर्दू में ग़ज़ल के हास्यात्मक रूप 'हज़ल' को जन्म दिया। हज़ल-गोयों में विशेषतः दो नामों का उल्लेख होता है। एक तो 'ज़रीफ़' लखनवी और दूसरे 'अहमक़' फफूंदवी। ये दोनों 'अकबर' की तरह हँसी-हँसी में अपने सामाजिक और राजनीतिक विकास का उद्देश्य पूरा करते दिखाई देते हैं। पाकिस्तान के कवि रईस अमरोहवी ने भी

चुभते हुए व्यंग्यात्मक क़िते कहे हैं। पेरोडियाँ उर्दू में अपेक्षाकृत कम लिखी गयी हैं, फिर भी लाहौर के अली सरदार जाफ़री पेरोडियों में भी नाम कर चुके हैं।

गद्य में, जैसा पहले कहा जा चुका है, हास्य रस का स्पष्ट प्रकाशन 'अवध पंच' के समय से मिलता है। हास्य पैदा करने वाले चरित्रों के निर्माण से यह शैली आरंभ हुई, किन्तु आरंभ में चरित्र असाधारण ही नहीं, अस्वाभाविक होते थे। बीसवीं शताब्दी के हास्य गद्यकारों ने हास्यात्मक चरित्र भी दिखाये तो स्वाभाविकता और वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए। अधिकतर हास्य शैली—निराली उपमाओं, अजीब दृष्टिकोण आदि—के आधार पर पैदा किया गया। कुछ हास्य कथाकारों ने शुरू से ही कथानक इस प्रकार का लिया और घटनाक्रम ऐसा बनाया कि क़दम-क़दम पर हँसी के फ़व्वारे छूटने लगे। वर्तमान युग के हास्यकारों में अज़ीम बेग चग़ताई, पतरस, मुल्ला रमूज़ी, फ़रहतुल्ला बेग, शौकत थानवी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

'पितरस'—आल इण्डिया रेडियो के भूतपूर्व डाइरेक्टर स्वर्गीय अहमद शाह बुख़ारी 'पितरस' के नाम से हास्य-रचना करते हैं। वे हास्यात्मक निबंध अधिक लिखते हैं, कभी-कभी हास्य कथाएँ भी लिखते हैं। 'पितरस' ने चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक विशेषज्ञ का कमाल दिखाया है। उनके चरित्र अपने स्वाभाविक रूप में बातें और काम करते हैं और यह भी समझ नहीं पाते कि उनकी बातों को और लोग किस नज़र से देखते हैं। 'पितरस' की एक विशेषता यह है कि उनके चरित्रों की हरकतें दूसरों के साथ मिलते समय ही हास्य की सृष्टि नहीं करतीं, बल्कि अकेले में भी उनके उठने-बैठने, चलने-फिरने आदि के विशेष ढंग पर, जिनके विवरण में आश्चर्यजनक पूर्णता होती है, बेतरह हँसी आती है। कहानियों में उनका प्लाट काफ़ी सीधा-सादा होता है और चरित्र भी जनसाधारण का ही दिखाते हैं, किन्तु इस अन्दाज़ से दिखाते हैं कि साधारण ही असाधारण हो जाता है। हास्यात्मक लेखों में भी 'पितरस' दैनिक जीवन की साधारण वस्तुओं का उल्लेख हास्यात्मक ढंग से करते हैं और उन पर निराले ढंग से व्यंग्य किया करते हैं। केवल शब्दों के बल पर हास्य पैदा कर देना 'पितरस' की विशेषता है। उनके लेखों में हमें वर्तमान जीवन की गंदगियों और

बुराइयों का वह रूप दिखाई दे जाता है, जो साधारणतः हमारी दृष्टि से ओझल रहता है। लेकिन ये बुराइयाँ कुछ इस ढंग से सामने आती हैं कि जुगुप्सा या क्षोभ के भाव जागृत होने की बजाय हँसी आती है,साथ ही लेखक जो कुछ कहना चाहता है, उसका प्रभाव और गहरा होता है। 'पितरस' की गद्य में वही शैली है, जो 'अकबर' इलाहाबादी की पद्य में है। उदाहरण के लिए वे 'लाहौर का जुग़राफ़िया' नामक निबंध में लाहौर के यातायात के साधनों के बारे में लिखते हैं—"जो सय्याह लाहौर तशरीफ़ लाने का इरादा रखते हों उन्हें यहाँ के ज़राये-आमदो-रफ्त के मुतअल्लिक़ चन्द बातें ज़ेहननशीन कर लेनी चाहिए ताकि वह यहाँ की सियाहत से कमाहुक़्क़हू असर-पिज़ीर हो सकें। जो सड़क बल खाती हुई लाहौर के बाज़ारों से गुज़रती है तारीख़ी एतबार से अहम है। यह वही सड़क है जिसे शेरशाह सूरी ने बनाया था। यह 'आसारे-क़दीमा' में शुमार होती है और बेहद इहतराम की नज़रों से देखी जाती है; चुनाँचे इसमें किसी क़िस्म का रद्दो-बदल नहीं किया जाता। वह क़दीम तारीख़ी गढ़े और ख़न्दकें ज्यूँ की त्यूँ मौजूद हैं जिन्होंने कई सल्तनतों के तख़्ते उलट दिये थे। आज कल भी कई लोगों के तख़्ते यहाँ उलटते हैं और 'अज़मते-रफ़्ता' की याद दिलाकर इंसानों को इबरत सिखाते हैं। बाज़ लोग ज़्यादा इबरत पकड़ने के लिए इन तख़्तों के नीचे दो एक पहिए भी लगा लेते हैं और सामने दो हुक लगाकर उनमें एक घोड़ा टाँक देते हैं। इस्तलाह में इसको ताँगा कहते हैं। शौक़ीन लोग इस तख़्ते पर मोमजामा मँढ़ लेते हैं ताकि फिसलने में सहूलियत हो और बहुत ज़्यादा इबरत पकड़ी जाय···।"

फ़रहतुल्ला बेग—यह दिल्ली के रहने वाले थे और इन्होंने अपने गुरु मौलवी नज़ीर अहमद तथा प्रसिद्ध आलोचक मौलवी वहीदुद्दीन 'सलीम' का हास्यात्मक परिचय लिख कर हास्य-लेखन में अपना स्थान बना लिया है। तारीफ़ की बात यह है कि इन्होंने उन दोनों सज्जनों का हास्यचित्र पेश किया है, लेकिन उनके प्रति सम्मान में कोई कमी नहीं आने दी है। 'सलीम' ने तो ख़ुद ही इनसे कहा था कि तुमने अपने गुरुको उनका हास्यचित्र देकर अमर कर दिया। इन्होंने भी शोख़ी में कह दिया कि आप फ़िक्र न कीजिए, मर जाइए तो आप पर भी लिख दूंगा। संयोग से 'सलीम' साहब इसके एक वर्ष बाद मर

ही गये और फ़रहतुल्ला बेग को अपना वादा पूरा करना पड़ा। उनकी शैली में खुलकर हँसने का मौक़ा नहीं मिलता, पढ़नेवाला सिर्फ़ मुस्कुरा सकता है फिर भी उसका मूड हँसी-ख़ुशी का हो जाता है और यह मूड काफ़ी देर तक रहता है। कभी-कभी वे हलका व्यंग्य भी कर देते हैं, किन्तु उसका आनन्द समझने वाला ही उठा सकता है। उनकी भाषा ठेठ दिल्ली की टकसाली ज़बान है और वे बहुधा ऐसे शब्द और मुहावरे भी ले आते हैं, जो दिल्ली के अलावा और कहीं नहीं बोले जाते। फिर भी भाषा के संतुलन में इससे कोई अन्तर नहीं आता, बल्कि कथनोपकथन का आनन्द बढ़ जाता है। उनके 'नज़ीर अहमद का हुलिया' का एक पैरा देखिए—

"एक रोज़ मौलवी साहब अरबी पढ़ा रहे थे कि एक शेर ऐसा आया जिससे किताब छोड़कर हँसते-हँसते लोट गये। पूछा गया तो कहा, 'भई, हम बहुत ग़रीब थे। न खाने को रोटी न पहनने को कपड़ा। मसजिद में पढ़ता था और मुहल्ले भर की रोटियाँ जमा करता। डिप्टी अब्दुल हामिद के मकान में जैसे ही क़दम रखा वैसे ही उनकी लड़की टाँग लेती। जब तक मुझसे सेर दो सेर मसाला न पिसवा लेती न घर से निकलने देती न रोटी का टुकड़ा देती। ख़ुदा जाने कहाँ से मुहल्ले भर का मसाला उठा लाती। पीसते-पीसते हाथों में घट्टे पड़ गये थे। जहाँ मैंने हाथ रोका और उसने बट्टा उँगलियों पर मारा यह लड़की कौन थी ? म्याँ, यह लड़की वह थी जो बाद में हमारी बेगम साहबा हुई।"

अज़ीम बेग चग़ताई—अज़ीम बेग चग़ताई की हास्य कथाएँ और हास्य उपन्यास 'शरीर बीबी' और 'कोलतार' हिन्दी में भी अनूदित हो गये हैं। यह हैदराबाद में वकील थे। कहानी-लेखिका अस्मत चग़ताई के वह बड़े भाई थे। अज़ीम बेग चग़ताई का आर्ट यह है कि वह शब्दों और वाक्यविन्यासों से हास्य पैदा नहीं करते, बल्कि कथानक ही इस तरह बनाते हैं और उसे इस भोलेपन के साथ कह देते हैं कि हँसी नहीं रुकती। इसके अलावा वे छोटी-छोटी चीज़ों—चुहियाँ, झींगुर, चींटे, कुत्ते—आदि का वर्णन इस पहलू से करते हैं कि यह नगण्य महत्त्व के जीव-जन्तु भी हास्य की परिस्थिति पैदा कर देते हैं। अन्य हास्यकारों

किसी तरह राजनीतिक, सामाजिक या धार्मिक व्यंग्य रहता है जिससे किसी की भावनाओं को ठेस लगे, न किसी व्यक्ति-विशेष पर छींटाकशी होती है। उनका हास्य शुद्ध हास्य का नमूना है, जो हमें कुछ सिखाने का दावा नहीं करता, बल्कि जीवन में हँसी-खुशी का वातावरण पैदा करता है। उनका हास्य तेज होता है—आप बग़ैर हँसे रह नहीं सकते—लेकिन इस तेजी के लिए उन्हें सज्जाद हुसेन के हाजी बग़लोल या 'सरशार' के खोजी की सृष्टि नहीं करनी पड़ती। जीवन के साधारण निरीक्षण से ही उन्हें अपने चरित्र मिल जाते हैं और घटनाएँ भी साधारण जीवन की होती हैं, किन्तु वे कलापूर्वक घटनाओं को एक दूसरे में जोड़ते इस तरह हैं कि हास्य के वातावरण की सृष्टि हो जाती है।

शौकत थानवी—शौकत थानवी भी हिन्दी अनुवादों में काफ़ी आ चुके हैं। आजकल वे पाकिस्तान में हैं। बीस-पच्चीस वर्ष पूर्व उनकी 'स्वदेशी रेल' ने काफ़ी प्रसिद्धि पा ली थी। पहले वे लखनऊ में 'सर पंच' नामक हास्य पत्र निकाला करते थे। उनकी भी कई पुस्तकें छप चुकी हैं। शौकत थानवी हास्य रस की कहानियाँ नहीं लिखते, बल्कि अधिकतर लेखों के ही क्षेत्र में रहते हैं। वे चग़ताई की भाँति शुद्ध हास्य भी पैदा करते हैं और व्यंग्यात्मक लेख भी लिखा करते हैं। शौकत थानवी का क्षेत्र हास्य तक ही सीमित नहीं है। वे कवि भी हैं और नाटककार भी। नाटकों के क्षेत्र में वे मुख्यतः रेडियो-नाटक लिखा करते हैं।

इम्तियाज अली 'ताज'—'ताज' के चचा छक्कन उर्दू संसार के इतने ही सर्वप्रिय चरित्र हैं, जितने पण्डित रतननाथ सरशार के खोजी। उन्होंने एक खाते-पीते परिवार के सम्मानित मुख्याधीश और स्वभाव से झक्की चरित्र के रूप में चचा छक्कन को सबका प्यारा बना दिया है। चचा छक्कन का इरादा हमेशा अच्छी से अच्छी बात करने का होता है, किन्तु दुर्भाग्यवश उनके नेक इरादों की परिणति इसी बात में होती है कि लोग उन्हें और झक्की समझने लगते हैं। ताज की भाषा बहुत शोख़ और चलती हुई होती है, यद्यपि कुछ फ़ारसी-युक्त होती है। फिर भी उसमें प्रवाह बहुत होता है और हास्यकार के रूप में 'ताज' को अत्यन्त सफल बना देता है।

मुल्ला रमूज़ी—मुल्ला रमूज़ी अपनी 'गुलाबी' उर्दू पर काफी प्रसिद्ध

हुए थे। उर्दू के वाक्यों में शब्दों को उलट-पलट कर रख देने से ही गुलाबी उर्दू की सृष्टि की गयी थी। इसमें संदेह नहीं कि कुछ देर तक इस तरह की बनी हुई भाषा को पढ़ने में आनन्द आता है और अच्छी ख़ासी हँसी आती है, किन्तु एक भाषा शैली मात्र ही हास्य का आधार नहीं हो सकती। गुलाबी उर्दू के दो-चार पैराग्राफ़ पढ़ने के बाद ही उससे जी ऊबने लगता है। जिस भाषा को किसी विशेष चरित्र के मुँह से कभी-कभी कहलवा कर हमेशा के लिए ताज़गी पैदा की जा सकती थी, उसी के शत-प्रतिशत व्यवहार से उलझन पैदा होती है और हास्यकार के रूप में वे विशेष सफल नहीं रहते।

रशीद अहमद सिद्दीक़ी—यह अभी हाल ही तक अलीगढ़ यूनीवर्सिटी के प्रोफ़ेसर थे। आलोचना क्षेत्र में प्रमुख स्थान बनाने के साथ ही वे अपने हास्यात्मक निबंधों से भी प्रसिद्ध हुए हैं, किन्तु उनके हास्य और व्यंग-संकेत बहुत ही हलके और कोमल होते हैं और सर्वसाधारण के लिए हास्य की कोटि में नहीं आते।

: १५ :

प्रगतिवादी युग

'अकबर' इलाहाबादी, 'इक़बाल' और चकबस्त की नवचेतना ने उर्दू काव्य को राजनीतिक क्षेत्र में ला खड़ा किया। इसके पहले 'हाली' और मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद' ने उर्दू काव्य को वैयक्तिक चेतना के संकुचित क्षेत्र से निकाल कर सामाजिक चेतना के विशाल क्षेत्र में प्रविष्ट किया था। फिर भी उनका यह प्रारंभिक प्रयास था और 'अकबर', 'इक़बाल' और चकबस्त ने इस चेतना का आधार दृढ़ किया और उसे ऐसी ऊँचाइयों पर ले गये, जहाँ हरएक की निगाह उन पर पड़ सके।

फिर भी काव्य-चेतना की यह आख़िरी मंज़िल न थी। बीसवीं शताब्दी के आरंभ काल में तत्कालीन निष्क्रियता और सामाजिक महत्त्व-हीनता के प्रति विद्रोह तो पूरे ज़ोर से उमड़ रहा था, किन्तु उसने अपनी कोई निश्चित राह नहीं बनायी थी। चकबस्त ने लिबरल प्रजातन्त्रवाद का रास्ता ज़रूर स्पष्टतः बताया था, लेकिन इसी अरसे में भारत में राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में और उनके प्रभाव से दृष्टिकोणों में इतने आकस्मिक और आमूल परिवर्तन हुए कि पुराने राजनीतिक मूल्य बेकार हो गये। १९१७ की रूसी राज्यक्रान्ति और आयरलैण्ड के सफल स्वाधीनता संग्राम ने भारतीय राजनीतिक चेतना को नया मोड़ दिया। स्वतंत्रता संग्राम यहाँ भी विराट् रूप लेने लगा और उसके अग्रिम सैनिक समाजवाद की ओर झुक गये। १९२९ ई० के विश्वव्यापी आर्थिक संकट ने भारत की नवजागृत राजनीतिक चेतना का पूँजीवाद में विश्वास खो दिया। यहाँ तक कि १९३४ ई० में कराची कांग्रेस के अधिकतर प्रस्ताव समाजवादी आधार पर थे। उसी वर्ष जवाहर लाल नेहरू की प्रेरणा से कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। साम्यवादी दल इसके पूर्व ही बन चुका था और सरकार द्वारा अवैध घोषित होने पर भी गुप्त

रूप से कार्य कर रहा था। बाद मे सुभाष बोस और मानवेन्द्र नाथ राय ने भी अपने अनुयायियों मे समाजवादी चेतना को प्रोत्साहित किया। संक्षेप में इस शताब्दी का चौथा दशक जागरूक राष्ट्रवादियो के समाजवाद की ओर उन्मुख होने का था।

इस नयी चेतना का साहित्य पर प्रभाव पड़ना भी अवश्यंभावी था। नयी पीढ़ी के कवि और कथाकार इस सामाजिक क्रांति के सुस्पष्ट दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हुए। तत्कालीन छात्र आन्दोलनों ने भी इस काम मे बड़ी सहायता की और हर जगह प्रतिभावान् नवयुवक लेखक पूँजीवाद के विरोध, सामाजिक समानता और सामूहिक औद्योगिक प्रयत्न के पक्ष मे आवाज़ उठाने लगे। इनमें कुछ की राजनीतिक चेतना परिपक्व थी और कुछ समाजवाद की समानतावादी नीति के प्रति केवल भावनात्मक रूप से आकृष्ट हुए थे। किन्तु साहित्य के क्षेत्र में केवल भावनात्मक आकर्षण भी यथेष्ट था। इसलिए शीघ्र ही यह लोग एक ही मोर्चे पर जम गये और १९३६ मे 'प्रगतिशील लेखक संघ' का जन्म हुआ।

प्रगतिवादी आन्दोलन वैसे तो भारत की प्रत्येक भाषा के क्षेत्र में लगभग एक ही समय आरंभ हुआ और द्वितीय महायुद्ध के बाद तक प्रायः सबमें समान रूप से चलता रहा, किन्तु उर्दू मे उसके बाद भी इसका ज़ोर बना रहा, बल्कि इतना बढ़ गया कि शताब्दी के चौथे और पाँचवे दशक में उर्दू में यह प्रवृत्ति सर्वोपरि हो गयी। यह ठीक है कि अपनी आरंभिक नारेबाज़ी को छोड़कर अब यह प्रवृत्ति गंभीर चेतना का रूप धारण कर चुकी है। इसके प्रमुख प्रवर्तकों का उल्लेख नीचे किया जाता है।

'जोश' मलीहाबादी—'जोश' मलीहाबादी ने कुछ अर्थों में इक़बाल की परम्परा को सँभाला है। उनकी कविता मे शक्ति-प्रदर्शन की बिजलियाँ छूटती दिखाई देती हैं! निर्भयता और अक्खड़पन उनके एक-एक शब्द में व्याप्त है और इसी खरेपन ने उन्हें इस शताब्दी के चौथे और पाँचवें दशक का अत्यन्त लोकप्रिय कवि बना दिया था। उस समय लोकप्रियता की दृष्टि से 'जिगर' मुरादाबादी के बाद 'जोश' का ही नम्बर था।

शब्बीर हसन ख़ाँ 'जोश' १८९४ ई० में मलीहाबाद (ज़िला लखनऊ)

के एक जाँगीरदार वंश में पैदा हुए। उनके प्रपितामह फ़क़ीर मुहम्मद ख़ाँ 'गोया' अमीरुद्दौला की सेना मे रिसालदार थे और साहित्य क्षेत्र के भी महारथी। उन्होंने ग़ज़लों का एक दीवान और गद्य की प्रख्यात पुस्तक 'बुस्ताने-हिकमत' लिखी थी। जोश के पितामह मुहम्मद अहमद ख़ाँ 'अहमद' और बशीर अहमद ख़ाँ 'बशीर' भी शायर थे। इस प्रकार उन्हें साहित्य-सेवा की वंश परम्परा भी मिली। स्वयं कहते है कि बचपन में उन पर जागीरदाराना शान का बड़ा प्रभाव पड़ा था और क्रोध और ज़िद उनकी घुट्टी में पड़ गया था (जो अब तक मौजूद है)। उनकी औपचारिक शिक्षा अधिक नहीं हुई। बचपन से ही भावुकता के संसार में रहने लगे और इसी क्षेत्र में उत्तरोत्तर उच्च शिखरों पर चढ़ते गये। जवानी के शुरू में वे अत्यन्त धर्मप्राण हो गये थे। नमाज़ रोज़े की सख़्ती से पाबंदी करते थे, दाढ़ी रख ली थी और मांस-भक्षण भी छोड़ दिया था। किन्तु यकायक विचारों में ऐसा परिवर्तन हुआ कि धर्म का बाह्य आवरण भी अपने ऊपर नहीं रहने दिया, जीवन को पूर्णतः भौतिक स्तर पर भोगने लगे, सुरा और सुन्दरियों का खुलकर उपयोग करने लगे। कहा जाता है कि उन्होंने अठारह बार प्रेम-व्यापार किया,जिनमें एक को छोड़कर अन्य सभी में वे सफल रहे। जहाँ तक सुरापान का सम्बन्ध है, उनका यह शग़ल अब तक पूरे ज़ोर से जारी है।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान में उन्होंने 'ईस्ट इंडिया कम्पनी के फ़रज़न्दों के नाम', 'वफ़ादाराने-अज़ली का पयाम शहंशाहे-हिन्दोस्ताँ के नाम', 'शिकस्ते-ज़िन्दाँ का ख़्वाब' ऐसी गरजती-गूँजती ब्रिटिश-विरोधी नज़्मे लिखीं कि वे प्रगतिशील कवियों में प्रमुख हो गये। प्रगतिशीलों ने उन्हें अपने दायरे में ले लिया और वे बहुत दिनों तक कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के अनुसार कविता में संदेश देते रहे। किन्तु दरअस्ल वे बौद्धिक रूप से मार्क्स के दर्शन से कभी प्रभावित न हुए। उन्हें प्रभावित करने वाला तो केवल नीत्शे का शक्तिवादी और धर्म-विरोधी दर्शन तथा उमर ख़य्याम और हाफिज़ के दर्शन का बाह्य रूप (हाला-वाद) था। उनकी कविता में विचार तत्त्व गहरा नहीं है, किन्तु ओजपूर्ण अभिव्यंजना में उनकी टक्कर का शायद और कोई नहीं है। युद्ध काल में उन्होंने अपनी नज़्मों के कारण कारावास भोगा, फिर बम्बई चले गये, जहाँ फ़िल्मों के

लिए गीत लिखने लगे। फिर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद दिल्ली में भारत सरकार के पत्र 'आजकल' का सम्पादन-कार्य सँभाला और दो-तीन साल से पाकिस्तान जा बसे हैं।

'जोश' की कविता में रोमांस भी है, किन्तु उसमें करुणा का हलका-सा पुट भी नहीं मिलता, केवल उल्लास और मस्ती है। किन्तु यह भौतिकतावादी मस्ती भी अनुभूति की चरम सीमा तक पहुँची हुई मालूम होती है। 'जोश' की भाषा उनके उल्लास और कड़क-दमक के अनुरूप फ़ारसीमय होती है, किन्तु उसके प्रवाह में कमी नहीं होती। उनके आठ दस काव्य-संग्रह निकल चुके हैं, जिनमें 'सैफ़ो-सुब्', 'नक्शो-निगार', 'हर्फ़ो-हिकायत' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। निम्नलिखित नज़्म से उनकी काव्य-शैली का आभास मिल सकता है—

> **मजहबी इख़लाक़ के जज़्बे को ठुकराता है जो**
> **आदमी को आदमी का गोश्त खिलवाता है जो**
> **फ़र्ज़ भी कर लूँ कि हिन्दू हिन्द की रुसवाई है**
> **लेकिन इसको क्या करूँ फिर भी वो मेरा भाई है**
> **बाज़ आया मैं तो ऐसे मज़हबी ताऊन से**
> **भाइयों का हाथ तर हो भाइयों के ख़ून से**
> **तेरे लब पर है इराक़-ओ-शाम-ओ-मिस्र-ओ-रूम-ओ-चीं**
> **लेकिन अपने ही वतन के नाम से वाक़िफ़ नहीं**
> **सब से पहले मर्द बन हिन्दोस्ताँ के वास्ते**
> **हिन्द जाग उट्ठे तो फिर सारे जहाँ के वास्ते**

'अख़्तर' शीरानी—'अख़्तर' शीरानी को बीसवीं शताब्दी का सबसे प्रमुख रोमांसवादी शायर कहा जा सकता है। इनका नाम मुहम्मद दाऊद ख़ाँ था और यह ४ मई, १९०५ ई० को टोंक रियासत में पैदा हुए थे। १९२० ई० में इनके पिता इन्हें लाहौर ले आये और औपचारिक शिक्षा दिलाना आरंभ किया, किन्तु इनका ध्यान पूर्णतः कविता में ही लगा था और यह पढ़ नहीं सके, सिर्फ़ किसी तरह 'मुंशी फ़ाज़िल' की परीक्षा पास कर ली। इसके बाद इन्होंने क्रमशः

'हुमायूँ', 'इंतख़ाब', 'ख़यालिस्तान', 'रोमान' और 'शाहकार' का सम्पादन किया। ९ सितम्बर, १९४८ ई० को तेतालिस वर्ष की अवस्था में ही इनका देहावसान हो गया। गद्य में इनकी पुस्तकें 'ज़ुहाक', 'आइनाख़ाने में' और 'धड़कते दिल' हैं। मुख्यतः यह कवि थे और इनके आठ काव्य-संग्रह—'फूलों के गीत', 'नग्मए-हरम', 'सुब्हे-बहार', 'अख़्तरिस्तान', 'लालए-तयूर', 'तयूरे-आवारा'; 'शहनाज़' और 'शहरोद'—प्रकाशित हो चुके हैं।

अख़्तर की शायरी में हमे रोमांसवाद का वास्तविक, किन्तु अत्यन्त निखरा हुआ रूप दिखाई देता है। उनकी भाषा बड़ी मीठी है और अनुभूतियाँ वास्तविक। उनका प्रेम सौ फ़ीसदी भौतिक है। उसे किसी तरह भी कोई और रूप नहीं दिया जा सकता। हद यह है कि उन्होंने अपनी कविताओं में सलमा, रैहाना, शीरीं आदि अपनी प्रेयसियों के नामों का भी उल्लेख कर दिया है। फिर भी उनकी रोमांसवादी कविताएँ हलकी नहीं कही जा सकतीं। उनमें समर्पणवादी प्रेम की तड़प है। वे 'जोश' की भाँति केवल सौन्दर्य की अनुभूति का आनन्द लेना ही नहीं जानते, उसमें तड़पना भी जानते हैं। उन्हें संयोग से अधिक वियोग का अनुभव है और इसी से उनकी कविता में एक मधुर-मधुर सी टीस बनी रहती है। कविता का नमूना निम्नलिखित है—

ऐ इश्क़ न छेड़ आ आ के हमें हम भूले हुओं को याद न कर
पहले ही बहुत नाशाद हैं हम तू और हमें नाशाद न कर
क़िस्मत का सितम ही कम तो नहीं यह ताज़ा सितम ईजाद न कर

यूँ ज़ुल्म न कर बेदाद न कर
ऐ इश्क़ ! हमें बरबाद न कर

यह रोग लगा है जब से हमें रंजीदा हूँ मैं बीमार है वह
हर वक़्त तपिश हर वक़्त ख़लिश बेख़्वाब हूँ मैं बेदार है वह
जीने से इधर बेज़ार हूँ मैं मरने पे उधर तय्यार है वह

और ज़ब्त कहे फ़रयाद न कर
ऐ इश्क़ ! हमें बरबाद न कर

फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़'—उर्दू के प्रगतिशील कवियों में सबसे अधिक प्रतिष्ठा 'फ़ैज़' को प्राप्त है। 'फ़ैज़' का जन्म १९११ ई० में स्यालकोट में हुआ था। उन्होंने बी० ए० तक वहीं शिक्षा प्राप्त की। फिर लाहौर आये और गवर्नमेंट कालेज में अंग्रेज़ी और अरबी में एम० ए० की परीक्षाएँ क्रमशः १९३३ ई० और १९३४ ई० में पास कीं। १९३४ ई० से १९४० ई० तक एम० ए० ओ० कालेज अमृतसर में प्राध्यापक रहे। इसके बाद दो वर्ष तक हेली कालेज लाहौर में रहे। १९४२ ई० में वे फ़ौज के सूचना विभाग में चले गये और १९४७ ई० में सेना से अलग होते समय कर्नल के पद पर थे। पाकिस्तान बनने पर उन्होंने लाहौर में अंग्रेज़ी 'पाकिस्तान टाइम्स' और उर्दू 'इमरोज़' का सम्पादकत्व सँभाला। १९५१ ई० में वे रावलपिंडी षड्यन्त्र केस में कारावास में बन्द कर दिये गये। १९५५ ई० में रिहा हुए तो फिर उपर्युक्त पत्रों में आ गये। १९५८ ई० में पाकिस्तान में सैनिक शासन क़ायम होने पर उन्हें फिर गिरफ्तार कर लिया गया, किन्तु एक वर्ष के बाद १९५९ ई० के अंतिम महीनों में उन्हें फिर रिहा कर दिया गया।

'ग़ालिब' और 'असग़र' गोंडवी की भाँति 'फ़ैज़' ने भी बहुत कम लिखा है। उनके केवल तीन छोटे-छोटे कविता-संग्रह—'नक़्शे-फ़रियादी', 'दस्ते-सबा' और 'ज़िन्दाँ-नामा' हैं। 'ग़ालिब' और 'असग़र' की तरह 'फ़ैज़' ने भी अपने कलाम में बहुत काट-छाँट कर के उसे प्रकाशित किया है। इसीलिए उनकी जो कविता है, वह बोलती हुई है, जो पंक्ति है, वह पत्थर की लकीर बन जाती है। उनकी दृष्टि स्पष्टतः सामाजिक है, किन्तु उनकी चेतना भावना के उद्रेक तक ही सीमित नहीं, उसमें बौद्धिकता और भावुकता के उचित सामंजस्य के आधार पर बड़ी गहराई पैदा हो गयी है और इसी विशेषता ने उनकी कविता को राजनीतिक अथवा सामाजिक प्रचार होने से बचा लिया है। फ़ैज़ की अभिव्यंजना की विशेषता उनका भावनात्मक यथार्थवाद है। सीधे-सादे शब्दों में—केवल ध्वनियों के कलापूर्ण सामंजस्य और भावना के अनुरूप उचित शब्दों के प्रयोग के आधार पर—वे अद्वितीय प्रभाव पैदा कर देते हैं। उपमाओं तथा अन्य अलंकारों का प्रयोग वे या तो करते ही नहीं, या फिर नयी उपमाएँ और नये शब्द-विन्यास इस ख़ूबी के साथ गढ़ते हैं कि अभिव्यंजना में सिर्फ़ नवीनता

ही नहीं पैदा होती, बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए नये रास्ते खुल जाते हैं। आधुनिक कवियों में शायद 'फ़ैज़' ने ही उर्दू को सबसे अधिक अभिव्यंजना शक्ति प्रदान की है। उदाहरण के लिए उनकी एक छोटी नज़्म 'तनहाई' आगे दी जा रही है--

> **फिर कोई आया, दिले - ज़ार ! नहीं, कोई नहीं**
> **राह रौ होगा, कहीं और चला जायेगा**
> **ढल चुकी रात, बिखरने लगा तारों का ग़ुबार**
> **लड़खड़ाने लगे ऐवानों में ख़्वाबीदा चिराग़**
> **सो गयी रास्ता तक तक के हर इक राह गुज़ार**
> **अजनबी ख़ाक ने धुँधला दिये क़दमों के सुराग़**
> **गुल करो शमएँ, बढ़ा दो मै-ओ-मीना-ओ-अयाग़**
> **अपने बेख़्वाब किवाड़ों को मुक़फ़्फ़ल कर लो**
> **अब यहाँ कोई नहीं, कोई नहीं आयेगा**

असरारुल हक़ 'मजाज़'--'मजाज़' को कुछ आलोचक उर्दू का कीट्स कहते हैं। वास्तव में रोमांस के साथ जितनी तड़प 'मजाज़' ने पैदा की, उतनी शायद ही किसी के नसीब में आयी हो। मजाज़, २ फ़रवरी, १९०९ ई० को लखनऊ के समीप कस्बा रुदौली में पैदा हुए थे। उन्होंने लखनऊ के अमीनाबाद हाई स्कूल से हाई स्कूल की परीक्षा पास की। इन्टर में आगरा के सेन्ट जोन्स कालेज में प्रविष्ट हुए, किन्तु वहाँ से इन्टर न कर सके। हाँ, उस समय उनकी कविता शुरू हो गयी थी और सहपाठी की हैसियत से मुईन अहसन 'जज़्बी' (जो उस समय 'मलाल' तख़ल्लुस करते थे--'मजाज़' उन दिनों 'शहीद' तख़ल्लुस करते थे) और प्रमुख कवियों में 'फ़ानी' का उन्हें साथ मिला। इन्टर में फ़ेल होने पर वे अलीगढ़ आ गये और यहाँ अपने कवित्व की धूम मचा दी। १९३६ ई० में उन्होंने बी० ए० किया और उसी समय रेडियो की पत्रिका 'आवाज़' के सम्पादक होकर दिल्ली चले गये। किन्तु दिल्ली में एक प्रेम के असफल होने पर उन्होंने बेतहाशा सुरापान आरंभ कर दिया और एक साल में ही नौकरी छोड़कर लखनऊ आ गये। १९४० में उन पर

नर्वस ब्रेक डाउन का दौरा पड़ा, लेकिन फिर इलाज से ठीक हा गय। इसके बाद वे कुछ दिनों बम्बई इनफ़ार्मेशन में काम करते रहे। फिर लखनऊ आकर सरदार जाफ़री और सिब्ते-हसन के साथ 'नया अदब' नामक प्रगतिशील मासिक पत्र का सम्पादन किया। फिर दिल्ली की हार्डिंज लाइब्रेरी में असिस्टेन्ट लाइ-ब्रेरियन हो गये। किन्तु १९४५ ई० में उनपर उन्माद का दूसरा दौरा पड़ा। इसके बाद 'मजाज़' सँभल ही न सके। शराब उनके लिए ज़हर का काम करती थी, लेकिन वे पीते ही गये। अंत में ६ दिसम्बर १९५५ ई० को इसी के कारण उनके मस्तिष्क की रग फट गयी और वे असमय हीं—पूरे ४७ के भी नहीं हो पाये थे—काल-कवलित हो गये।

'मजाज़' का कवि जीवन वास्तव में बहुत कम दिन रहा। १९३० ई० में उन्होंने काव्य-साधना आरंभ की थी और १९५० ई० के बाद दो ही चार नज़्में लिखीं। उनका केवल एक ही काव्य-संग्रह 'आहंग' है। इसकी भूमिका में 'फ़ैज़' ने लिखा है कि "मजाज़ इनक़लाब का ढिंढोरची नहीं, इनक़लाब का मुतरिब है, उसके नग्मे में बरसात के दिन की सी सुकूँबख़्श ख़ुनकी है और बहार की रात की सी गर्म जोश तासीर आफ़रीनी।" दरअस्ल मजाज़ की कविता में बौद्धिक पहलू काफ़ी निखरा हुआ है, किन्तु रोमांस उनकी चेतना का आधार मालूम होता है। प्रेम की असफलता की कसक उनके काव्य में साफ़ मालूम होती है, लेकिन वे उसका आधार सामाजिक असमानता मानते हैं। उनकी प्रसिद्ध नज़्म 'आवारा' के तीन बंद उदाहरण-स्वरूप आगे दिये जाते हैं—

इक महल की आड़ से निकला वो पीला माहताब
जैसे मुल्ला का अमामा जैसे बनिये की किताब
जैसे मुफ़लिस की जवानी जैसे बेवा का शबाब
ऐ ग़मे-दिल क्या करूँ ऐ वहशते-दिल क्या करूँ

दिल में इक शोला भड़क उट्ठा है आख़िर क्या करूँ
मेरा पैमाना छलक उट्ठा है आख़िर क्या करूँ
ज़ख़्म सीने का महक उट्ठा है आख़िर क्या करूँ
ऐ ग़मे-दिल क्या करूँ ऐ वहशते-दिल क्या करूँ

जी में आता है ये मुर्दा चाँद तारे नोच लूँ
इस किनारे नोच लूँ और उस किनारे नोच लूँ
एक दो का ज़िक्र क्या सारे के सारे नोच लूँ
ऐ ग़मे-दिल क्या करूँ ऐ वहशते-दिल क्या करूँ

मुईन अहसन 'जज़्बी'—'जज़्बी' यद्यपि प्रगतिवादी शिविर में उसके स्थापित होने के समय से ही हैं, तथापि उनकी ख्याति उनकी करुणात्मक ग़ज़लों के द्वारा ही हुई है। जज़्बी २१ अगस्त, १९१२ ई० को पैदा हुए। इनके परिवार में साहित्यिक वातावरण आरंभ से ही था। इनके पितामह डा० अब्दुल ग़फ़ूर 'मुतीअ' थे, जिन्होंने एक बृहत् कोश का सम्पादन किया था। फूफी ख़ातून अकरम उर्दू के लेखक राज़िक़ुल ख़ैरी की पत्नी थीं और स्वयं भी लेखिका थीं। इसी वातावरण में रहकर मुईन अहसन नौ वर्ष की अवस्था से कविता करने लगे। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपना तख़ल्लुस 'मलाल' रखा और दिल्ली के प्रसिद्ध कवि 'सादिक़' के शिष्य हो गये, जिन्होंने इनकी प्रतिभा को खूब चमका दिया। इन्टर में पढ़ने के लिए यह आगरे के सेंट जोंस कालेज गये और वहीं 'शहीद' ('मजाज़') और 'फ़ानी' बदायूनी से इनकी भेंट हुई। किन्तु इम्तहान में फ़ेल हो गये। फिर लखनऊ आकर पढ़ने लगे। इंटर पास करके दिल्ली पढ़ने गये, लेकिन दर्शन शास्त्र में फ़ेल हो गये। इसके बाद कुछ दिनों भोपाल में अध्यापन-कार्य किया, फिर लखनऊ में 'नया अदब' में काम किया, दिल्ली के 'आजकल' में काम किया (यह युद्ध काल की बात है) और आख़िर श्रीमती नायडू ने छात्रवृत्ति दिलायी तो अलीगढ़ में शोध कार्य करने लगे। संयोग से यूनीवर्सिटी में एक स्थान रिक्त हुआ और 'जज़्बी' को प्राध्यापक की जगह मिल गयी। तब से अब तक वे उसी स्थान पर काम कर रहे हैं।

'जज़्बी' निश्चय ही करुणा के कवि हैं।' घर पर सौतेली माँ के व्यवहार, बार-बार फ़ेल होने और जीवन में ठोकर पर ठोकर खाने और निर्धनता के चरके खाने से निराशा का भाव जागृत होना तो स्वाभाविक ही था, 'फ़ानी' के साथ ने उन्हें प्रकाशन की राह भी बता दी और उनकी १९३४ की ग़ज़ल "जीने की दुआएँ क्यों माँगूँ मरने की तमन्ना कौन करे" ने उन्हें एक दम से उर्दू संसार से

परिचित कर दिया। उनके दर्दीले स्वरों में से आँसुओं से भीगे बोल निकलते थे। लेकिन उनकी बौद्धिक जागरूकता भी पूर्ण थी और उन्होंने कालान्तर में सफलतापूर्वक अपना निज का दर्द ज़माने के दर्द में बदल दिया। 'जज़्बी' का केवल एक काव्य-संग्रह 'फ़रोज़ाँ' प्रकाशित हुआ है। उसी से एक नज़्म 'मौत' के दो बन्द दिये जाते हैं—

अपनी सोयी हुई दुनिया को जगा लूँ तो चलूँ
अपने ग़मख़ाने में इक धूम मचा लूँ तो चलूँ
और इक जामे-मए-तल्ख़ चढ़ा लूँ तो चलूँ
अभी चलता हूँ, ज़रा ख़ुद को सँभालूँ तो चलूँ

मेरी आँखों में अभी तक है मुहब्बत का ग़रूर
मेरे होठों को अभी तक है सदाक़त का ग़रूर
मेरे माथे पे अभी तक है शराफ़त का ग़रूर
ऐसे वह्मों से भी अब ख़ुद को निकालूँ तो चलूँ

अली सरदार जाफ़री—सरदार जाफ़री उन प्रगतिशीलों में से हैं, जिनकी राजनीतिक और सामाजिक चेतना उनकी काव्य-चेतना के आगे चलती है। फिर भी उनकी काव्य-चेतना भी पूरे उभार पर होती है और वे एक क्षण के लिए भी 'केवल प्रचारक' नहीं होते। अली सरदार का जन्म बलरामपुर (ज़िला गोंडा) में २९ नवम्बर, १९१३ ई० को हुआ था। उनका घराना मध्यवर्गीय मुसलमानों का घराना था, जिसमें 'अनीस' के मरसियों को धार्मिक सम्मान प्राप्त था। १९३३ ई० में हाई स्कूल करने के समय तक अली सरदार भी मरसिये ही लिखते रहे। फिर वे अलीगढ़ यूनीवर्सिटी पहुँचे, जहाँ उनकी भेंट 'मजाज़', 'जज़्बी', 'ख़्वाजा अहमद अब्बास', अख़्तर हुसैन रायपुरी, सिब्ते-हसन आदि प्रगतिशील युवकों से हुई और वे भी पूरी तरह उनके रंग में रँग गये। विद्यार्थियों की एक हड़ताल कराने के सिलसिले में उन्हें यूनीवर्सिटी से निकाल दिया गया और उन्होंने एंग्लो-एरेबिक कालेज दिल्ली से बी० ए० और लखनऊ यूनीवर्सिटी से एम० ए० किया। छात्र जीवन से ही वे साम्यवादी दल के

सदस्य हो गये थे और उसे छोड़ने पर पूरे तौर पर राजनीतिक कार्यकर्ता हो गये और बम्बई चले गये। पाकिस्तान बनने पर वे वहाँ जाकर भी कुछ दिनों तक साम्यवादी कार्यकर्ता के रूप में रहे थे। वे दो बार रूस भी हो आये हैं और वहाँ के प्रधानमन्त्री ख़ुश्चोव से भी भेंट कर चुके हैं। उनका राजनीतिक और साहित्यिक जीवन सदा की भाँति साथ-साथ चल रहा है। उनके कई कविता-सग्रह—'परवाज़', 'नयी दुनिया को सलाम', 'ख़ून की लकीर', 'अम्न का सितारा', 'एशिया जाग उठा' और 'पत्थर की दीवार'—प्रकाशित हो चुके हैं। अली सरदार की कविता में टेकनीक की पूरी प्रौढ़ता के साथ ही चेतना की भी प्रौढ़ता दिखाई देती है, यद्यपि उनकी चेतना का स्तर 'फ़ैज़' जैसा ऊँचा नहीं है। वे करुणावादी नहीं हैं, किन्तु कोमलतावादी अवश्य हैं। उनका मानव के भविष्य में विश्वास अटूट है। उनकी दृष्टि सामाजिक है, किन्तु वैयक्तिक अनुभूतियों की उपेक्षा का आग्रह उनमें नहीं है। उनकी नज़्म 'पत्थर की दीवार' का आख़िरी बंद देखिए—

तीरगी के बादल से
जुगनुओं की बारिश से
रक़्स में शरारे हैं
हर तरफ़ अँधेरा है
और इस अँधेरे में
हर तरफ़ शरारे हैं
कोई कह नहीं सकता
कौन सा शरारा कब
बेक़रार हो जाये
शोलाबार हो जाये
इनक़लाब आ जाये

अहसान दानिश—अहसान दानिश प्रगतिशील आन्दोलन के प्रारंभिक दिनों में 'जोश' की तरह प्रसिद्ध हो चुके थे। उनका जन्म १९१४ ई० में मुज़फ्फ़र नगर ज़िले के क़स्बा काँधला में हुआ। उनका वंश पवित्रता के लिहाज़ से तो

बहुत ऊँचा था, लेकिन आर्थिक दृष्टि से बहुत ग़रीब था। उन्होंने भी १९२४ ई० में प्राइमरी पास किया। इसके बाद नियमित शिक्षा नहीं हुई। अहसान ने, जिनका असली नाम अहसानुलहक़ है, आरंभ में जीविकोपार्जन के लिए मज़दूरी का सहारा लिया। उन्होंने सड़कों, खेतों आदि में काम किया और चपरासगरी और चौकीदारी भी की। साथ ही कविता भी करते रहे। अंत में संसार की निगाहें इनपर पड़ीं और इन्होंने अपनी प्रकाशन संस्था 'मकतबा दानिश' को अपनी स्वतन्त्र और सम्मानित आजीविका का साधन बना लिया। अहसान के काव्य-संग्रह ये हैं—'नवाए-कारगर', 'चिराग़ाँ', 'आतशे-ख़ामोश'। 'जादएनौ', 'ज़ख़्मो-मरहम', 'मुक़ामात', 'गोरिस्ताँ', 'नफ़ीरे-फ़ितरत'। गद्य में इनकी पुस्तकें 'लुगातुल इस्लाह', 'दस्तूरे-उर्दू', 'ख़िज़्रे उरूज़', 'रोशनियाँ' और 'तबक़ात' हैं। गद्य में भी, जैसा पुस्तकों के नामों से प्रकट है, अधिकतर काव्य और भाषा के नियमों सम्बन्धी लेख ही हैं। अहसान का काव्य टेकनीक के लिहाज़ से बहुत ही मँजा और सुथरा होता है और भाव की दृष्टि से अत्यन्त ओजपूर्ण। हाँ, उसमें बौद्धिक पर्यवेक्षण की कमी ज़रूर दिखाई देती है।

अख़्तरुल ईमान—अख़्तरुल ईमान उन प्रगतिशील लेखकों में से हैं, जो स्पष्ट शैली की बजाय संकेतवादी शैली को अपने भाव-प्रकाश का माध्यम बनाना पसंद करते हैं। इनका जन्म १२ नवम्बर १९१५ ई० को ज़िला बिजनौर के एक खाते-पीते घराने में हुआ था। किन्तु दुर्भाग्य से कुछ ही समय के बाद इनके माता-पिता मर गये और इन्होंने बचपन की आँखें दिल्ली के एक अनाथालय में खोलीं। दिल्ली के ऐंग्लो-एरेबिक कालेज से, जहाँ उनकी फ़ीस माफ़ थी, उन्होंने बी० ए० किया। एम० ए० करने के लिए मेरठ और अलीगढ़ में कोशिश की, लेकिन रुपये का प्रबंध न होने के कारण उन्हें यह आशा छोड़नी पड़ी। १९४४ ई० में वे कहानी और संवाद-लेखक की हैसियत से पूना के शालीमार पिक्चर्स में शामिल हो गये। उस समय उसमें 'जोश' मलीहाबादी, 'साग़र' निज़ामी, क्रिश्नचन्दर, भरत व्यास आदि उच्च कोटि के साहित्यकार जमा थे। शालीमार पिक्चर्स के टूटने पर वे बम्बई चले आये और अब तक फ़िल्मों में संवाद-लेखक के रूप में काम करते हैं। कविता के क्षेत्र में इनका सर्जन कार्य अधिक नहीं तो कम भी नहीं है, 'गिर्दाब', 'सबरंग' और 'तारीक सय्यारा' के

नाम से तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। फिर भी व्यापारिक रूप से इन्होंने कविता का प्रयोग नहीं किया। फ़िल्मी संसार में अख़्तरुल-ईमान केवल संवाद-लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं, गीतकार के रूप में नहीं।

अख़्तरुल ईमान आरंभ में 'फ़ैज़', मुईन अहसन 'जज़्बी' और उर्दू के संभवतः अकेले नितांत प्रतीकवादी या प्रयोगवादी शायर 'मीराजी' से अत्यधिक प्रभावित थे। इनमें भी 'मीराजी' का प्रभाव उनपर सबसे अधिक था। फिर भी वे करुणा के माध्यम से सामाजिकता की ओर उन्मुख हुए। किन्तु उनकी चेतना स्पष्टतः व्यक्तिवादी और प्रतीकवादी रही। धीरे-धीरे उनकी शायरी अपना अलग रंग-रूप धारण करती गयी और आज उनकी विशेषता एक अत्यन्त घायल आवाज़, एक थकी-थकी-सी शैली है, जो शायद उनके कटु अतीत की उनके उपचेतन मस्तिष्क को देन है। उनकी नज़्में बड़ी सँभली-सँभली और मंदगति से चलती हैं, पाठक को साथ लेते हुए, रास्ते के काँटे-कंकड़ों से बचाते हुए, अंत में वे उसे उस मंज़िल पर ले जाती हैं, जहाँ पहुँच कर पाठक को किसी प्रकार की थकन नहीं रहती, बल्कि वह एक तरह की ताज़गी महसूस करता है। उदाहरण के लिए उनकी नज़्म 'अन्दोख़्ता' देखिए—

कुहरा, नीला बसीतो-बलन्द आसमाँ
इतना ख़ामोश, ठहरा हुआ, पुर सुकूँ
इस तरह देखता है मुझे जैसे मैं
अपने गल्ले से बिछुड़ी हुई भेड़ हूँ

तुम कहाँ हो मेरी रूह की रौशनी
तुम तो कहती थीं यह दर्द पायंदा है
तुम कहाँ हो, मेरे रास्तों के दिये
बुझ गये फिर भी हर चीज़ ताबिंदा है

मैं मिलों, कारख़ानों के बोझिल धुएँ
क़हवा - ख़ानों की मग़मूम ताबिन्दगी
काहनों की मुहब्बत का फ़ुज़्ला जिसे
रब्बे - मौजूदो - मादूम ने बख़्श दी

दायमी ज़िन्दगी में तुम्हारे लिए
अहदे - क़ानून की गीर और दार से
अपनी ज़ख़्मी मुहब्बत बचा लाया हूँ

अहमद नदीम क़ासिमी—अहमद नदीम क़ासिमी की कहानियों के हिन्दी रूपान्तर से हिन्दी के पाठक अब तक काफ़ी परिचित हो चुके हैं। उन्होंने स्वयं अपना परिचय निम्नलिखित संक्षिप्त शब्दों में दिया है—

"मेरा जन्म २० नवम्बर १९१६ ई० को हुआ। मेरे गाँव का नाम अंगा है जो ज़िला सरगोधा की एक सुन्दर घाटी में बसा हुआ है। मेरे आदि पुरुष सूफ़ी संत थे और इस्लाम का प्रचार करते थे। इसलिए मेरे वंश के लोगों के नाम के आरंभ में 'पीर' और अंत में 'शाह' रहता है। इसीलिए आरंभ में मेरा नाम भी अहमद शाह रखा गया। बाद में इस 'शाह' ने मुझे बहुत परेशान किया और अब मुझे संतोष है कि मुझे पीरज़ादा की बजाय अहमद नदीम क़ासिमी के नाम से पुकारा जाता है।

"१९३५ ई० में मैंने किसी तरह बी० ए० किया और कई साल तक यह डिग्री और ख़ानदानी उपाधियों का पुलिन्दा कांधों पर रखकर नौकरी की भीख मांगता फिरा। मुहर्रिरी, क्लर्की, आबकारी विभाग की नौकरी और बेकारी—मैंने क्या क्या पापड़ नहीं बेले।

" 'अदबे-लतीफ़', 'सबेरा' और 'नुक़ूश' के सम्पादन के बाद आजकल मैं लाहौर के वामपक्षी दैनिक समाचार पत्र 'इमरोज़' में सम्पादन-कार्य कर रहा हूँ। अब तक कविताओं के चार संग्रह और कहानियों के सात संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।"

अहमद नदीम की कविताओं और कहानियों की विशेषता यथार्थवाद है। पहले वे इक़बाल की भाँति विश्व इस्लामवाद के आदर्श से प्रेरित मालूम होते थे। किन्तु अब मालूम होता है कि उनका विश्वास इस अयथार्थवादी दर्शन में नहीं रहा है और वे सामाजिक ढाँचे के आर्थिक परिवर्तन में विश्वास करने लगे हैं। फिर भी वे क्रांति का प्रचार करते कभी नहीं दिखाई देते। हाँ, जगह-जगह चुटकियाँ ज़रूर लेते हैं। वे उपदेश नहीं देते, यथार्थ जीवन का कोई कोना

उघाड़ कर ऐसे कोण से दिखा देते हैं कि पाठक सोचने के लिए मजबूर हो जाता है। यथार्थवाद और उसके अन्दर छुपा हुआ व्यंग्य अहमद नदीम के कथा-साहित्य और काव्य-साहित्य को एक वैयक्तिकता तो प्रदान करता ही है, साथ ही अपने उद्देश्य में वह अन्य शैलियों की अपेक्षा सफल भी अधिक होता है। उदाहरण के लिए उनकी एक छोटी नज़्म 'फ़न' देखिए—

एक रक़्क़ासा थी—किस किस से इशारे करती ?
आँखें पथरायीं, अदाओं में तवाज़ुन न रहा
डगमगाई तो सब अतराफ़ से आवाज़ आयी
"फ़न के इस औज पे इक तेरे सिवा कौन गया !"

फ़र्शे-मरमर पे गिरी, गिर के उठी, उठ के झुकी
खुश्क होंठों पे ज़बाँ फेर के पानी माँगा
ओक उठायी तो तमाशाई सँभल कर बोले
"रक़्स का यह भी इक अंदाज़ है, अल्ला अल्ला !"

हाथ फैले रहे, सिल सी गयी होंठों पे ज़बाँ
एक रक़्क़ास किसी सिम्त से नागाह बढ़ा
परदा सरका तो मुअन फ़न के पुजारी गरजे
"रक़्स क्यों ख़त्म हुआ ? वक़्त अभी बाक़ी था।"

सआदत हसन मन्टो—उर्दू कथा-साहित्य को जिन लेखकों ने यथार्थवाद की चरम सीमातक पहुँचाया है, उनमें सआदत हसन मन्टो का नाम प्रमुख है। इनकी बहुत-सी कहानियाँ अनूदित होकर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं में स्थान पा चुकी हैं। सआदत हसन मन्टो ११ मई १९१२ ई० को संबड़ाला में (जो वर्तमान पूर्वी पंजाब में है) पैदा हुए। उन्होंने १९३१ ई० में पंजाब यूनीवर्सिटी से हाई स्कूल किया। कहानियाँ लिखना मन्टो ने उसके कुछ पहले ही आरंभ कर दिया था। कई साल बाद वे बम्बई आ गये और फ़िल्मों के लिए कहानियाँ लिखने लगे। बम्बई का आवास-काल ही उनकी ख्याति का स्वर्ण-युग कहा जा सकता है। पाकिस्तान बनने के बाद वे लाहौर चले गये और केवल लेखन-कार्य से

जीवन निर्वाह करने लगे। किन्तु दुर्भाग्य से उन्हें जवानी में मदिरापान की लत इतनी गहरी लग गयी थी कि पाकिस्तान जाकर अपने को न सँभाल सके। १९५३ ई० में उन्हे पीलिया का रोग हुआ, किन्तु इस पर भी वे शराब न छोड़ सके और इसी कारण १९५५ ई० में उनकी ४३ वर्ष की अल्पायु में मृत्यु हो गयी।

मन्टो 'ग़ालिब' की तरह हर एक बात में अपने को दूसरों से अलग रखना चाहते थे। वे बीस वर्ष के भी नहीं थे, जब उन्होंने अमृतसर में अंगारों पर चलकर दिखा दिया। बम्बई के आवास-काल में उनकी ज़िद थी कि हर चीज़ क़ीमती से क़ीमती खरीदेंगे, यहाँ तक कि अपना इलाज भी उस डाक्टर से कराते थे जो सबसे अधिक फ़ीस—६४ रुपये—लेता था। एक बार नौकर बीमार हुआ तो उसका इलाज भी इसी डाक्टर से कराया। शायद दूसरों से अपने को अलग दिखाने की इसी प्रवृत्ति ने उन्हें साहित्य-सर्जन में नितांत यथार्थवाद की राह पर डाल दिया। यह ध्यान देने की बात है कि जिस समय मन्टो ने लिखना शुरू किया, उस समय उर्दू का कथा-साहित्य आदर्शवाद से आगे न बढ़ा था। यह आदर्शवाद भी क्रांतिकारी क़िस्म का न था, बल्कि नज़ीर अहमद और राशिदुल खैरी की परम्परा में वैयक्तिक व्यवहार के सुधार की ओर प्रयत्नशील था। प्रेमचन्द आदि के प्रभाव से उसमें सामाजिक चेतना के अंकुर भी फूट रहे थे। लेकिन मन्टो ने इससे आगे की मंज़िल—सामाजिक क्रांति की दृष्टि—को एकदम से फलाँग कर तत्कालीन यूरोपीय साहित्य से प्रेरणा प्राप्त की, जो फ्रायड के मनोविज्ञान और लैंगिक मनोविकारों के अध्ययन पर आश्रित था। इस प्रकार के साहित्य का यूरोप तक में गालियों द्वारा स्वागत हो रहा था, फिर पुराण-पंथी भारत में तो कहना ही क्या था! आलोचकों ने मन्टो के 'नग्नवाद' को खूब कोसा। लेकिन मन्टो ने किसी की परवा न की और बराबर समाज के यौन मनोविकारों के सड़ते हुए घाव खोलकर दिखाते रहे। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उनकी प्रसिद्ध कहानियों 'काली शलवार', 'बू', 'धुआं', 'ठंडा गोश्त' आदि में तत्कालीन यूरोपीय लेखकों की भाँति किसी क्षणिक अनुभूति का विस्तृत वर्णन नहीं, बल्कि गठी हुई और शृंखलाबद्ध अनुभूतियों के पूरे चित्र मौजूद हैं, जो किसी गहरे सामाजिक अभाव की ओर इंगित करते हैं और उसे पूरा करने

के लिए आमन्त्रित भी करते हैं। मन्टो की कहानियों के लगभग दो दर्जन संग्रह प्रकाश में आ चुके हैं। टेकनीक की दृष्टि से मन्टो की कहानियाँ बे-जोड़ होती हैं और जिन लोगों को मन्टो के 'नग्नवाद' पर आपत्ति है या जो लोग उन्हें केवल अस्वस्थ प्रवृत्तियों का कलाकार कहते हैं, वे भी बग़ैर झिझक मानते हैं कि कलात्मक प्रौढ़ता और दोष-हीन गठन की दृष्टि से मन्टो की कहानियाँ अब तक के समस्त उर्दू कथाकारों की कहानियों से आगे बढ़ी हुई हैं।

क्रिश्न चन्दर—इन सज्जन का नाम शुद्धतावादियों की दृष्टि से 'कृष्णचन्द्र' लिखा जाना चाहिए, लेकिन उन्हें अपने नाम को उसी रूप में लिखा देखना पसंद है, जिसमें वे और उनके उर्दू लेखक मित्र उच्चारण करते हैं। अगर उन्हें इस समय का उर्दू का सबसे बड़ा कहानीकार कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी। उनकी कई कहानियाँ और उपन्यास भी अनूदित होकर हिन्दी में आ गये हैं। हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी, रूसी, चीनी, चेक, पोलिश, हंगेरियन आदि भाषाओं में भी उनकी रचनाओं के अनुवाद हो चुके हैं। उन्होंने कहानियाँ, उपन्यास, व्यंग्यलेख, नाटक आदि सभी लिखे हैं। उनकी रचनाओं की संख्या लगभग तीन दर्जन है। इनमें से कुछ नाम ये हैं—'अन्नदाता', 'तिलिस्मे-ख़याल', 'सुब्ह होती हैं', 'बावन पत्ते', 'हवाई क़िले', 'यारक़ान' आदि।

क्रिश्न चन्दर २६ नवम्बर, १९१४ ई० को पैदा हुए। उनके बचपन और जवानी का अधिकांश भाग कश्मीर में बीता। १९३४ ई० में उन्होंने फ़ारमन क्रिश्चियन कालेज लाहौर से अंग्रेज़ी साहित्य में एम० ए० किया। इसके बाद एक वर्ष तक पीलिया और हृदय-कम्प के रोगों के कारण पढ़ाई छूटी रही। १९३७ ई० में उन्होंने एल-एल० बी० की परीक्षा पास की, किन्तु वकालत के धंधे को कभी नहीं अपनाया। १९३६ के आरंभ में उन्होंने उर्दू में लिखना आरंभ किया। इन्हीं दिनों वे राजनीति में भी भाग लेने लगे और सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य हो गये। इसके पहले वे एकबार भगतसिंह के साथ गिरफ्तार भी हो गये थे। क्रिश्न चन्दर की कहानियों की आरंभ से ही प्रशंसा हुई। 'हुमायूँ', 'अदबी दुनिया' आदि के सम्पादकों ने उनकी कहानियाँ और लेखों को बहुत उछाला और उन्हें इस बात के लिए विवश कर दिया कि वे राजनीति की बजाय अपना सारा जीवन साहित्य-सेवा में लगा दें। यही क्रिश्न चन्दर ने किया। कुछ

दिनों स्वतन्त्र रूप से लिखने के बाद उन्होंने आल इंडिया रेडियो दिल्ली में नौकरी कर ली। यहाँ उनकी मन्टो, राशिद, मीराजी, अहमद नदीम क़ासिमी, अश्क, शाहिद अहमद देहलवी, चिराग़ हसन 'हसरत', डा० तासीर आदि से घनिष्ठता हुई। रेडियो में क्रिश्नचन्दर ड्रामा सेक्शन के इनचार्ज थे। कुछ दिनों बाद उनका तबादला लखनऊ हो गया। किन्तु यहाँ से डब्लू० ज़ेड० अहमद ने उन्हें अपने शालीमार पिक्चर्स में पूना बुला लिया। उक्त फ़िल्म कम्पनी टूटने के बाद वे बम्बई आ गये और अब तक फ़िल्मों के लिए कहानियाँ लिखते हैं। प्रमुख भारतीय साहित्यकार की हैसियत से वे यूरोप आदि भी घूम आये हैं।

क्रिश्न चन्दर की कला की दो विशेषताएँ हैं—एक तो उनकी सार्वभौमिक दृष्टि और जागरूक बौद्धिकता और दूसरी उनकी विशिष्ट टेकनीक। जहाँ तक जागरूक बौद्धिकता का प्रश्न है, क्रिश्न चन्दर को कथा-क्षेत्र में वही स्थान प्राप्त है, जो अली सरदार जाफ़री को काव्य-क्षेत्र में। उनकी कहानियों की सर्जनात्मक दृष्टि विशाल भी है और स्पष्ट भी। वे जागरूक समाजवादी हैं, साथ ही उनका परिप्रेक्ष्य भी इतना विस्तृत है, जितना और किसी कथाकार का नहीं हुआ। वे कश्मीर के खच्चर वालों का भी उतना ही सजीव वर्णन करते हैं, जितना बंगाल के अकाल-पीड़ितों और तेलंगाना के विद्रोही किसानों का। बम्बई के फ़िल्म एक्स्ट्राओं के दयनीय जीवन का भी विस्तृत चित्रण उन्होंने किया है और बर्मा के मोर्चे पर लड़ते हुए अमरीकी सैनिकों तथा कोरियाई युद्ध में आहुति देती हुई वीरांगनाओं का भी। किन्तु उनकी लगभग हर कहानी से सामाजिक क्रांति की आवश्यकता—बल्कि समाजवादी क्रांति की आवश्यकता—चिल्ला-चिल्ला कर बोलती दिखाई देती है। इसीलिए उनकी आकर्षक शैली के बावजूद उनकी रचनाओं में एकरसता का थोड़ा-बहुत दोष उसी प्रकार आ जाता है, जैसे नज़ीर अहमद की कहानियों में व्यावहारिक आदर्शवाद से पैदा हो गया है। जहाँ तक टेकनीक का सम्बन्ध है, निस्संदेह उर्दू कथा-साहित्य को क्रिश्नचन्दर की यह देन बहुत बड़ी है। उन्होंने उर्दू में पहली बार ऐसी कहानियाँ लिखीं, जिनमें कोई कथानक नहीं होता, केवल शब्द-चित्रों का एक समूह देकर वे एक खास वातावरण बना देते हैं और ऐसा प्रश्न-चिह्न पैदा कर देते हैं, जो आप ही अपना

जवाब बन जाते हैं। संक्षेप में कहा जाय तो क्रिश्नचन्दर की कहानियों की टेकनीक रिपोर्ताज़ की टेकनीक है।

ख़्वाजा अहमद अब्बास—ख़्वाजा अहमद उर्दू में उतनी ही रवानी से लिखते हैं, जितनी अंग्रेज़ी में। वे मौलाना 'हाली' की रिश्तेदारी में से हैं और उनका परिवार भी पानीपत का है। ख़्वाजा अहमद अब्बास का जन्म १४ जून १९१४ ई० को हुआ था। हाली मुस्लिम हाई स्कूल से मिडिल पास करके वे १९२६ ई० में अलीगढ़ आये और यहाँ १९३३ ई० में फ़र्स्ट डिवीज़न में बी० ए० पास किया और १९३५ ई० में एल-एल० बी०। लेकिन वकालत की प्रेक्टिस करने की बजाय यह सीधे बम्बई चले गये और सय्यद अब्दुल्ला ब्रेलवी के प्रसिद्ध पत्र 'बाम्बे क्रानीकल' में उपसम्पादक हो गये। १९३८ ई० में वे घरवालों और दोस्तों से कुछ रुपया क़र्ज़ लेकर संसार-भ्रमण को निकल पड़े और लगभग पाँच महीने में सत्रह देशों का भ्रमण करके वापस आ गये। 'बाम्बे क्रानीकल' में वे लगभग दस वर्ष रहे, किन्तु इसी अरसे में उन्हें फ़िल्मों के सीनेरियो लिखने का भी अवसर मिला और उनकी इस क्षेत्र में गहरी दिलचस्पी हो गयी। जन-नाट्य संघ (इप्टा) के आन्दोलन में इन्होंने आगे बढ़कर भाग लिया और इसके लिए इन्होंने 'धरती के लाल' फ़िल्म की कहानी तय्यार की और उसका निर्देशन भी किया। कलाप्रेमियों को यह फ़िल्म पसंद आयी, लेकिन आर्थिक रूप से मुनाफ़ा न दे सकी। फिर इन्होंने 'आज और कल' नामक फ़िल्म पंजाब में बनाना शुरू किया, किन्तु १९४७ ई० के उपद्रवों के कारण इन्हें बम्बई वापस आना पड़ा। उपद्रवों पर इन्होंने इसके बाद बहुत-सी कहानियाँ लिखीं और इसमें क़ानूनी पंजे में भी आ गये। कई ड्रामे भी इन्होंने साम्प्रदायिक विद्वेष के विरुद्ध लिखे। १९५० ई० में इन्होंने एक प्रगतिशील मासिक हिन्दी पत्रिका 'सरगम' निकाली, लेकिन उसे आर्थिक कठिनाइयों से कुछ ही दिनों में बन्द कर देना पड़ा। १९५१ ई० में यह जनवादी चीन की सालगिरह पर पीकिंग गये और १९५५ ई० में इन्होंने रूस का भ्रमण किया। 'सरगम' बन्द करने पर इन्होंने एक फ़िल्म कम्पनी 'नया संसार' बनायी, जिसके फ़िल्म 'अनहोनी', 'राही' और 'मुन्ना' प्रसिद्ध हो चुके हैं। राजकपूर के प्रसिद्ध फ़िल्म 'आवारा' की कहानी भी इन्होंने ही लिखी थी।

ख्वाजा अहमद अब्बास की लगभग एक दर्जन पुस्तकें उर्दू और अंग्रेज़ी में प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके कहानी-संग्रहों में 'एक लड़की', 'ज़ाफ़रान के फूल', 'पाँव में फूल', 'अँधेरा उजाला', 'कहते हैं जिसको इश्क़' आदि हैं। नाटकों में 'ज़ुबेदा', 'यह अमृत है', 'चौदह गोलियाँ' आदि प्रसिद्ध हैं। १९३८ ई० के संसार-भ्रमण का अंग्रेज़ी में पुस्तकाकार वर्णन किया है। इसका उर्दू अनुवाद 'मुसाफ़िर की डायरी' के नाम से हो चुका है। उनकी अंग्रेज़ी पुस्तकों की संख्या भी काफ़ी है, किन्तु उनका उल्लेख इस अवसर पर अनावश्यक है।

ख्वाजा अहमद अब्बास बुनियादी तौर पर पत्रकार हैं। पत्रकारिता का तक़ाज़ा है कि लेखन में आकर्षण तो हो, लेकिन हर बात जाँच-तोल कर इस प्रकार कही गयी हो कि कहीं से उसमें ग़लती का पहलू न निकल सके। ख्वाजा साहब के सर्जित साहित्य में भी यही बात दिखाई देती है। उनकी कहानियों में बौद्धिक जागरूकता उनके भावनात्मक आवेश को दबाती-सी दिखाई देती है। साथ ही साथ उनकी कहानियों में व्याख्या और आलोचना का अंश भी काफ़ी रहता है। फिर भी बात का खरापन, विषयों का बाहुल्य और वर्णन की सजीवता ख्वाजा साहब के साहित्य को एक निज का रंग प्रदान कर देती है।

राजेन्द्रसिंह बेदी—वर्तमान उर्दू कथाकारों में क्रिश्नचन्दर के बाद अगर किसी की कहानियाँ पसंद की गयी है तो वे राजेन्द्रसिंह बेदी हैं। बेदी का जन्म १ सितम्बर १९१५ ई० को लाहौर छावनी में हुआ था। बाल्यकाल का प्रथम भाग गाँव में और शेष लाहौर में गुज़रा। शिक्षा एफ़० ए० तक हुई। पहले जीविकोपार्जन के लिए डाकख़ाने में नौकरी की। १९४० ई० में उन्होंने क्रिश्नचन्दर के कहने पर यह नौकरी छोड़ दी और आल इंडिया रेडियो में नौकरी कर ली। फिर उनका तबादला दिल्ली हुआ, जहाँ उन्होंने रेडियो छोड़ कर पब्लिक रिलेशंस आफ़िस में नौकरी कर ली। युद्ध समाप्त होने पर उन्होंने लाहौर की माहेश्वरी फ़िल्म में नौकरी की और 'कहाँ गये' फ़िल्म के संवाद लिखे। इसके बाद उन्होंने निस्बत रोड लाहौर पर 'संगम पब्लिशर्स' नामक प्रकाशन गृह खोला। भारत-विभाजन के कुछ दिनों बाद उन्होंने रेडियो कश्मीर में डायरेक्टर की हैसियत से नौकरी की, लेकिन कुछ ही महीने की नौकरी के बाद वे उसे छोड़कर बम्बई आ गये और फ़िल्मों की कहानियाँ और सम्वाद लिखने

का काम शुरू किया और अब तक यही काम कर रहे है। राजेन्द्रसिंह बेदी के तीन कहानी-सग्रह 'दाना-ओ-दाम', 'ग्रहन' और 'कोख जली' तथा एकाकी सग्रह 'सात खेल' प्रकाशित हो चुके है।

राजेन्द्रसिंह बेदी की कहानियो की कला मे बुद्धि और भावना का वही मनमोहक सामञ्जस्य दिखाई देता है, जो क्रिश्नचन्दर की कहानियो मे है। क्रिश्नचन्दर की एक विशेषता तो यह है कि उन्होने अपनी फ़िल्मी व्यस्तता के बावजूद बहुत अधिक लिखा और बेदी बेचारे तीन-चार सग्रह ही दे सके। दूसरी बात जो क्रिश्नचन्दर के यहाँ दिखाई देती है, वह उनकी नयी कथानक-हीन रिपोर्ताज़ की टेकनीक है, जिससे बेदी प्रभावित तो बहुत हुए है, किन्तु पूर्णतः आत्मसात् नही कर सके। बेदी की कहानियो के कथानक घटना-प्रधान होने की अपेक्षा भावना-प्रधान अवश्य होते है, फिर भी इसमे सदेह नही कि उनकी कहानिया कथानक-हीन नही कही जा सकती। लेकिन बेदी की कला एक दृष्टि से क्रिश्नचन्दर से आगे जाती है। उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत विशाल है और वे सामाजिक के अतिरिक्त वैयक्तिक जीवन के परिप्रेक्ष्य मे भी मार्मिक कहानियाँ लिखते है। उनकी कहानियो मे 'हम दोश', 'गर्मकोट' और 'पॉनशाप' बहुत मशहूर है। 'पॉनशाप' की दृष्टि सामाजिक-आर्थिक है, 'गर्मकोट' की विशेषता उसकी कोमलता है, जो कि आर्थिक विवशता की पृष्ठभूमि मे खूब उभरती है। इसके विरुद्ध 'हम दोश' की कोमलता और करुणा अस्पताल के जीवन-मृत्यु सघर्ष की पृष्ठभूमि मे उभरती है, जिसका आर्थिक प्रश्नो से कोई लगाव ही नही है। बेदी चाहे जिस क्षेत्र को चुने, वे हमारी अनुभूतियो की कोई ऐसी रग छू देते है जिसका दुख पहले सोया हुआ होता है, लेकिन उनके स्पर्श से पूर्णतः जागृत हो जाता है।

अस्मत चग़ताई—उर्दू मे मन्टो के बाद यथार्थवादी कथा-साहित्य मे अस्मत चगताई का ही नाम आता है। वे उर्दू के सर्वश्रेष्ठ हास्य-लेखक स्वर्गीय अज़ीम बेग चगताई की छोटी बहन है। वे १९२० ई० के लगभग पैदा हुई। उनकी शिक्षा अलीगढ और लखनऊ मे हुई। १९३८ ई० मे उन्होंने कहानियाँ लिखना शरू किया। १९४२ ई० मे उनका विवाह फ़िल्म प्रोड्यूसर शाहिद लतीफ़ के

साथ हो गया, लेकिन साहित्य-संसार इन्हें अब भी अस्मत चग़ताई के ही नाम से जानता है।

अस्मत चग़ताई की कहानियाँ जब पहले-पहल प्रकाशित हुईं तो उनपर चारों ओर से गालियों की बौछार शुरू हो गयी। कारण यह था कि उन्होंने स्त्रियों के लैंगिक मनोविकारों का सजीव और वास्तविक चित्रण करना आरंभ किया। जैसा हर एक यथार्थवादी साहित्यकार को अनुभव होता है, अस्मत को भी यह सुनना पड़ा कि उनका साहित्य बहुत 'गंदा' होता है। उनके मनोविकारों के चित्रण, उनके स्त्रियों के सहलैंगिकता के शब्द-चित्र इतनी निर्भीकता से पेश किये जाते थे कि लोग आश्चर्य करते थे कि कोई स्त्री भी ऐसा लिख सकती है। धीरे-धीरे ये आपत्तियाँ अपने आप समाप्त हो गयीं और अस्मत ने भी शादी होने के बाद मनोवैज्ञानिक सत्य को उतनी प्रखरता से नहीं दिया जैसे पहले देती थीं। एक तरह देखा जाय तो प्राथमिक उफान के बाद अस्मत चग़ताई की रचनाओं में प्रौढ़ता अभी आयी है। मुस्लिम घरानों—विशेषतः निम्न मध्यवर्ग के मुस्लिम घरानों—के परदा और रीत-रिवाजों से घुटे हुए वातावरण में स्त्रियों की जो दशा होती है, उसके करुणात्मक पहलू को अस्मत की कहानियों में इतनी मार्मिकता से उभारा गया कि प्रशंसा करते ही बनती है। उनकी कहानियों में हम टाट के परदों के पीछे चलने वाले कंकालों, पीले चेहरों, बुझी-बुझी आँखों, खाँसी के ठुस्सों और उखड़ी-उखड़ी साँसों को देख-सुन सकते हैं। इन कहानियों में सदियों की दबी-घुटी ज़िन्दगी को बाहर ताज़ी हवा में लाने की कोशिश दिखाई देती है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि अस्मत का सर्जनात्मक एप्रोच केवल दृश्य चित्रण मात्र है। वे उपदेश नहीं देतीं, ऐसे अवास्तविक पात्रों की सृष्टि नहीं करतीं जो उस वातावरण के विरुद्ध विद्रोह करते दिखाई दें। यह दूसरी बात है कि पाठक के हृदय में यह सब देख सुन कर विद्रोह की भावना जागृत हो जाय। टेकनीक की दृष्टि से अस्मत की कहानियाँ बड़ी गठी हुई होती हैं। उनमें सम्वाद अपेक्षाकृत बहुत कम होते हैं। अधिकतर मनोवैज्ञानिक अध्ययन होता है, 'एक्शन' से भी मदद ली जाती है और इन दोनों को काफ़ी ऊँचे दरजे पर पहुँचा दिया जाता है।

अस्मत चग़ताई के चार कहानी-संग्रह, एक नाटक 'धानी बाँके', एक लघु

उपन्यास 'ज़िद्दी' और एक उपन्यास 'टेढ़ी लकीर' प्रकाशित हो चुके हैं। उन्हीं के कथनानुसार फ़िल्म लाइन में आने के बाद से उनका लिखना-पढ़ना लगभग छूट-सा गया है।

ख़दीजा मस्तूर—उर्दू की नयी कहानी-लेखिकाओं में ख़दीजा मस्तूर और उनकी छोटी बहन हाजरा मसरूर काफ़ी प्रसिद्ध हो चुकी हैं। ख़दीजा का जन्म १९२७ ई० में एक खाते-पीते घराने में हुआ था, किन्तु आठ-दस वर्ष की ही थीं कि पिता का देहांत हो गया। रिश्तेदार आकर सब कुछ लूट-खसोट ले गये और ख़दीजा की माँ को अपने सात बच्चों के साथ लखनऊ में अपने मायके आकर रहना पड़ा। यह दिन इन लोगों ने बड़ी मुसीबत में गुज़ारे, लेकिन इनकी माँ बड़ी समझदार और साहित्यिक रुचि रखनेवाली महिला थीं। उन्होंने अपनी पुत्रियों को साहित्य-सर्जन के लिए हमेशा प्रोत्साहित किया। चौदह-पन्द्रह वर्ष की अवस्था में कहानियाँ लिखना आरंभ किया और अब तक लिखती जा रही हैं। भारत-विभाजन के बाद यह परिवार लाहौर चला गया और वहीं इनका विवाह श्री ज़हीर बाबर के साथ हो गया।

ख़दीजा की कहानियों में स्त्रियों की स्वाभाविकता और कसक भरपूर है। उन्होंने अस्मत चग़ताई की तरह परम्पराओं और नैतिक मूल्यों पर कभी डंके की चोट प्रहार नहीं किया, लेकिन उनके अपने ढंग में भी एक ख़ास तरह की चुभन है, जो पाठक पर अपना प्रभाव डालती ही है।

हाजरा मसरूर—यह ख़दीजा मस्तूर की छोटी बहन हैं। इनका जन्म १७ जनवरी १९२९ ई० को हुआ था। स्वयं इनके कथनानुसार "१९४२ ई० में अपनी बड़ी बहन ख़दीजा मस्तूर की शरारत से मैंने कहानियाँ लिखनी शुरू कीं।" पाकिस्तान बनने पर लाहौर आयीं। अहमद नदीम क़ासिमी, जो पहले 'अदबे-लतीफ़' के सम्पादक की हैसियत से इनकी सर्जनात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करते रहते थे, अब इन बहनों के मुँह बोले भाई हो गये। लाहौर में हाजरा मसरूर ने कुछ महीने तक क़ासिमी के साथ मिलकर मासिक पत्रिका 'नुक़ूश' का सम्पादन-कार्य सँभाला। १९४९ ई० में 'पाकिस्तान टाइम्स' के सहायक सम्पादक मि० अहमद अली के साथ इनका विवाह हो गया। सौभाग्य से वैवाहिक जीवन ने इनके तथा इनकी बड़ी बहन के साहित्यिक जीवन की

गति धीमी न पड़ने दी। दोनों बहनों में अब भी एक दूसरे को प्रोत्साहित देने की प्रवृत्ति है और पारिवारिक वातावरण भी इसके विरुद्ध नहीं। फलस्वरूप यह बराबर लिखती जा रही हैं। अभी तक इनके चार कहानी-संग्रह—'हाय अल्ला', 'चोरी छुपे', 'चरके' और 'अँधेरे उजाले' प्रकाशित हो चुके हैं।

लाहौर के उन साहित्यिक क्षेत्रों ने, जो प्रगतिवादी धारा से सहमत नहीं हैं, इन दोनों बहनों के साथ बड़ी ज़्यादती की। इनके बारे में बड़ी-बड़ी गंदगियाँ उछाली गयीं, इनके बारे में अपमान-जनक कार्टून छापे गये। लेकिन ये दोनों अपने मैदान में डटी रहीं। शायद कठिनाइयों से जूझने और हार न मानने का पाठ इन लोगों को बचपन में ही मिल चुका था। हाजरा मसरूर के सर्जित साहित्य में भी इसी आग्रह-पूर्वक अपने पथ पर डटे रहने की मनोवृत्ति दिखाई देती है। साफ़ मालूम होता है कि वे दृढ़तापूर्वक मानव समाज की गहरे में छुपी हुई कमज़ोरियों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर सामने लाती हैं, लेकिन यह भी स्पष्ट है कि उनका विद्रोह तूफ़ानी नहीं है। वे ख़ामोशी से एक दृश्य पेश कर देती हैं, और उसमें भी इस बात का ख़्याल रखती हैं कि पाठक की सामाजिक मान्यताओं को ठेस न पहुँचे और इस प्रकार पाठक की बुद्धि और भावनाओं को अपने साथ लेकर चढ़ाव-उतार के रास्तों से ले जाकर उसे ऐसी जगह पर खड़ा कर देती हैं, जहाँ वह वर्तमान परिस्थितियों के औचित्य का कोई कारण ही न पा सके। उनकी कहानियों के पात्र सजीव हैं और अस्मत चग़ताई की तरह कष्ट और दुख से पीड़ित भी। साथ ही टेकनीक के क्षेत्र में भी वे अस्मत चग़ताई की शैली का अनुगमन करती हैं यानी परिसम्वाद कम और मनोविश्लेषण अधिक। शैली की यह पुनरावृत्ति कुछ विशेष प्रभावित नहीं करती, किन्तु भविष्य में आशा है कि हाजरा मसरूर अपनी कहानियों में बिलकुल निज का रंग पैदा कर लेंगी।

: १६ :

उर्दू नाटक

उर्दू नाटक का प्रारंभ तो वास्तव में वाजिद अली शाह और अमानत लखनवी की इन्दर सभाओं से हो गया था, किन्तु उसकी वास्तविक उन्नति उन्नीसवीं शताब्दी के अंत काल के समीप हुई। पहले नाटकों में हिन्दू देव माला की कथाएँ अभिनीत होती थीं। उधर पश्चिमी देशों के नाटक भी कुछ लोगों ने, विशेषतः बम्बई वालों ने देखे थे। अब कुछ पारसी कलाकारों ने सोचा कि ईरान की प्रागैतिहासिक कथाएँ—सुहराब, रुस्तम आदि—भी रंगमंच पर लायी जा सकती हैं। चुनाँचे कुछ कलाप्रिय पारसी सेठों ने व्यापारिक ढंग पर कम्पनियाँ चलायीं। सबसे पहली कम्पनी सेठ पिस्टनजी फ्रामजी की थी। इसका नाम ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी था। इसने 'रौनक़' बनारसी द्वारा रचित नाटक अभिनीत किये। रौनक़ का एक नाटक 'इंसाफ़े-महमूदशाह' १८८२ ई० में बम्बई में छपा भी था। इस कम्पनी ने मियाँ हुसैनी 'ज़रीफ़' द्वारा लिखित नाटक 'ख़ुदा दोस्त', 'चाँद बीबी' आदि भी अभिनीत किये।

सेठ पिस्टनजी फ्रामजी के देहांत के बाद उनकी कम्पनी के दो प्रमुख अभिनेताओं ख़ुर्शीदजी बालीवाला तथा काउसजी ने अपनी अलग-अलग कम्पनियाँ क़ायम कीं। ख़ुर्शीदजी बालीवाला ने विक्टोरिया नाटक कम्पनी स्थापित की, जिसने १८७७ ई० के दिल्ली दरबार में अभिनय किये थे। इस कम्पनी के प्रमुख नाटककार मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' बनारसी थे। वे कवि भी थे और 'रासिख़' देहलवी के शागिर्द थे। उन्होंने नाटक की भाषा आदि में पहले से बहुत उन्नति की। उनका एक प्रसिद्ध नाटक 'लैलो-निहार' है, जो लार्ड लिटन की एक पुस्तक का रूपांतर है। 'तालिब' के अन्य नाटक 'विक्रय विलास', 'दिलेर दिलशेर', 'नाज़ाँ', 'निगाहे-ग़फ़लत', 'गोपीचन्द' आदि हैं। मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' का देहांत १९१४ ई० में हो गया।

विक्टोरिया नाटक कम्पनी के मुक़ाबले में काउसजी ने अपनी एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी स्थापित की। इसके नाटककार सय्यद मेहदी हसन 'अहसन' लखनवी थे, जो मिर्ज़ा 'शौक़' के पौत्र थे। वे नाटककार होने के अलावा कवि और संगीतज्ञ भी थे। उनके नाटक 'फ़ीरोज़ गुलज़ार', 'चन्द्रावली', 'दिल-फ़रोश', 'भूलभुलय्याँ', 'बकावली' और 'चलता पुर्ज़ा' हैं। इनमें भी उनका ड्रामा 'चलता पुर्ज़ा' बहुत प्रसिद्ध हुआ। अभी तक के नाटक अधिकतर पद्य में होते थे और जहाँ गद्य होता था वह भी सानुप्रास। इन ड्रामों में गाने बहुत अधिक होते थे और प्रहसन भी फूहड़ क़िस्म का होता था।

नारायन प्रसाद 'बेताब' देहलवी—'अहसन' लखनवी के बाद एल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के नाटक लिखने का काम पंडित नारायन प्रसाद 'बेताब' के सुपुर्द हुआ। इनके पिता का नाम पंडित ढला राय था। यह कवि थे और 'ग़ालिब' के शागिर्द सरदार मुहम्मद ख़ाँ 'तालिब' तथा नज़ीर हुसैन ख़ाँ 'सख़ा' के शागिर्द थे। पं० 'बेताब' बम्बई में ही रहते थे और एल्फ्रेड कम्पनी के लिए नाटक लिखने के अलावा 'शेक्सपियर' नामक एक पत्र भी निकालते थे। इस पत्र में अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध नाटकों के अनुवाद प्रकाशित किये जाते थे। 'बेताब' के नाटक 'क़त्ले-नज़ीर', 'महाभारत', 'ज़हरी साँप', 'फ़रेबे-मुहब्बत', 'रामायण', 'गोरखधंधा', 'पटनी प्रताप', 'कृष्ण सुदामा' आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें 'क़त्ले-नज़ीर' वह पहला नाटक था, जो उन्होंने एल्फ्रेड कम्पनी के लिए लिखा। उन्हीं दिनों दिल्ली की नज़ीर नामक एक वेश्या की हत्या कर दी गयी थी और चारों ओर इसका चरचा था। इसीलिए जब यह नाटक रंगमंच पर आया तो इसे बहुत लोकप्रियता मिली। उनका नाटक 'महाभारत' पहली बार १९१३ ई० में अभिनीत किया गया। यह सबसे पहले दिल्ली में खेला गया। यह बहुत प्रसिद्ध हो गया और इसका दूर-दूर तक चरचा रहा। लगभग दो दशकों तक यह उर्दू मंच का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता रहा। 'बेताब' का हिन्दी का ज्ञान भी बहुत अच्छा था और उन्होंने अपनी नाटकीय प्रतिभा के बल पर उसमें से ऐसे अंग निकाल कर नाटक लिखा कि नाटक संसार में धूम मच गयी। नाटक की गीतात्मकता में 'बेताब' को बहुत सफलता मिली, क्योंकि उनका हिन्दी पर अधिकार था और गीतों में हिन्दी उर्दू की अपेक्षा काफ़ी आगे बढ़ी हुई है। उन्होंने

'महाभारत' में कुछ दृश्य—जैसे कृष्णजी की घायल उँगली का खून रोकने के लिए द्रौपदी का अपनी साड़ी फाड़कर पट्टी बाँधना और सेवा तथा चेता चमारों के प्रकरण—बहुत ही कलात्मक कुशलता से प्रविष्ट किये हैं। द्रौपदी के चीर-हरण का भी दृश्य उन्होंने दिखाया है। अंग्रेज़ी और संस्कृत दोनों के नाट्य शास्त्रों के अनुसार ऐसे दृश्य मंच पर दिखाना गर्हित समझा जाता है, किन्तु भक्ति भाव की पराकाष्ठा और भगवान् कृष्ण की सर्वशक्तिमत्ता का पूरा दिग्दर्शन कराने में ये दृश्य अत्यंत सफल हुए हैं और इसी कारण इन्हें पसंद भी किया जाता रहा है। इस दृष्टि से वर्तमान मंच के लिए यह साहसिक कृतित्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा है।

'बेताब' के नाटकों में कुछ त्रुटियां भी हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि वे अपने पूर्ववर्ती नाटककारों के सानुप्रास परिसंवादों का लोभ नहीं छोड़ सके हैं। इसके कारण भाषा बनावटी हो जाती है और वातावरण में स्वाभाविकता नहीं रहने पाती। दूसरी त्रुटि यह है कि उन्होंने मंच पर ही स्वर्ग और नरक के पौराणिक आधार पर ऐसे दृश्य दिखाये हैं जो बचकाने ही नहीं भोंडे भी हो जाते हैं। 'बेताब' की भाषा में भी समतलता और प्रवाह की कमी है। उसमें अरबी और फ़ारसी के कठिन शब्दों के साथ ही मोटे-मोटे संस्कृत के शब्द भी शामिल कर दिये गये हैं। यह त्रुटि केवल इस कारण क्षम्य समझी जा सकती है कि उर्दू के मंच पर सबसे पहले 'महाभारत' जैसी धार्मिक कृति को लाकर उसके उपयुक्त हिन्दू संस्कृति का वातावरण पैदा करनेवाली संस्कृत शब्दावली का पहली बार प्रयोग किया गया था। प्रथम प्रयास में समन्वय और सामञ्जस्य सम्बन्धी त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक ही है। पुराने नाटककारों की तरह इन्होंने भी शेरों और गीतों की अपने नाटक में भरमार कर दी थी। हद यह हो गयी कि उत्तेजनापूर्ण बहसों के समय भी पात्रगण इन शेरों और दोहों का प्रयोग करते हैं, जिनके कारण सारा वातावरण अत्यंत अस्वाभाविक हो जाता है।

इन त्रुटियों के बावजूद पं० नारायन प्रसाद 'बेताब' का उर्दू नाटक के विकास में महत्त्वपूर्ण योग है। उन्होंने टेकनीक और भाषा के बारे में अपने पूर्ववर्तियों के आगे बहुत-से महत्त्वपूर्ण क़दम उठाये हैं। उनकी भाव-व्यंजना बड़ी तीव्र होती

है। उनका चरित्र-चित्रण बड़ा ज़ोरदार होता है और नाटकीय एकता और संघर्षों के कलात्मक दृष्टिकोणों से उनके नाटक काफ़ी उत्कृष्ट दिखाई देते हैं। उनके नेतृत्व में उर्दू नाटक ने निस्संदेह उन्नति की है।

'बेताब' के नाटकों पर धार्मिक दृष्टि से भी एक आपत्ति की गयी है। कुछ लोगों का कहना है कि 'बेताब' आर्य समाजी थे, इसलिए उन्होंने ऐसे दृश्य भी पेश किये हैं, जिनसे सनातन-धर्मी लोगों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचती है। दरअस्ल इस आपत्ति में कोई जान नहीं है। नाटकीय प्रभाव को बढ़ाने के लिए नाटककार को कथा और चरित्र-चित्रण में परिवर्तन करने का अधिकार होता ही है।

एल्फ्रेड कम्पनी के मुक़ाबले पर मुहम्मद अली 'नाख़ुदा' ने एक नयी नाटक कम्पनी 'न्यू एल्फ्रेड कम्पनी' चलायी। बाद में इसमें प्रख्यात अभिनेता सोहराब जी का भी साझा हो गया था। इस कम्पनी का काफ़ी नाम हो गया, क्योंकि इसमें अमृतलाल और मिस गौहर जैसे ख्याति-प्राप्त कलाकार काम करते थे और इसके नाटककार स्वनामधन्य आग़ा 'हश्र' कश्मीरी थे।

आग़ा 'हश्र' कश्मीरी—आग़ा मुहम्मद शाह 'हश्र' १८७९ ई० में बनारस में पैदा हुए थे। इनके पिता व्यापार करते थे और इन्हें भी व्यापार में लगाना चाहिए था, किन्तु इन्हें दूसरी ही धुन थी। १९०१ ई० में यह नाटक के शौक़ में बम्बई पहुँच गये। कुछ दिन इधर-उधर भटकने के बाद पारसी थियेट्रिकल कम्पनी में नौकर हो गये और 'मुरीदे-शक', 'मारेआस्तीं', 'मीठी छुरी' और 'असीरे-हिर्स' नामक नाटक चार वर्ष के अन्दर लिखे। इन नाटकों ने, जो चार वर्षों की अवधि में लिखे गये थे, 'हश्र' को नाटक के संसार में चमका दिया और सभी कम्पनियों के मालिक अब उनका लोहा मानने लगे। इसके बाद पं० नारायन प्रसाद 'बेताब' की इस आपत्ति के उत्तर में कि आग़ा 'हश्र' हिन्दी नाटक नहीं लिख सकते, उन्होंने हिन्दी की यथेष्ट शिक्षा प्राप्त की थी और 'बिल्व मंगल', 'गंगा अवतरण,' 'मधुर मुरली', 'आँख का नशा', 'बन देवी', 'सीता बनवास', 'भीष्म प्रतिज्ञा', 'श्रवणकुमार' आदि नाटक शुद्ध हिन्दी में और शुद्ध हिन्दू धर्म की पृष्ठभूमि में लिखे। 'हश्र' साहब की तबीयत में ज़िद बहुत थी। 'आँख का नशा' जिसने उर्दू रंगमंच को नया ही मोड़ दे दिया, इसी ज़िद के

कारण लिखा गया। पारसी थियेट्रिकल कम्पनी में वे जब थे तो कुछ कलाकारों ने यह कहना शुरू किया कि 'हश्र' के लिखने की क्या तारीफ़ है, उसके नाटक तो हम लोगों के अभिनय से चमकते हैं। इस पर 'हश्र' ने 'आँख का नशा' लिखकर दिया। इसमें परिसम्वाद सानुप्रास भाषा में होने की बजाय सीधी सादी गद्य में थे। अब कलाकारों के होश उड़ गये। इनसे कहा गया तो इन्होंने कहा कि मेरा काम तो सिर्फ़ लिखना है, तुम लोग अपनी अभिनय-कला से इसे चमकाओ। लेकिन उन कलाकारों के बस की यह नयी टेकनीक न थी। अन्त में 'हश्र' ने स्वयं ही इसका निर्देशन किया। यह नाटक जब खेला गया तो उर्दू नाटक में एक क्रान्ति हो गयी और पुरानी टेकनीक हमेशा के लिए विदा हो गयी।

'हश्र' ने शुरू में कई कम्पनियों में काम किया। सेठ नौरोजजी पारसी की कम्पनी के लिए उन्होंने 'मीठी छुरी' नामक नाटक लिखा। फिर सेठ आर्देशिर भाई ठोंठी की कम्पनी के लिए उन्होंने 'सफ़ेद ख़ून' और 'सैदे-हवस' नामक नाटक लिखे। आग़ा 'हश्र' के अन्य नाटकों में 'शहीदे-नाज़', 'ख़्वाबे-हस्ती,' 'नारा-ए-तौहीद', 'ख़ूबसूरत बला', 'शामे-जवानी', 'तुर्की हूर', 'जुर्मे-नज़र', 'ठंडी आग', 'तस्वीरे-वफ़ा', 'ख़ुदपरस्त', 'सिलवर किंग', 'हिन्दुस्ताने-क़दीम-ओ-जदीद' आदि बहुत मशहूर हुए हैं।

आग़ा 'हश्र' ने लाहौर में अपनी एक थियेट्रिकल कम्पनी—शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी खोली थी। किन्तु वे अच्छे व्यवसायी नहीं थे, अतः कुछ ही दिनों में यह कम्पनी बैठ गयी। फ़िल्मों की ओर बढ़ती हुई जनरुचि देखकर आग़ा 'हश्र' इस लाइन में भी आ गये और कलकत्ते जाकर मदन एण्ड कम्पनी में अच्छे वेतन पर अभिनेता हो गये। बाद में बोलती फ़िल्मों के ज़माने में वे कलकत्ते के न्यू थियेटर्स में चले गये थे और 'चण्डीदास' तथा 'यहूदी की लड़की' के परिसंवाद उन्होंने लिखे। उनका देहावसान १९३५ ई० में हो गया।

आग़ा 'हश्र' को उर्दू का मारलो कहा गया है। इसमें संदेह नहीं कि उनके नाटकों में मारलो के नाटकों-जैसी ही तीव्रता है। उनके पात्र मारलो के पात्रों की ही भाँति भावुकता और आवेगों में डूबे हुए होते हैं। उनके पात्र प्यार करते हैं तो टूटकर और व्यथा का प्रदर्शन करते हैं तो हृदय फटने लगता है।

आग़ा 'हश्र' शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से तो बहुत अच्छे कवि नहीं थे, किन्तु उनकी प्रतिभा इतनी अवश्य थी कि उनके नाटकों में असाधारण रूप से चमक आ जाये। वे सुशिक्षित भी थे, अरबी, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, हिन्दी—इन सभी भाषाओं का उन्हें अच्छा ज्ञान था और उनके नाटकों में साहित्यिकता इसी अध्ययन की बदौलत पैदा हुई। नाटकीय कला की बारीकियों का उन्हें पूरा बोध था और उनकी स्वाभाविक प्रतिभा चरित्र के उतार-चढ़ाव को ही नहीं, बल्कि एक ही पात्र में चरित्र के दो विरोधी तत्त्वों को भी निभाने में पूर्णतः सफल होती थी। उनके नाटकों की त्रुटियाँ भी वही थीं, जो मारलो के नाटकों में पायी जाती हैं। वे कोमलता के नहीं तीव्र भावों और आवेगों के चितेरे हैं; वे हमेशा हलके रंगों की बजाय शोख़ रंगों का प्रयोग करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वे कभी-कभी मंच पर ही भयानक से भयानक कृत्य होते दिखा देते हैं। गम्भीर मनोवृत्ति के दर्शकों के लिए कभी-कभी उनके नाटक घृणास्पद तक हो जाते हैं, जब कि वे बहुत सस्ते और भद्दे क़िस्म के परिहासों का प्रयोग करते हैं। इसके अलावा कुछ कला-सम्बन्धी त्रुटियाँ भी उनमें पायी जाती हैं। कभी-कभी वे एक से अधिक कथानकों को साथ-साथ चलाने लगते हैं, जो एक दूसरे का प्रभाव नष्ट कर देते हैं। कभी-कभी कविता की भी बेवजह भरमार हो जाती है। कभी-कभी नाटक और उसके 'एक्शन' की गति पर उनका अधिकार नहीं रहता। किन्तु ये त्रुटियाँ उनके महानतम भारतीय नाटककार होने के मार्ग में कोई बाधा नहीं डालतीं।

कई अन्य नाटक कम्पनियाँ भी इसके बाद बनीं और बिगड़ीं। बहुत-से नाटककार भी पैदा हुए। इनमें से अक्सर नाटक साहित्यिक दृष्टि से शून्य थे। प्रमुख नाटककारों में हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल्ला और उनके शिष्य मिर्ज़ा नाज़िर-बेग, आग़ा 'हश्र' के शिष्य अम्बाला निवासी मुंशी इब्राहीम 'महशर', मुंशी रहमतअली (जो नाटककार होने के साथ अभिनेता भी थे), द्वारिकाप्रसाद 'उफ़ुक़' और मिर्ज़ा अब्बास हुए हैं। हिन्दू धार्मिक कथाओं को रंगमंच पर लानेवालों में कश्मीर हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश लालकुँवर सेन एम० ए० (जिन्होंने देवताओं को पात्र बनाकर 'ब्रह्मानन्द' नामक नाटक लिखा है), तथा विश्वंभर सहाय व्याकुल (जिनका बुद्धदेव नाटक है) उल्लेखनीय हैं।

व्याकुल जी भारत व्याकुल कम्पनी के, जिसे मेरठ के कुछ उत्साही नाटक-प्रेमियों ने स्थापित किया था और जो कुछ दिनों तक बहुत मशहूर रही थी और फिर बन्द हो गयी, प्राण थे।

साहित्यिक दृष्टि से आग़ा 'हश्र' के नाट्यशास्त्र के शिष्य तथा उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक सय्यद इम्तियाज़ अली 'ताज' का नाटक 'अनारकली' इस समय तक के उर्दू नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। इसमें सम्राट् अकबर की कृपापात्र दासी अनारकली के युवराज सलीम से प्रेम और अकबर द्वारा कुपित होकर उसको जीवित ही दीवार में चुना दिये जाने की मार्मिक कथा है। इसमें नाटककार ने मुग़ल राजपरिवार का पूरा वातावरण कुछ ही शब्दों में तैयार कर दिया है। इसके परिसंवादों में चुस्ती और पात्रों के अनुरूप भाषा की विचित्रता बड़ी चतुरता से दिखायी गयी है। इन्हीं परिसंवादों में पात्रों का चरित्र उभर कर आता है। इन परिसंवादों में कवित्व का पूरा ज़ोर है, लेकिन अस्वाभाविकता कहीं नहीं आयी है। इसमें नाटकीय एकता के तीनों तत्त्वों—सामयिक एकता, स्थानिक एकता और कार्यात्मक एकता—का पूरा समावेश है। साथ ही नाटकीय संघर्ष भी अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया गया है। स्टेज सेटिंग्ज़ आदि के लिहाज़ से इसका अभिनीत होना कुछ कठिन है और इसे नाटक की कमज़ोरी कहा जा सकता है, किन्तु वास्तव में कथानक के ज़ोर को देखते हुए अगर स्टेज सेटिंग आदि सरल रखे जाते तो प्रभाव में काफ़ी बड़ी वाधा भी पड़ जाती। इम्तियाज़ अली 'ताज' का एक अन्य नाटक 'दुलहन' भी अच्छा नाटक है।

सोद्देश्य नाटक—अभी तक केवल शुद्ध कलात्मक नाटकों का वर्णन हुआ है, किन्तु बीसवीं शताब्दी में शुद्ध साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से भी बहुतायत से नाटक लिखे गये। साहित्यिक नाटकों में शौक़ क़िदवाई के 'मेकफ़रसन' और 'लूसी', अब्दुल हलीम 'शरर' का 'शहीदे-वफ़ा', अज़ीज़ मिर्ज़ा का 'विक्रमोर्वशी' आदि प्रसिद्ध हैं। ये नाटक अंग्रेज़ी या संस्कृत के नाटकों के अनुवाद हैं। राजनीतिक नाटकों में ज़फ़र अलीख़ाँ का 'रूसो-जापान', किशनचन्द 'ज़ेबा' का 'ज़ख्मी पंजाब' (जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के पक्ष में था) और मुहम्मद उमर और नूर इलाही के—जिन्होंने 'नाटक सागर' के

नाम से नाटकों का बृहत् इतिहास भी लिखा है—कुछ नाटक हैं । द्वितीय महायुद्ध के समय प्रगतिशील लेखकों ने कुछ नाटक लिखे, जिनमें क्रिश्नचन्दर का 'भूखा बंगाल' और अली सरदार जाफ़री का 'यह किसका ख़ून है' उल्लेखनीय हैं ।

सोद्देश्य नाटकों में सबसे अधिक संख्या उन नाटकों की है, जो कि सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन के उद्देश्य से लिखे जाते हैं । मौलवी अब्दुल माजिद दरियाबादी का नाटक 'ज़ूदपशेमाँ' बाल-विवाह के कुपरिणामों की चेतावनी देता है । अब्दुल हलीम 'शरर' का 'मेवए-तल्ख़' परदे की कठोरता के प्रति विरोध प्रदर्शित करता है । डाक्टर आबिद हुसैन का 'परद-ए-ग़फ़लत' में भी परदा प्रथा के विरुद्ध आवाज़ उठायी गयी है । पं० बृजमोहन दत्तात्रेय 'कैफ़ी' के दो नाटक 'राजदुलारी' और 'मुरारी दादा' प्रसिद्ध हैं । इनमें मध्यम श्रेणी की स्त्रियों और पुरुषों की भावनाओं और उनके चरित्र की निर्बलताओं को बड़ी सफलतापूर्वक दिखाया गया है । परिसंवादों की भाषा बड़ी चुस्त और मुहावरेदार हैं । शैली में परिष्कार और शालीनता है । यहाँ तक कि लेखक अपने विचारों के प्रकाशन में कहीं-कहीं झिझक तक गया है । कला की दृष्टि से यही कमी खटकने लगती है ।

वास्तव में उर्दू के काव्य और उसके गद्य-लेखन के विकास को देखते हुए उसके नाटकों का अभी शैशवकाल ही कहा जा सकता है । अन्य भाषाओं से उर्दू इस क्षेत्र में काफ़ी पीछे है ।

: १७ :

काव्य-शास्त्र सम्बन्धी कुछ बातें

प्रत्येक भाषा का काव्य कुछ विशेष ढंग से गठा हुआ होता है। यूँ तो अगर अर्थ समझ लिया जाय तो कविता का थोड़ा-बहुत रसास्वादन हो ही सकता है, लेकिन पूरे रसास्वादन के लिए काव्य-शास्त्र सम्बन्धी कुछ आधार-भूत बातों—काव्य-विवेचन के सिलसिले में प्रयुक्त होनेवाले पारिभाषिक शब्दों, काव्य-रूपों, गुण-दोषों आदि—का जानना ज़रूरी हो जाता है। आगे हम इन्हीं बातों का कुछ विवेचन करेंगे, ताकि सहृदय पाठकगण उर्दू काव्य का पूरा आनन्द ले सकें।

कुछ पारिभाषिक शब्द

सबसे पहले काव्य-विवेचन के सम्बन्ध में प्रयुक्त होनेवाले कुछ ऐसे शब्दों का अर्थ जानना ज़रूरी है, जो बार-बार प्रयुक्त होते हैं।

फ़र्द—मिसरे और शेर प्रत्येक काव्य-रूप की आधारिक इकाइयाँ होते हैं। ग़ज़ल के अलावा अन्य काव्य, रूपों में तो शेर एक दूसरे से सम्बद्ध ही होते हैं, ग़ज़ल में प्रत्येक शेर का अलग अस्तित्व होता है। फिर भी किसी ग़ज़ल के सारे शेरों में एक ही रदीफ़, क़ाफ़िये और एक ही बह्र (छंद) की पाबंदी ज़रूरी होती है। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई कवि एक अकेला शेर ही मारके का कह देता है और पूरी ग़ज़ल उस स्तर की नहीं बन पाती तो उसे अकेला ही रहने देता है। इस प्रकार के अकेले शेरों को फ़र्द कहते हैं। 'शाद' अज़ीमाबादी का यह शेर फ़र्द है—

जिस से तेरा बयान सुनते हैं
नित नयी दास्तान सुनते हैं

रदीफ़—ग़ज़ल या क़सीदे के शेरों के अन्त में जो शब्द बार-बार दुहराये जाते हैं, उन्हें रदीफ़ कहते हैं। 'ज़ामिन' की एक ग़ज़ल के कुछ शेर देखिए—

दुनिया में फिर वो काम के क़ाबिल नहीं रहा
जिस दिल को तुमने देख लिया दिल नहीं रहा
कश्तीए - इश्क़ आके किनारे हुई तबाह
साहिल भी एतबार के क़ाबिल नहीं रहा
ख़ूँरोजियों का जिक्र ही क्या है कि उम्र भर
ज़ेरे - नियाम ख़ंजरे - क़ातिल नहीं रहा

इनमें पहले शेर (मतला) के दोनों मिसरों के अन्त में तथा अन्य शेरों के दूसरे मिसरों के अन्त में "नहीं रहा" के शब्द बार-बार आये हैं। इन्हें इस ग़ज़ल की रदीफ़ कहा जायेगा। रदीफ़ साधारणतः ग़ज़लों और क़सीदों में होती ही है, लेकिन क़ाफ़िये की तरह रदीफ़ कोई अनिवार्य चीज़ नहीं है।

क़ाफ़िया—ग़ज़ल के शेरों में अन्त में जो अन्त्यानुप्रासयुक्त शब्द आते हैं, उन्हें क़ाफ़िया कहा जाता है। ऊपर के उदाहरण में 'क़ाबिल', 'दिल', 'साहिल' आदि शब्द क़ाफ़िये के हैं। ग़ज़ल और क़सीदे के शेरों में एक बार रदीफ़ को ख़त्म किया जा सकता है, लेकिन क़ाफ़िया होना बहुत ज़रूरी होता है। उदाहरणार्थ 'नज़ीर' बनारसी की एक ग़ज़ल के निम्नलिखित शेर देखिए—

ये इनायतें ग़ज़ब की ये बला की मेहरबानी
मेरी ख़ैरियत भी पूछी किसी और की ज़बानी
तेरा हुस्न सो रहा था मेरी छेड़ ने जगाया
वो निगाह मने डाली कि सँवर गयी जवानी

इस ग़ज़ल में रदीफ़ कोई नहीं है, सिर्फ़ 'मेहरबानी', 'ज़बानी', 'जवानी' आदि क़ाफ़िये हैं।

ज़मीन—जिन ग़ज़लों में छंद, रदीफ़ और क़ाफ़िये एक ही होते हैं, उन्हें एक ही ज़मीन की ग़ज़लें कहते हैं। तरह़ी मुशायरों में पढ़ी जानेवाली सारी

ग़ज़लें एक ही ज़मीन की होती हैं। ज़मीन को किसी ग़ज़ल का बाह्य कलेवर कह सकते हैं।

तरह या मिसरए-तरह—तरही मुशायरों का क़ायदा यह होता है कि संयोजक गण मुशायरे की घोषणा के साथ ही एक मिसरा दे देते हैं और उसकी रदीफ़ और क़ाफ़िये का भी उल्लेख कर दिया जाता है। इस प्रकार मुशायरों में पढ़ी जानेवाली सारी ग़ज़लों के छंद, रदीफ़ और क़ाफ़िये का बोध हो जाता है और ग़ज़लों की ज़मीन मालूम हो जाती है। इसी मिसरे को तरह या मिसरए-तरह कहते हैं। रीतिकालीन काव्य में 'समस्या' ऐसी ही चीज़ थी, अन्तर यह था कि 'समस्या' में छंदों के केवल अन्तिम शब्द दे दिये जाते थे, मुशायरों की तरह के तौर पर पूरा मिसरा दे दिया जाता है।

गिरह—मुशायरों में कविगण अपनी काव्य-श्रेष्ठता दिखाने के लिए कभी-कभी यह करते हैं कि मिसरए-तरह को मिसरए-सानी (शेर का दूसरा मिसरा) बनाकर उसमें अपनी ओर से मिसरए-सानी (पहला मिसरा) लगा देते हैं और अच्छे से अच्छा शेर बनाने की कोशिश करते हैं। कवियों द्वारा मिसरए-तरह में जोड़े हुए मिसरों को गिरह कहते हैं।

मतला—मतला ग़ज़ल या क़सीदे के शुरू के उस शेर को या एकाधिक शेरों को कहते हैं, जिनमें रदीफ़ क़ाफ़िया एक ही होता है। वैसे ग़ज़ल के सारे शेरों के दूसरे मिसरों के रदीफ़ और क़ाफ़िये एक से ही होते हैं, लेकिन मतले या मतलों के पहले मिसरों में भी वही रदीफ़ और क़ाफ़िया होता है जो दूसरे मिसरे में होता है। मतला एक ग़ज़ल में एक भी हो सकता है और पूरी की पूरी ग़ज़ल भी कभी-कभी मतलों में ही कह दी जाती है। किसी ग़ज़ल में मिसरों की तादाद पर कोई प्रतिबंध नहीं है, लेकिन आम तौर पर ग़ज़ल के कुल शेरों का चौथा या पाँचवाँ भाग मतलों का होता है। इस अनुपात में मतले होने पर ग़ज़ल देखने-सुनने में अच्छी लगती है। कुछ कविगण उपयुक्त मतला न हो पाने पर ग़ज़ल को बग़ैर मतले के ही शुरू कर देते हैं। फिर भी ऐसी ग़ज़लें बहुत कम होती हैं, वैसे काव्य-शास्त्र के अनुसार ग़ज़ल में मतला न होना कोई दोष नहीं है। हाँ, क़सीदों में एक नहीं, विभिन्न अवसरों पर कई मतलों की आवश्यकता पड़ती है और उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता।

मक़ता—ग़ज़ल के अंतिम शेर को (जिसमें साधारणतः कविगण अपना तख़ल्लुस भी डाल देते हैं) मक़ता कहते हैं। आम तौर पर लोग मक़ते के पहले वाले शेर को 'आखिरी शेर' कहते हैं, लेकिन कुछ लोगों का कहना है कि मक़ता ही आख़िरी शेर होता है। काव्य-शास्त्र में आख़िरी शेर-जैसी कोई अलग चीज़ नहीं है। मक़ता का मतलब ही अरबी में 'कटा हुआ' होता है और यह इस बात का द्योतक है कि ग़ज़ल यहाँ से समाप्त हो गयी, यानी यह ग़ज़ल का अन्तिम शेर है।

तख़ल्लुस—साधारणतः सभी उर्दू कवि अपना एक कवि नाम रख लेते हैं, जिसका वे अपनी रचनाओं में अन्तिम मिसरों में प्रयोग करते हैं। इसे तख़ल्लुस कहते हैं। यह तख़ल्लुस कभी असली नाम का ही एक भाग होता है, कभी असली नाम से बिलकुल असंबद्ध होता है। कुछ लोग तख़ल्लुस रखते ही नहीं। तख़ल्लुस केवल परिपाटी है (जो ब्रज और अवधी में भी थी), शास्त्रीय दृष्टि से अनिवार्य नहीं।

मुसल्लस—मुसल्लस ऐसी कविता को कहते हैं, जिसमें तीन-तीन मिसरों के बन्द (पद) होते हैं। इन तीन मिसरों के आपसी सम्बन्ध के आधार पर मुसल्लस के विभिन्न रूप होते हैं। कभी तीनों मिसरे एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं और प्रत्येक बंद में अलग-अलग रदीफ़, क़ाफ़िये होते हैं; कभी पहले दो मिसरे एक रदीफ़, क़ाफ़िये में होते हैं और तीसरा मिसरा अलग, लेकिन सारे बंदों के तीसरे मिसरे एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं।

मुख़म्मस या ख़म्सा—इसमें पाँच-पाँच मिसरों के बंद होते हैं। इन पाँच में चार तो एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं और पाँचवाँ अलग, लेकिन सारे बन्दों के पाँचवें मिसरे एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं। कभी-कभी हर बन्द के आख़िर में बार-बार एक ही मिसरा आता है।

मुसद्दस—मुसद्दस का अर्थ है छः-छः मिसरों के बन्दोंवाली नज़्म। इसका क़ायदा यह है कि हर बन्द के पहले चार मिसरे एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं और बाद के मिसरे भी एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में; किन्तु बाद के मिसरों का रदीफ़ क़ाफ़िया पहले चार वाले से भिन्न होता है। मुसद्दस के किसी बन्द

के किसी मिसरे का किसी अन्य बन्द के किसी मिसरे से कोई शाब्दिक सम्बन्ध नहीं होता।

मुसम्मन—मुसम्मन आठ-आठ मिसरों के बन्दों वाली नज़्म को कहते हैं। इसमें हर बन्द के पहले छः मिसरे एक ही रदीफ़, क़ाफ़िये में होते हैं और अन्तिम दो मिसरे भी एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में (लेकिन पहले छः मिसरों के रदीफ़ क़ाफ़िये से भिन्न) होते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रथम बन्द के अंतिम दो मिसरे हर बन्द के अंतिम दो मिसरों का स्थान बार-बार लेते रहते हैं।

तरकीबबन्द—यह ऐसी नज़्म होती है, जिसके बन्दों में मिसरों की कोई निश्चित संख्या नहीं होती। लेकिन इसमें दो शर्तें होती हैं। एक तो यह कि हर बन्द में मिसरों की संख्या आठ से अधिक हो और सम हो। दूसरी यह कि एक नज़्म के विभिन्न बन्दों में बराबर संख्या में मिसरे हों। हर बन्द में अंतिम दो मिसरों को छोड़कर अन्य सभी मिसरे या तो एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं या ग़ज़ल की सूरत में होते हैं यानी पहला तथा दूसरा, चौथा, छठा, आठवाँ, दसवाँ, बारहवाँ (अर्थात् सभी सम संख्यावाले मिसरे) एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं और शेष स्वतन्त्र होते हैं। अंतिम दो मिसरे भी एक ही रदीफ़ क़ाफ़िये में होते हैं, लेकिन पहले के रदीफ़ क़ाफ़ियों से भिन्न। कभी-कभी नज़्म के सारे बन्दों के अंतिम दो मिसरे एक ही रदीफ़, क़ाफ़िये में बँधे होते हैं।

तरजीबन्द—यह भी तरकीबबन्द की तरह होता है। सारे बंधन उसी की भाँति होते हैं। अन्तर केवल इतना है कि पहले बन्द के अन्तिम दो मिसरे ही बार-बार हर बन्द के अंतिम दो मिसरों की जगह आते हैं।

मुस्तज़ाद—मुस्तज़ाद का अर्थ है बढ़ाया हुआ। किसी ग़ज़ल के हर मिसरे के अन्त में छंदशास्त्र की पाबंदियों के साथ एक टुकड़ा जोड़ दिया जाता है। यह जोड़े हुए टुकड़े वज़न (मात्रा) में तो बराबर होते ही हैं, साथ ही उनमें रदीफ़, क़ाफ़िया की पाबन्दी भी होती है। यानी स्वतन्त्र मिसरों में जोड़े हुए टुकड़े रदीफ़ क़ाफ़िये की पाबन्दी से आज़ाद होते हैं और रदीफ़ क़ाफ़िये के पाबन्द मिसरों में टुकडे भी एक ही रदीफ़ क़ाफ़ियेवाले जोड़े जाते हैं। कभी

इन जोड़े हुए टुकड़ों के रदीफ़ क़ाफ़िये ग़ज़ल के ही रदीफ़ क़ाफ़िये होते हैं और कभी दूसरे।

तारीख़—अरबी अक्षरों में हरएक का आंकिक मूल्य भी होता है। किसी घटना (जन्म मृत्यु) आदि पर कविगण ऐसा मिसरा मौज़ूँ करते हैं, जिसके सारे अक्षरों के द्योतक अंकों को जोड़ने पर उक्त घटना का संवत्सर निकल आये। इसी को तारीख़ कहते हैं।

काव्य-रूप

किसी भाषा के काव्य को अच्छी तरह समझने के लिए उसके विभिन्न काव्य-रूपों का ज्ञान भी आवश्यक है। उर्दू के काव्य-रूपों में यह भी विशेषता है कि अर्थ और कथ्य की दृष्टि से भी विभिन्न काव्य-रूपों में अन्तर होता है, यहाँ तक कि शब्दों के स्वरूप और ध्वनियाँ भी अलग-अलग काव्य-रूपों में अलग-अलग प्रयुक्त होती हैं। अतएव काव्य की सफल विवेचना के लिए इन काव्य-रूपों का ज्ञान आवश्यक है। उर्दू में प्रमुख काव्य-रूप यह हैं—ग़ज़ल, क़ता, मसनवी, क़सीदा, रुबाई, वासोख़्त, गीत आदि। नीचे हम इनके बारे में आधारभूत बातें बताने का प्रयत्न करेंगे।

ग़ज़ल—ग़ज़ल से सभी परिचित हैं। इसका बाह्य रूप यह होता है कि इसमें कम से कम पाँच शेर होते हैं। अधिकतम शेरों की कोई संख्या निश्चित नहीं है, किन्तु साधारणतः इक्कीस-बाईस शेरों से अधिक की ग़ज़लें नहीं देखी जातीं। औसत ग़ज़ल सात शेर से लेकर तेरह शेर तक की होती है। पुराने काव्यशास्त्रियों के कथनानुसार ग़ज़ल के शेरों की संख्या विषम रहनी चाहिए। लेकिन इस नियम का न कोई कड़ाई से पालन करता है और न इस नियम का कोई औचित्य ही हो सकता है। ग़ज़ल में——जैसा कि पहले कहा जा चुका है—सारे शेरों के दूसरे मिसरे एक ही रदीफ, क़ाफ़िये में बँधे होते हैं और मतलों के पहले मिसरे भी इन्हीं रदीफ़, क़ाफ़ियों में बँधे होते हैं।

अर्थ की दृष्टि से ग़ज़ल का हरएक शेर अपनी जगह स्वतन्त्र होता है। ग़ज़ल असंबद्ध कविता है। इस बात पर कुछ लोगों को आपत्ति है कि असंबद्ध शेरों को एक ही कविता में क्यों रखा जाये। लेकिन यह अर्थ की दृष्टि से

असंबद्ध शेर भी एक रदीफ़, क़ाफ़िये में बँधे होने और एक ही छंद में कहे जाने के कारण एक ध्वन्यात्मक वातावरण की सृष्टि कर देते हैं, जिसमें विभिन्न शेरों का अर्थ अच्छी तरह उभर कर आता है। यही कारण है कि प्राचीन काल में तो काव्य क्षेत्र में ग़ज़ल के अलावा और बहुत ही कम काव्यरूप दिखाई देते ही थे, आज भी नज़्मों का काफ़ी ज़ोर होने पर भी ग़ज़ल का ही पल्ला भारी दिखाई देता है। ग़ज़ल की लोकप्रियता का यह हाल है कि हिन्दी, पंजाबी, कश्मीरी, पश्तो, यहाँ तक कि हिन्दी क्षेत्र की जनपदीय भाषाओं—अवधी, भोजपुरी, ब्रज आदि में भी ग़ज़लें लिखी जाने लगी हैं।

ग़ज़ल के शेरों का विषय सीमित नहीं है, फिर भी उसमें मुख्यतः करुणा, प्रेम और समर्पण के ही भाव प्रदर्शित किये जाते हैं। ग़ज़लों में चूँकि एक ही शेर में पूरी बात कह देनी होती है, इसलिए उनमें प्रतीकात्मकता का बहुत सहारा लिया जाता है और चूँकि एक-एक शब्द विभिन्न परिस्थितियों में असंख्य वस्तुओं का प्रतीक हो सकता है, इसलिए धीरे-धीरे ग़ज़ल में व्यापकता की कला इतनी विकसित हो गयी है कि एक ही शेर प्रतीक रूप में आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और व्यावहारिक जीवन में एक-सा लागू हो सकता है। इसी आधार पर दार्शनिक तथ्यों को कविता के साथ सामने लाने में ग़ज़ल का प्रयोग बहुत किया जाता है। इसीलिए ग़ज़ल की परम्परा गम्भीरता और तत्त्वज्ञान की परम्परा बन गयी है, यद्यपि ऊपरी दृष्टि से देखने पर उसमें आशिक़-माशूक़ के चोंचलों के अलावा कुछ नहीं दिखाई देता। यही ग़ज़ल की तारीफ़ है।

चूँकि ग़ज़ल का मिज़ाज मूलतः समर्पणवादी होता है, इसलिए उसमें कोमल-कान्त पदावली का ही प्रयोग अच्छा समझा जाता है। ग़ज़ल के शेरों में प्रयुक्त होनेवाले शब्द और शब्दविन्यास अर्थ ही नहीं, ध्वनि के लिहाज़ से भी कोमल और मधुर हों, तभी कवि की सफलता मानी जाती है।

पुराने ज़माने में ग़ज़ल का एक और रूप प्रचलित था, जिसे 'ग़ज़ले-मुसल्सल' कहते हैं। इसमें शेर अलग-अलग स्वतन्त्र विषयों पर नहीं होते, बल्कि एक ही विषय पर कहे हुए होते हैं, बल्कि उनमें परस्पर सम्बन्ध भी होता

है। वर्तमान समय में नज़्मों के कारण इस प्रकार की ग़ज़ल की ज़रूरत ही नहीं रही।

क़तआ—कभी-कभी ग़ज़ल में कोई विषय ऐसा आ जाता है, जिसे एक ही शेर में उतने ज़ोर के साथ नहीं कहा जा सकता, जितना कवि चाहता है। ऐसी हालत में दो या दो से अधिक शेरों में उस विषय को कह दिया जाता है और शेरों के इस समूह को 'क़तआ' कहकर ग़ज़ल में ही शामिल कर दिया जाता है। 'क़तआ' सिर्फ ग़ज़लों के ही अन्दर हो, ऐसी कोई पाबंदी नहीं है। ग़ज़लों के बाहर स्वतन्त्र रूप से भी क़तए कहे जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप नीचे 'नज़ीर' अकबराबादी की एक प्रसिद्ध ग़ज़ल दी जाती है, जिसमें क़तआ भी शामिल है—

वो रश्के-चमन कल जो ज़ेबे-चमन था
चमन जुम्बिशे शाख़ से सीनाज़न था
गया मैं जो उस बिन चमन में तो हर गुल
मुझे उस घड़ी अज़गरे - पैरहन था
ये गुंचा जो बेदर्द गुलचीं ने तोड़ा
ख़ुदा जाने किसका ये नक़्शे-वहन था

क़तआ

तने - मुर्दा को क्या तकल्लुफ़ से रखना
गया वह तो जिससे मुज़य्यन ये तन था
कई बार हमने ये देखा कि जिनका
मुशय्यन बदन था मुअत्तर कफ़न था
जो क़ब्रे - कुहन उनकी उखड़ी तो देखा
न उज़वे - बदन था न तारे कफ़न था
'नज़ीर' आगे हमको हवस थी कफ़न की
जो सोचा तो नाहक़ का दीवानापन था

रुबाई—यह चार-चार मिसरों के स्वतन्त्र मुक्तक होते हैं, जिनमें पहले, दूसरे और चौथे मिसरों का एक ही रदीफ़, क़ाफ़िये में होना ज़रूरी होता है।

हिन्दी के कुछ कवियों ने भी रुबाइयाँ कही हैं, किन्तु उनमें से अधिकतर कवियों को यह नहीं मालूम कि ग़ज़ल तथा अन्य काव्य-रूपों के लिए जो पैंतीस-छतीस बहुप्रयुक्त छंद प्रयोग में आते हैं, उनमें से किसी में भी रुबाई नहीं कही जा सकती। रुबाइयों के लिए चौबीस छंद अलग से निश्चित हैं, जिनमें रुबाई के अतिरिक्त और कोई कविता नहीं की जा सकती। रुबाई के छंद गेय नहीं होते, बल्कि उन्हें झटकों के साथ पढ़ा जाता है।

रुबाई के विषय में कोई नियम सख़्ती से नहीं बरता जाता। पुराने कवियों ने ग़ज़ल के विषयों पर ही बहुतायत से रुबाइयाँ कही हैं। हास्य-कवियों ने—मुख्यतः 'अकबर' इलाहाबादी ने—रुबाइयों द्वारा लोगों को जी भरकर हँसाया है। फिर भी रुबाई का क्षेत्र अधिकतर गंभीर तत्त्वज्ञान का होता है। नैतिक और धार्मिक विषयों पर भी ख़ूब रुबाइयाँ कही गयी हैं। मैंने अपने 'रूप' नामक रुबाइयों के संग्रह में सौन्दर्यबोध के नये मान स्थापित किये हैं, जिनका उर्दू संसार ने स्वागत किया है।

क़सीदा—क़सीदा ऐसा काव्य-रूप है, जिसका उर्दू में प्रयोग अब बहुत कम पाया जाता है, किन्तु इस शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक प्रमुख शायरों के यहाँ क़सीदे ज़रूर मिलते थे। उर्दू और फ़ारसी में क़सीदों का प्रयोग राजाओं अथवा शासनाधिकारियों की प्रशंसा के लिए किया जाता था। लेकिन अजीब बात यह थी कि प्रशंसा-पात्रों के वास्तविक गुणों की ओर इनमें कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। ईरानी और मुग़ल परम्परा ऐसी बन गयी थी कि क़सीदा-गो शायर दरबारों में इसलिए नहीं रखे जाते थे कि राजा लोग अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हों, बल्कि इसलिए रखे जाते थे कि दरबार की शोभा बढ़े। क़सीदों में सभी राजाओं की वीरता, वैभव, शक्ति और दानशीलता की प्रशंसा एक ही ढंग से—अत्यन्त अतिशयोक्तिपूर्वक—की जाती थी। शायर इस बात में कमाल दिखाते थे कि कल्पना को ऊँचे से ऊँचा उड़ाकर एक अवास्तविक किन्तु शानदार वातावरण की सृष्टि कर ली जाये। उपमाओं और रूपकों का इनमें निर्बंध रूप से प्रयोग किया जाता था और कल्पना की बाग खैंची ही नहीं जाती थी।

क़सीदों के चार अंग माने गये हैं—(१) तशबीब या भूमिका, जिसमें कवि

किसी अन्य विषय—उदाहरणार्थ, बहार का ज़िक्र या प्रेम और वियोग की बातें-उठाता था, जिसका प्रशंसापात्र से कोई संबंध नहीं होता था; (२) गुरेज़ यानी भूमिका से मूल विषय पर आने का कलात्मक ढंग, जिसमें भूमिका के अन्तिम शेरों से ही मूल विषय पर आने की राह निकाली जाती थी; (३) मदह यानी प्रशंसा, जो क़सीदे का मूल विषय होता था और इसीलिए बहुत लम्बा होता था; और (४) दुआ, जिसमें कुछ शेर प्रशंसा-पात्र के लिए आशीर्वाद के रूप में कहकर क़सीदे को समाप्त कर दिया जाता था।

क़सीदे का बाह्य कलेवर ग़ज़ल की ही तरह होता है। इसमें मतलों के दोनों मिसरों और सारे शेरों के दूसरे मिसरों को एक ही रदीफ़, क़ाफ़िये में बाँधना ज़रूरी होता है। मतलों की संख्या निश्चित नहीं है, लेकिन क़सीदे में साधारणत: अधिक मतले कहने का प्रचलन नहीं है। एक बात ज़रूर है कि तशबीब और मदह को नये मतले से आरम्भ करना अनिवार्य है।

क़सीदे में चूँकि प्रशंसा होती है और प्रशंसा उत्साह के वातावरण की सृष्टि करती है, इसलिए ग़ज़ल के विपरीत क़सीदों में कड़कते, गूँजते, शानदार और ज़ोरदार शब्दों का प्रयोग किया जाता है। चूँकि इनमें कवि अपनी मनोदशा के हृदयद्रावक वर्णन करने की बजाय अपनी काव्य-शक्ति का प्रदर्शन करता है, इसलिए जितने कठिन और दुरूह शब्दों का प्रयोग होता था, उतना ही क़सीदा सफल समझा जाता था। फ़ारसी के क़सीदों में अरबी के शब्दों की भरमार होती थी और उर्दू के क़सीदों में अरबी-फारसी के शब्दों की। कुछ कवि—जैसे ईरान में 'ख़ाक़ानी' और भारत में 'ज़ौक़'—क़सीदों में अपना अन्य विद्याओं का ज्ञान भी इस ज़ोर से दिखाते थे कि उन विषयों से अनभिज्ञ लोगों की समझ में कुछ भी नहीं आता था। इस पर कुछ लोगों ने ऐसे कवियों के विरुद्ध आपत्ति भी की है।

किन्तु क़सीदे केवल दरबारों की ही शोभा हों, ऐसी कोई बात नहीं है। जिन कवियों ने दरबारों से कोई सम्बन्ध नहीं रखा, उन्होंने भी धार्मिक महा-पुरुषों की शान में क़सीदे कहे हैं। कुछ दरबारी कवियों ने भी ऐसे क़सीदे कहे हैं। धार्मिक क़सीदों (और अन्य धार्मिक कविताओं) के क्षेत्र में उन्नीसवीं

शताब्दी के ग़ुलाम इमाम शहीदी और बीसवीं शताब्दी के आरम्भ काल में मुहसिन काकोरवी ने बहुत नाम पैदा किया है।

मसनवी—मसनवी वास्तव में पद्यबद्ध कथा होती है। मसनवी का इस ज़माने तक में रिवाज है और राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों का इसमें समावेश कर दिया जाता है। किन्तु मसनवी का मूल क्षेत्र कहानी ही है। फ़ारसी में मसनवियाँ बहुत कही गयी हैं और उन्हें चार भागों में बाँटा गया है—(१) रज़िमया, यानी युद्ध सम्बन्धी, (२) बज़िमया, यानी प्रेम सम्बन्धी, (३) धार्मिक-नैतिक तथा (४) सूफी दर्शन सम्बन्धी। उर्दू में मुख्यतः दूसरी कोटि की ही मसनवियाँ कही जाती रही हैं। मसनवियों की कहानियाँ बहुत गठी हुई होती हैं। उनमें साधारण जीवन से सम्बद्ध कहानियाँ भी होती हैं और जिन्नों-परियों की कपोल-कल्पित कहानियाँ भी, जिनका प्रत्येक देश के सामंती काल में प्रचलन होता है। इन कपोल-कल्पित कहानियों में स्वाभाविकता का बंधन न होने के कारण कथा का तारतम्य क़ायम रखना अपेक्षाकृत सरल होता था। उर्दू की प्रसिद्ध मसनवियाँ 'सहरुल बयान', 'गुलज़ारे-नसीम' आदि इसी तरह की हैं।

बाह्य रूप मसनवियों में ग़ज़लों और क़सीदों से बिलकुल अलग होता है। इनमें प्रत्येक शेर के दोनों मिसरे तो एक ही रदीफ़, क़ाफ़िये में बँधे होते हैं, लेकिन विभिन्न शेरों के रदीफ़, क़ाफ़िये एक-दूसरे से बिलकुल अलग होते हैं। पूरी की पूरी मसनवी का एक छंद में होना ज़रूरी है और आठ छोटी बह्रें (छंद) इसके लिए प्रयुक्त होते हैं। वैसे कोई कवि अन्य छंदों का प्रयोग करे तो भी काव्य-शास्त्र की दृष्टि से कोई ग़लती नहीं समझी जाती, कम से कम आजकल नहीं समझी जाती। मसनवी काफ़ी लम्बी कविता होती है, इसलिए उसके शेरों की कोई संख्या निश्चित नहीं है। छोटे-मोटे विषयों को मसनवी के ढंग से थोड़े से शेरों में भी कह दिया जाता है और इसको नज़्मों के असंख्य रूपों में एक रूप के तौर पर शामिल कर लिया गया है।

उर्दू के अन्य काव्य-रूपों में विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं—

वासोख़्त—यह इस प्रकार की प्रेम सम्बन्धी कविता होती है, जिसमें प्रेमी प्रेमिका से लड़ता-झगड़ता है और धमकी देता है कि तुम अपनी निष्ठुरता

क़ायम रखोगी तो मैं तुम्हारा प्रेम छोड़ दूंगा। इस काव्य-रूप का उन्नीसवीं शताब्दी में—विशेषतः लखनऊ में—बहुत रिवाज था। इसमें प्रेम का बहुत नीचा स्तर पेश किया जाता है, इसलिए इसे वर्तमान युग में कोई पसन्द नहीं करता है।

शहर आशोब—इसमें किसी शहर के उजड़ने या बरबाद हो जाने पर उसके पुराने वैभव को दुख के साथ याद किया जाता है। इस प्रकार की कविता अत्यन्त मार्मिक होती है।

हम्द—भगवान् की प्रशंसा में की गयी कविताओं को हम्द कहते हैं। इसीका एक रूप मुनाजात होता है, जिसमें भक्त इस प्रकार अपने हृदय की बातें रखता है, जैसे वह भगवान् से बातें कर रहा हो।

नअत—हज़रत मुहम्मद की प्रशंसा में कही गयी प्रत्येक प्रकार की कविता को नअत कहते हैं।

सलाम और नौहा—इनमें हज़रत हुसैन की शहादत पर शोक प्रकट किया जाता है। यह छोटी कविताओं के रूप में मरसिये ही होते हैं, केवल मरसिये के समस्त अंग इनमें नहीं आ सकते।

हजो—किसी प्रतिद्वंद्वी की निन्दा में कही हुई कविता को हजो कहते हैं। अट्ठारहवीं शताब्दी के बाद इनका चलन नहीं रहा।

हज़ल—ग़ज़ल को यदि हास्यात्मक ढंग से बनाया जाये तो उसका यह रूप हज़ल कहलाता है।

इनके अलावा वर्तमान समय में अतुकांत और छंद-हीन कविताओं तथा गीतों का भी प्रचलन हो गया है, जिनका रूप वही होता है जो हिन्दी की ऐसी कविताओं में होता है।

गुण दोष विवेचन

प्रत्येक भाषा के साहित्य में, विशेषतः काव्य साहित्य में, गुण दोष विवेचन के अपने मानदंड होते हैं। उर्दू काव्य में गुण दोष विवेचन के अपने नियम ह, जिनका पालन कड़ाई के साथ किया जाता है। उर्दू के काव्य में जिन गुणों को मान्यता दी जाती है, उनमें से कुछ मुख्य गुण ये हैं—

फ़साहत—फ़साहत का मतलब यह है कि कविता में कोई ऐसा शब्द या शब्द-विन्यास न आने पाये, जिसमें नियमानुसार कोई दोष हो। दोषहीन शेर को फ़सीह शेर कहा जाता है। ग़ज़लों में भारी-भरकम शब्दों के प्रयोग से भी फ़साहत ख़त्म हो जाती है। अप्रामाणिक रूप से किसी शब्द का व्यवहार भी शेर को ग़ैर-फ़सीह बना देता है।

बलाग़त—बलाग़त का अर्थ यह है कि कविता में सारे शब्द ध्वनि, प्रवाह और अर्थ की व्यापकता के लिहाज़ से इस तरह जड़े हुए हों कि अगर एक शब्द की जगह कोई समानार्थी और उसी वज़्न का शब्द रख दिया जाय तो रस में कमी आ जाय। फ़साहत और बलाग़त के लिए सुरुचि और अभ्यास ज़रूरी शर्तें हैं।

मुसावात—इसका मतलब यह है कि अर्थ को व्यक्त करने के लिए कविता में उतने ही शब्द आयें, जितने ज़रूरी हैं। न भरती के शब्द हों और न कोई महत्त्वपूर्ण शब्द ऐसा छूट भी जाय, जिससे अर्थ समझने या रसास्वादन में रुकावट पड़े। यह गुण भी निरन्तर अभ्यास से ही पैदा होता है।

सलासत—सलासत का अर्थ है सरलता। सलीस कलाम उस कविता को कहते हैं, जिसमें कोई शब्द ऐसा प्रयोग न किया जाय जो औसत पाठक या श्रोता के लिए कठिन पड़ जाय। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में इस बात को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था, किन्तु 'दाग़', 'अमीर' आदि कवियों ने जो मानदंड स्थापित किये हैं, उनकी दृष्टि से आज की कविता के लिए सलासत या शाब्दिक सरलता बहुत महत्त्वपूर्ण हो गयी है।

सादगी और सफ़ाई—सलासत में केवल शाब्दिक सरलता की माँग होती है, किन्तु कोई शेर सरल शब्दों के प्रयोग के बावजूद अर्थ की दृष्टि से दुरूह हो जाता है। ऐसे में कहा जाता है कि शेर सलीस होते हुए भी सादा नहीं है। दरअस्ल आज की उर्दू कविता के लिए यह ज़रूरी समझा जाता है कि उसमें शब्द और भाव सरल और स्पष्ट हों, फिर भी वह प्रभावशाली हो। इसके लिए सरसता की बहुत ज़रूरत पड़ती है।

रवानी या प्रवाह—जब किसी शेर में इस तरह शब्द बिठाये जाते हैं कि

बग़ैर किसी विशेष प्रयास के शेर ज़बान पर फिसलता चला जाय तो रवानी या प्रवाह पैदा होता है। रवानी उर्दू कविता का बहुत महत्त्वपूर्ण गुण है, जिसके बग़ैर अर्थात्मक उच्चता होते हुए भी शेर बहुत पसन्द नहीं किया जाता है। यह काम केवल जन्मजात प्रतिभा, जागरूकता और अभ्यास के ही बल पर सम्पन्न किया जा सकता है।

मौसीक़ियत—मौसीक़ियत का अर्थ है गीतात्मकता। उर्दू ही नहीं, सारे संसार के काव्य में यह गुण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके लिए ज़रूरी है कि शब्दों का चयन और गठन इस तरह से किया जाय कि शेर पढ़ने पर एक तरह की लय में झंकार पैदा हो। विशेषतः ग़ज़ल के महत्त्व को यह गुण बढ़ा देता है।

तेवर और नाटकीयता—उर्दू काव्य में इस गुण का भी बहुत महत्त्व है। यह ऐसे शब्द-गठन से पैदा होता है, जहाँ कि शेर को नाटकीयता के साथ पढ़ने पर ही उसका पूरा प्रभाव पड़े। पुराने ज़माने में, जब कि सस्वर कविता-पाठ का प्रचलन नहीं था, इस गुण का अपेक्षाकृत अधिक ध्यान रखा जाता था। 'ग़ालिब' का यह शेर तेवर और नाटकीयता का उत्कृष्ट उदाहरण है—

कहा मिलने से मेरे ग़ैर के क्यों होवे रुसवाई
बजा कहते हो! सच कहते हो! फिर कहियो कि 'हाँ क्यों हो!'

शोख़ी—यह बात को हलके परिहास के साथ कहने की कला है, जिसमें परम्परा के अनुसार ही किसी विचार को इस मज़े के साथ व्यक्त कर दिया जाता है कि विचित्रता के आधार पर तीव्र हास्य पैदा नहीं हो पाता। फिर भी शोख़ी का प्रयोग होशियारी से न किया गया तो शेर में फक्कड़पन या हलकापन पैदा हो जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी की बदनाम लखनवी कविता फक्कड़पन के जाल में भी फँस गयी थी। 'असद' गोरखपुरी का यह शेर शोख़ी का अच्छा उदाहरण है—

उठाकर अपना बिस्तर राह ले जन्नत की ऐ वाअज़
ढला जाता है हूरों का शबाब आहिस्ता आहिस्ता

बलन्दी-ए-तख़य्युल—इसका अर्थ है कल्पना की ऊँची उड़ान। उर्दू ही क्या, हर एक काव्य साहित्य का यह बहुत महत्त्वपूर्ण गुण है। आज के ज़माने

में वही कविता अच्छी समझी जाती है, जो फ़ौरन समझ में आ जाने के साथ ही या तो जीवन के किसी ऐसे रहस्य को असंदिग्ध रूप से खोले, जिस पर पहले लोगों की निगाह गयी ही न हो या, किसी सुपरिचित तथ्य का नया, किन्तु वास्तविक पहलू सामने लाये। यह काम कवि की उच्च कल्पना द्वारा ही हो सकता है। यह ज़रूरी नहीं है कि हर सुननेवाला कवि के दृष्टिकोण से सहमत ही हो जाय, तात्पर्य केवल यहीं होता है कि असहमत होते हुए भी पाठक या श्रोता कवि के दृष्टिकोण की सरसरी तौर पर उपेक्षा न कर सके और जाने या अनजाने उससे प्रभाव ग्रहण कर ही ले। महाकवि 'इक़बाल' की रचनाओं में यह तत्त्व सबसे अधिक दिखाई देता है। कल्पना की उच्चता के लिए दार्शनिकता अनिवार्य नहीं है, किन्तु गहन दृष्टि और तीव्र अनुभूति के साथ किसी तथ्य का निजी तौर पर निरीक्षण ज़रूरी हैं। नक़ल करने से या बेतुके तौर पर कल्पना के घोड़े दौड़ाने से यह बात पैदा नहीं हो पाती।

उर्दू कविता में जिन बातों को दोष माना गया है, उनकी जानकारी भी ज़रूरी है। सत्काव्य के परखने के लिए दोषों का ज्ञान अनिवार्य है, ताकि यह देखा जा सके कि कोई रचना पूर्णतः या अंशतः दोष-रहित है या नहीं। नीचे हम उन कुछ गंभीर दोषों का उल्लेख करेंगे, जो अच्छी कविता में न होने चाहिए।

नामौज़ूनियत—नामौज़ूनियत का अर्थ है यति भंग होना या उर्दू शब्दावली में मौज़ूं न होना। कोई शेर या मिसरा दो तरह से ना-मौज़ूं होता है। एक तो यह कि वह अपनी निश्चित बह्र (छंद) से गिर जाय। इसे उर्दू काव्य-शास्त्र की शब्दावली में सकता भी कहते हैं। दूसरे यह कि किसी स्वर को ऐसी हालत में दबाया या गिराया जाय जब कि काव्य-शास्त्र इसकी अनुमति न देता हो। अरबी और फ़ारसी शब्दों के स्वर साधारणतः दबाकर या गिरा कर पढ़ने की अनुमति नहीं है।

ताक़ीद—ताक़ीद का अर्थ है अपनी जगह से दूर हटना। जब किसी मिसरे में शब्द अपने सही स्थान से बहुत ज्यादा अलग करके रख दिये जाते हैं और मिसरे में गुंजलक-सी पैदा हो जाती है तो ताक़ीद का दोष पैदा हो जाता है। ताक़ीद न आने देना केवल सुरुचि पर निर्भर है। कभी-कभी काफ़ी

शब्दों में उलट-पलट होने पर भी उलझन नहीं रहती और ताक़ीद का दोष नहीं आने पाता। जब किसी शेर में अर्थ उलझा हुआ होता है तो उसे ताक़ीदे-मानवी कहते हैं। शब्दों की बेकार उलट-पलट को ताक़ीदे-लफ़्ज़ी कहते हैं।

ग़राबत—इसका अर्थ यह है कि किसी ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाय जो साधारणतः पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में प्रयुक्त न होता हो। या ऐसे अर्थ में प्रयुक्त न होता हो, जिस अर्थ में शेर में लिया गया है। तात्पर्य यही है कि केवल कोष की सहायता से किसी शब्द को उचित सिद्ध कर देना काफ़ी नहीं है।

पहलूए-ज़म—जब किसी शेर में किसी ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसके अपने असली मतलब के अलावा कोई कुरुचिपूर्ण अर्थ निकल सकता हो तो यह दोष पैदा हो जाता है। यह बड़ा गंभीर दोष है। होशियारी न बरतने पर बड़े-बड़े शायर ग़लती कर जाते हैं। 'अकबर' इलाहाबादी के निम्नलिखित शेर में यह पहलू पैदा हो गया है, यद्यपि संदर्भ में कोई अश्लीलता नहीं है—

पतलून में वह तन गया यह साये में फैली
पाजामा ग़रज़ यह है कि दोनों ने उतारा

इब्तज़ाल—जब किसी शेर में ऐसे शब्द या मुहावरे का प्रयोग होता है, जो पढ़े-लिखे लोग नहीं, बल्कि बाज़ारू लोग बोलते हैं तो यह दोष पैदा हो जाता है। इसके अतिरिक्त यदि शेर से कोई ऐसा चित्र उभरता है, जिससे सुरुचि को ठेस पहुँचती है तो शेर भी मुब्तज़ल (जिसमें इब्तज़ाल हो) हो जाता है।

सुस्त बंदिश—सिर्फ़ वज़्न पूरा करने के लिए जब बहुत से 'के', 'ये', 'पर', 'तो', 'भी' आदि भर दिये जाते हैं, तो शेर में कसाव या चुस्ती नहीं रहती और बंदिश सुस्त हो जाती है। उदाहरणार्थ—

वो पहली जंगे-आज़म की तो पढ़ ले हिस्टरी अपनी
फिर इसके बाद तू शेख़ी बघार ऐ जर्मनी अपनी

इसमें पहले मिसरे में 'वो' और दूसरे में 'फिर' तथा 'अपनी' बिलकुल बेकार आये हैं।

हश्वो ज़वायद—जब शेर में कोई ऐसा शब्द लाया जाता है, जिसे निकाल देने से अर्थ या प्रभाव में कोई अन्तर न पड़े तो यह दोष पैदा हो जाता है। संज्ञाओं, क्रियाओं, विशेषणों आदि का बेकार प्रयोग हश्व पैदा कर देता है।

तवालीए-इज़ाफ़त—जब किसी मिसरे में उर्दू के 'का' 'की' 'के' या फ़ारसी के सम्बन्ध कारक 'ए' का प्रयोग लगातार चार-बार या उससे अधिक बार किया जाय तो यह दोष उत्पन्न हो जाता है, जैसे—

मिस्सी आलूदा सर - अंगुश्ते - हसीनां लिखिए
दाग़े - तरफ़े - जिगरे - आशिक़े - शैदा कहिए

दूसरे मिसरे में लगातार चार बार फ़ारसी की अलामते-इज़ाफ़त का प्रयोग किया गया है।

शुतुर गुरबा—पहले ज़माने में यह दोष नहीं माना जाता था, लेकिन 'दाग़' ने इसे दोष माना है और उनके बाद और लोग भी मानने लगे है। किसी शेर के एक मिसरे मे 'आप' या उससे सम्बद्ध सर्वनाम हों और दूसरे में 'तुम' या 'तू' या उनसे सम्बद्ध सर्वनाम हों तो यह दोष पैदा हो जाता है। आज की उर्दू कविता के लिए यह दोष बड़ा गंभीर माना जाता है और इसे क्षमा नही किया जाता।

फ़क्के-इज़ाफ़त—जहाँ फ़ारसी क़ायदे से इज़ाफ़त (सम्बन्ध कारक) ज़रूरी हो और शेर के वज़न का ख़याल करके किसी फ़ारसी शब्द-विन्यास की अलामते-इज़ाफ़त ख़त्म कर दी जाय तो यह दोष उत्पन्न हो जाता है। यह भी गंभीर दोष माना जाता है और कच्चेपन की दलील है।

ईताए-जली—जब दो क़ाफ़िये ऐसे लाये जायें, जिनमें बादवाला टुकड़ा तो एक ही हो, लेकिन पहले के टुकड़े समस्वर न हों, यानी उनके अन्तिम स्वर एक से न हों तो क़ाफ़िये में ईताए-जली का दोष आ जाता है। जैसे 'हाजतमन्द' और 'दौलतमन्द' का क़ाफ़िया ठीक है, किन्तु 'दर्दमन्द' और 'दौलतमन्द' का क़ाफ़िया ठीक नहीं है। किन्तु 'दर्दमन्द' और 'दिलपसन्द' के क़ाफ़ियों में यह दोष नहीं है। कारण यह है कि 'मन्द' और 'पसन्द' भी समस्वर हैं और 'हाजत' तथा 'दौलत' भी समस्वर हैं, लेकिन 'दर्द' और 'दौलत' में—जो 'दर्दमन्द' और 'दौलतमन्द' के प्रथम भाग हैं—आपस में कोई साम्य नहीं है। उर्दू काव्य में ईताए-जली बड़ा गंभीर दोष माना जाता है।

: १८ :

अंतर कथाएँ तथा ऐतिहासिक उल्लेख

प्रत्येक साहित्य—विशेषत: काव्य साहित्य—में प्रतीकों के रूप में समाज की ऐतिहासिक और दंतकथाओं के पात्रों का सहारा लिया जाता है। साथ ही उस विशेष समाज के नैतिक मूल्य भी काव्य की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने का काम करते हैं। साधारणत: अपनी भाषा का साहित्य पढ़ने में विद्यार्थियों को कोई अड़चन नहीं पड़ती, क्योंकि साहित्य पढ़ने के पहले ही वे अपने समाज की इतिहास-कथाओं, लोक-कथाओं, धार्मिक गाथाओं और नैतिक मूल्यों से परिचित हो जाते हैं। किन्तु किसी अन्य भाषा का साहित्य पढ़ने और उसका पूरा रसास्वादन करने के लिए उस समाज की मानसिक पृष्ठभूमि को जानना भी ज़रूरी हो जाता है। ऐसा न करने से काव्य का पूरा आनन्द नहीं लिया जा सकता।

उर्दू साहित्य की लगभग सारी मानसिक आधार-भूमि ईरानी है। ईरान में फ़ारसी काव्य का विकास ऐसे काल में हुआ, जब कि वहाँ इस्लामी शासन की स्थापना को लगभग ढाई सौ वर्ष बीत चुके थे और फ़ारसी भाषा अपनी पुरानी लिपि को छोड़कर अरबी लिपि में लिखी जाने लगी थी तथा उसमें भाषा-शास्त्र की दृष्टि से बहुत कुछ अरबी प्रभाव पड़ चुका था। इसलिए तत्कालीन ईरानी समाज की मानसिक आधार-भूमि में हमें इस्लामी धार्मिक मान्यताओं और ईरान की प्राचीन दंत-कथाओं और लोक-गाथाओं का सम्मिश्रण मिलता है। ये सारी कथाएँ ही फ़ारसी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि बन गयीं और उर्दू साहित्य में भी उन्हें जैसे का तैसा ले लिया गया।

ये धार्मिक-नैतिक मान्यताएँ और ईरानी इतिहास-कथाएँ और लोक-कथाएँ एवं उनसे सम्बद्ध व्यक्तित्व अनगिनती हैं। उनका पूर्ण अध्ययन साहित्य के विद्यार्थी के लिए कुछ बोझिल साबित होगा। इसलिए हम यहाँ

पर इस उद्देश्य के लिए अपेक्षाकृत सरल तरीक़ा अपनायेंगे। यह तरीक़ा यह है कि उर्दू कविता में अधिक प्रयोग होनेवाले कुछ विशेष शब्दों की ऐतिहासिक व्याख्या कर दी जाय। नीचे ऐसे ही कुछ शब्दों की व्याख्या की जा रही है।

अज़ल—क़ुरान के अनुसार ईश्वर ने सबसे पहले रूहों को पैदा किया और उनसे पूछा कि क्या मैं तुम्हारा मालिक नहीं हूँ। उन सबों ने कहा कि हाँ तू हमारा विधाता और स्वामी है। इसी आदि दिवस को रोज़े-अज़ल कहते हैं और रूहों द्वारा भगवान् को दिये गये उपर्युक्त वचन को पैमाने-अज़ल या पैमाने अलस्त कहते हैं। भगवान् को साक़ी-ए-अज़ल भी कहते हैं, क्योंकि उसने बंदगी की शराब पिलायी थी।

अनक़ा—इस्लाम से पूर्व की मध्य-पूर्वीय दंतकथाओं में अनक़ा नामक एक विशेष पक्षी का उल्लेख है। विभिन्न कथाओं में उसके पृथक्-पृथक् वर्णन मिलते हैं। फ़ारसी के विकास काल तक यह मान लिया गया था कि अनक़ा-जैसा कोई पक्षी नहीं होता और यह कोरी कल्पना के अलावा और कुछ नहीं। इसलिए अनक़ा शब्द का प्रयोग ऐसी वस्तु के लिए भी होने लगा, जो केवल काल्पनिक हो।

अयाज़—बारहवीं शताब्दी के अन्त में भारत पर लगातार आक्रमण करनेवाले महमूद ग़ज़नवी का एक स्वामिभक्त दास अयाज़ था। यह बहुत बुद्धिमान् भी था, इसलिए महमूद उसे बहुत मानता था। यह भी कहा जाता है कि अयाज़ बड़ा रूपवान् था, उसकी घुंघराली केश-राशि बड़ी मनमोहक थी और महमूद उसके प्रेम में पागल था। फ़ारसी और उर्दू साहित्य में अयाज़ अधिकतर प्रेम-पात्र के ही रूप में आया है।

आदम—यह आदि पुरुष माने जाते हैं। क़ुरान के अनुसार संसार, फ़रिश्ते, जिन आदि बनाने के बाद भगवान् ने मिट्टी को पानी में सानकर अपना ही प्रतिरूप एक पुतला बनाया। यही आदम थे। फिर इनकी एक बायीं पसली से हव्वा बनायी गयी, जो इनकी पत्नी हुई। ये दोनों स्वर्गोद्यान में रहते थे। शैतान के बहकाने से इन दोनों ने भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने के लिए गेहूँ खाया और इस अपराध में स्वर्ग से निकाल कर धरती पर भेज दिये गये और इन्हें शाप दिया गया कि तुम्हारी औलाद मेहनत करके खायेगी।

इब्राहीम और इस्माईल—इब्राहीम ईश्वर के एक अनन्य भक्त थे। आज़र नामक एक प्रसिद्ध मूर्तिकार ने इन्हें पाला था। बड़े होकर इन्होंने भगवान् के आदेश से उसकी बनायी हुई मूर्तियाँ तोड़ दीं। इब्राहीम के एक ही पुत्र था। उसका नाम इस्माईल था। ईश्वर ने इब्राहीम की भक्ति की परीक्षा लेने के लिए उनसे कहा कि मेरे नाम पर अपने पुत्र की बलि दे दो। इस्माईल ने भी इसे स्वीकार कर लिया। इब्राहीम ने उन्हें एक पहाड़ पर ले जाकर अपनी और उनकी आँखों में सात-सात पट्टियाँ बाँधकर उनके गले पर छुरी फेर दी। ईश्वर के आदेश से इस्माईल की जगह एक भेड़ का बच्चा आ गया। बक़रीद का त्योहार इस कुरबानी की याद में मनाया जाता है।

ईसा—यह ईसाई मत के प्रवर्तक हैं। यह मुर्दों को केवल हलके से 'क़ुम बइज़्न-अल्लाह' (ईश्वर के आदेश से उठ खड़े हो) कह कर ज़िन्दा कर देते थे। बीमारों को भी इसी तरह अच्छा कर देते थे। उर्दू और फ़ारसी साहित्य में इनका यही रूप महत्त्वपूर्ण है। प्रतीक रूप में प्रियतम को भी मसीह या ईसा-नफ़स (ईसा-जैसी साँस वाला) कहते हैं, क्योंकि उसके एक ही बात कर देने से विरह में मरणासन्न प्रेमी ही स्वस्थ नहीं हो जाता, बल्कि मृत प्रेमी तक जीवित हो जाता है।

क़यामत—इस्लाम के विश्वास के अनुसार इसराफ़ील नामक फ़रिश्ते के 'सूर' बजाने पर सभी लोग मर जायेंगे। इसके चालीस वर्ष बाद फिर सूर फुँकेगा तो सारे मुर्दे उठकर क़यामत के मैदान में आयेंगे और वहाँ उनके पाप-पुण्य का लेखा-जोखा करके ख़ुदा उन्हें स्वर्ग या नरक में भेजेगा। उर्दू काव्य में क़यामत घबराहट, बेचैनी और शोरग़ुल का प्रतीक है। वहाँ प्रेमियों को प्रियतम से मिलने की भी आशा होती है।

क़ारूँ—यह हज़रते मूसा का चचाज़ाद भाई था। बहुत धनाढ्य था, किन्तु दान में इसने एक पैसा देना मंज़ूर न किया। फलतः ईश्वरीय कोप से अपने सारे ख़ज़ाने के साथ ज़मीन में धँस गया और हमेशा और गहरा धँसता जायेगा।

क़ैस या मजनूँ—यह अरब के बनी आमिर क़बीले का एक नवयुवक था, जो अपनी सहपाठिनी लैला पर आसक्त हो गया और उसके प्रेम में वन-वन पागल

होकर घूमता फिरा। उसे हर बगूले में लैला का महमिल (ऊँट का हौदा) दिखाई देता था। लैला भी इसके वियोग में घुट-घुट कर मर गयी और बाद में यह भी उन्मत्तावस्था में मर गया।

ख़िज़्र—यह एक पैग़म्बर हैं जो छुपे रहते हैं और अमर हैं। यह भूले-भटकों को राह बताया करते हैं। सिकन्दर न इनसे अमृत-स्रोत की राह पूछी तो इन्होंने उसे आईना दिखाकर बहका दिया।

गरेबान—यह चुग़े या अँगरखे का गले का भाग होता है, जिसे उन्मत्त प्रेमीजन फाड़ दिया करते हैं।

ग़िल्माँ—ये वे काल्पनिक सुन्दर और नौ-उम्र लड़के हैं, जिन्हें स्वर्ग में पुण्यात्माओं की सेवा के लिए रखा गया है। इनके सौन्दर्य और नौ-उम्री का कोई लैंगिक पहलू नहीं लिया गया है।

चारागर—चारागर का अर्थ है चिकित्सक। प्रेमोन्मत्त लोगों को बीमार समझकर लोग उनके इलाज के लिए हकीम को बुलाते हैं, किन्तु प्रेमी हमेशा इस निष्फल प्रयत्न का मज़ाक़ उड़ाया करता है।

ज़मज़म—यह मक्का में काबे के पास खारी और गँदले पानी का एक सोता है, जिसका पानी पीना प्रत्येक हजयात्री के लिए ज़रूरी समझा जाता है। काबे के साथ अक्सर ज़मज़म का ज़िक्र आया करता है।

जम या जमशेद—यह प्रागैतिहासिक ईरान का एक बादशाह था, जो अपने ऐश्वर्य के लिए प्रसिद्ध था। इसके पास शराब पीने का एक प्याला था, जिससे उसे सारे संसार की बातें भी मालूम हो जाया करती थीं। इस प्याले को जामे-जम या जामे-जहाँनुमा कहा जाता है और प्रतीक रूप में प्रयुक्त होता है।

ज़ाहिद—ज़ाहिद कर्मकांडी और धर्मांध मुसलमानों का प्रतीक है, जिसकी उर्दू और फ़ारसी साहित्य में मूर्ख, फ़रेबी, हूरों पर लार टपकाने वाला आदि कहकर धज्जियाँ उड़ायी गयी हैं।

ज़ुलेख़ा—यह मिस्र के एक राज्याधिकारी की पत्नी थी, जो यूसुफ़ पर आसक्त हो गयी थी। इसने यूसुफ़ को खरीद लिया था। यह उनके साथ रति चाहती थी, किन्तु उनके न मानने पर उन पर बलात्कार का आरोप लगाने लगी।

यूसुफ़ निर्दोष सिद्ध हुए और ज़ुलेख़ा बदनाम हो गयी। इसका बदनाम प्रेमी के प्रतीक रूप में प्रयोग किया जाता है।

तूर—यह वह पहाड़ है, जिसपर हज़रत मूसा को ईश्वरीय ज्योति के दर्शन हुए थे। ईश्वरीय प्रकाश के प्रकट होने पर मूसा तो बेहोश होकर गिर पड़े और तूर (जिसका पूरा नाम तूरे-सीना है) जल गया।

दारो-रसन—दारो-रसन का मतलब है फाँसी और रस्सी। मंसूर हल्लाज नामक एक सूफ़ी संत ने आध्यात्मिक उन्नति के एक विशेष स्तर पर पहुँच कर 'अनल हक़' (मैं ईश्वर हूँ) का नारा दे दिया। इस्लाम की कर्मकाण्डी राज-व्यवस्था ने इसे ख़ुदाई का दावा समझा और उसे फाँसी दे दी। दारो-रसन से केवल मंसूर की फाँसी का बोध होता है और यह जान पर खेल कर भी सत्य का प्रकाशन करने की प्रतीक है।

नमरूद—यह हज़रत इब्राहीम के ज़माने का एक गर्वीला बादशाह था, जिसने ख़ुदाई का दावा किया था। इब्राहीम ने उसे पूजने से इनकार किया तो उसने इन्हें आग में डलवा दिया, किन्तु आग इब्राहीम को जला न सकी।

नासिह—नासिह का अर्थ है नसीहत करने वाला। प्रेमी को उसके हितैषी-गण समझा-बुझाकर पागलपन से रोकने की कोशिश करते हैं और वह उन्हें झिड़क देता है। उर्दू काव्य में नासिह का केवल यही रूप है।

नूह—यह एक नबी थे। इनके ज़माने में पाप बहुत बढ़ गया तो ईश्वर ने जलप्लावन के द्वारा सारे संसार को डुबो दिया। नूह ने ईश्वर की आज्ञा से एक नाव बना ली थी, जिसमें प्रत्येक प्राणी का एक-एक जोड़ा रख लिया था। इसी के कारण बाद में सृष्टि चली। यह जलप्लावन, जिसे तूफ़ाने-नूह कहते हैं, चालीस दिन तक रहा था।

नौशेरवाँ—यह ईरान का एक बादशाह था, जो अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध था। नौशेरवाँ न्याय का प्रतीक है।

परी—यह अत्यंत रूपवती उड़ने वाली स्त्रियों की जाति है, जिसका निवास कोहेक़ाफ़ (काकेशस पर्वत) माना गया है। इनका अस्तित्व इसी संसार में माना गया है। परी को प्रियतम का प्रतीक माना जाता है।

फ़रहाद—यह ईरान का एक पत्थर खोदने वाला था, जो तत्कालीन ईरान-नरेश परवेज़ की रानी शीरीं पर आसक्त हो गया था। परवेज़ ने मज़ाक़ में कहा कि तुम बेसतूँ नामक पहाड़ को काट कर शीरीं के लिए दूध की नहर ला सको तो शीरीं तुम्हारी हो जायगी। उस प्रेम के मारे ने यह असंभव काम भी कर दिखाया। अब परवेज़ घबराया, उसने एक बुढ़िया के द्वारा फ़रहाद के पास शीरीं के मरने की झूठी ख़बर पहुँचा दी। फ़रहाद यह सुनते ही अपने सर में तेशा (पत्थर काटने का औज़ार) मार कर मर गया। फ़रहाद को लगन-वाले प्रेमी का प्रतीक समझा जाता है।

फ़िरऔन—यह मिस्र का बादशाह था, जो बड़ा ज़ालिम था और मूसा का शत्रु। अंत में मूसा से संघर्ष करने के दौरान में नील नदी में अपनी फ़ौज समेत डूब गया। इसे सांसारिक समृद्धि के घमंड का प्रतीक माना जाता है।

बहज़ाद और मानी—यह दोनों प्राचीन ईरान के प्रख्यात चित्रकार थे। मानी तो अपनी चित्रकला को चमत्कार मानकर पैग़म्बरी का दावा भी करने लगा था। इस पर तत्कालीन नरेश बहराम प्रथम ने इसे मरवा दिया था।

बुत—बुत का मतलब है मूर्ति। मूर्ति-पूजा इसलाम में वर्जित है। मूर्तियाँ गढ़ी भी सुन्दर जाती हैं। चुनाँचे शारीरिक सौन्दर्य, कठोरता और धर्म विमुख करने के कार्य के आधार पर उन्हें प्रियतम का प्रतीक माना जाता है।

मुहतसिब—मुहतसिब शराबबन्दी का हाकिम होता था, जो मदिरालयों को बन्द करवाता था और मटके तोड़-ताड़ कर शराब फेंक दिया करता था। उर्दू-फ़ारसी साहित्य मुहतसिब की शिकायतों से भरा पड़ा है।

मूसा—यह यहूदी धर्म के प्रवर्तक थे। इनके ईश्वरीय प्रकाश के दर्शन का उल्लेख 'तूर' के प्रकरण में हो चुका। इन्हें फ़िरऔन (मिस्र के बादशाह) की पुत्रविहीना पत्नी ने पाला था। फिरऔन ने ख़ुदाई का दावा किया तो इन्होंने कई ईश्वरीय चमत्कार दिखाकर उसे रास्ते पर लाने की कोशिश की। लेकिन वह न माना। फिर इन्होंने अपने क़बीले को लेकर देश-त्याग करने की ठानी तो फिरऔन ने इन्हें घेरकर मारना चाहा। ईश्वर की आज्ञा से इन्होंने अपना डंडा पटक कर नील नदी को सुखा कर अपने क़बीले को पार उतार दिया

लेकिन जब फ़िरऔन की फ़ौज आयी तो नील फिर भर गयी और फ़िरऔन की फ़ौज डूब गयी। मूसा का हाथ सफ़ेद था (जिसे यदे-बैज़ा कहते हैं) और उनका डंडा करामाती था जो कभी अजगर बन जाता था कभी और तरह-तरह के चमत्कार किया करता था। बाद में मूसा को प्रसिद्ध दस ईश्वरीय आदेश मिले थे।

यूसुफ़—यह पैग़म्बर याक़ूब के पुत्र थे और ख़ुद भी पैग़म्बर थे। यह बहुत ही सुन्दर थे और पिता इन्हें सबसे अधिक चाहते थे। इस पर जलकर इनके भाइयों ने इन्हें एक अंधे कुएँ में डाल दिया और इनका कुर्ता ख़ून में रँगकर बाप के पास ले आये और कहा कि यूसुफ़ को भेड़िया ले गया। याक़ूब इनके वियोग में रो-रोकर अंधे हो गये। इधर कुछ व्यापारियों ने जिनका कारवाँ वहाँ से निकल रहा था, इन्हें कुएँ से निकाला और मिस्र के बाज़ार में ले जाकर बेच दिया। वहीं पर इन्होंने ज़ुलेख़ा के संदर्भ में अपना संयम सिद्ध किया। बाद में मिस्र का बादशाह इन्हें बहुत मानने लगा,क्योंकि इन्होंने अपनी दूरदर्शिता से अकाल की स्थिति में मिस्र को भूखों मरने से बचा लिया था। साहित्य में यूसुफ़ सौन्दर्य और पवित्रता के प्रतीक हैं, इसीलिए प्रियतम को यूसुफ़ कहा जाता है।

रुस्तम—यह ईरानी इतिहास का एक अत्यन्त वीर पुरुष था। इसके बाप, दादा, परदादा सभी बहुत प्रसिद्ध योद्धा रहे थे। रुस्तम ने बचपन में ही अपने पिता के एक मस्त सफ़ेद हाथी को, जो किसी के रोके नहीं रुकता था और विनाश करता जा रहा था, मार डाला था। बड़े होकर इसने न केवल सारे तत्कालीन योद्धाओं को परास्त किया, अपितु कई दैत्यों को भी मार डाला। यह वीरत्व का प्रतीक माना गया है।

वाअज़—वाअज़ का अर्थ है धर्मोपदेशक। उर्दू और फ़ारसी के काव्य-साहित्य में ज़ाहिद की भाँति वाअज़ को भी घृणा का पात्र समझा गया है। वाअज़ को मूर्ख, बकवासी और पाखंडी समझा गया है। ज़ाहिद की तरह वाअज़ के भी भव्य वस्त्रों—अम्मामा, दस्तार (पगड़ी) तथा दाढ़ी का मज़ाक़ उड़ाया गया है। इसे ऐसे थोथे ज्ञान वाले व्यक्तियों का प्रतीक माना गया है, जो दूसरों को राह बताते फिरें और स्वयं बात की तह तक पहुँचने से मजबूर हों। ज़ाहिद

के पाखंड पर अधिक ज़ोर दिया गया है और वाअज़ की बकवास पर, ज़ाहिद की करनी और वाअज़ की कथनी उपहासास्पद समझी गयी है।

वीराना—वीराना बियाबाँ जंगल को कहते हैं। इसका उल्लेख मजनूं तथा अन्य उन्मत्त प्रेमियों के साथ आता है। छुपा हुआ धन (गंज या दफ़ीना) भी वीराने में ही मिलता है।

शद्दाद–यह एक वैभवशाली बादशाह था। इसने स्वर्ग का ज़िक्र सुनकर अपने वैभव के घमंड में ज़मीन पर ही एक 'स्वर्गोद्यान' बनवाया। लेकिन उस बाग़ में जाने के लिए घोड़े से उतर भी न पाया था कि मर गया। शद्दाद का उल्लेख काव्य-साहित्य में कम ही होता है और प्रतीक रूप में होता ही नहीं है।

शैतान—यह एक फ़रिश्ता था और इसका नाम इब्लीस था। ख़ुदा ने आदम को पैदा किया तो फ़रिश्तों से कहा कि इन्हें सजदा (नमन) करो। अन्य फ़रिश्तों ने ऐसा कर लिया, किन्तु शैतान ने कहा कि मैं प्रकाश से बना हूँ, ईश्वर के अलावा किसी को सजदा न करूँगा। ख़ुदा ने इस पर कुपित होकर इसे जन्नत से निकाल दिया और नरकवास का शाप दिया। शैतान इस पर ख़ुदा का विरोधी हो गया और उसने तय किया कि आदम, जिसपर ख़ुदा को इतना गर्व है, और उसकी औलाद को ख़ुदा के आदेश मानने से रोकूँगा। आदम की पत्नी हव्वा के शैतान द्वारा बहकाये जाने का उल्लेख 'आदम' के प्रकरण में आ चुका है। अभी तक वह छुपकर आदम की औलाद—मनुष्य जाति—को बहका कर ईश्वरीय आदेशों से विमुख करता जाता है।

साक़ी—साक़ी का अर्थ है शराब पिलाने वाला। ईरान की सभ्यता में मद्यपान का विशेष महत्त्व था और शराब को मस्ती और आध्यात्मिक प्रेम के प्रतीक के रूप में उर्दू-फ़ारसी साहित्य में बहुत उछाला ही गया है, इसलिए साक़ी का महत्त्व भी बहुत अधिक है। उर्दू काव्य में यह पुंल्लिग के रूप में आता है। ईरानी शराबख़ानों में ग्राहक बढ़ाने के लिए शराब पिलाने के काम पर सुन्दर छोकरों को रखा जाता था, इसलिए साक़ी को अक्सर प्रियतम का स्थान भी मिल जाता है। साक़ी से कवियों को केवल एक ही शिकायत रहती है कि वह शराब देने में कंजूसी करता है, उतनी नहीं देता, जितनी पीने की इच्छा है।

सिकन्दर—प्रसिद्ध ऐतिहासिक यूनानी सम्राट् है। कहा जाता है कि इसने उत्तर की जंगली जातियों के निवारणार्थ एक लम्बी-चौड़ी दीवार बनवायी थी, जिसे दीवारे-क़हक़हा कहते थे। इस दीवार के पार क्या है, यह कोई नहीं जानता। जो इसपर चढ़ता है, वह हँसते-हँसते मर जाता है। इसने अमृत की खोज में ख़िज्र को पकड़ा था, लेकिन ख़िज्र ने इसे बहका दिया था। सिकन्दर का उल्लेख उसके ऐश्वर्य के लिए भी होता है।

हातिम—यह अरब के 'तै' क़बीले का अत्यंत दानी व्यक्ति था, जो दूसरों की भलाई के लिए अपनी सबसे प्यारी वस्तु, यहाँ तक कि अपनी जान भी दे डालने को उद्यत रहता था। अल्फ़िलैला की कहानियों में इसके कई क़िस्से हैं, लेकिन यह ऐतिहासिक और वास्तविक व्यक्ति भी था। हातिम के दान का क़सीदों में ज़िक्र होता है।

हुमा—यह एक कालपनिक पक्षी है। इसके बारे में कहा जाता है कि जिस आदमी के सर पर इसकी छाया पड़ जाती है, वह बादशाह हो जाता है। इसीलिए हुमा को सौभाग्य का प्रतीक माना गया है। हुमा की ख़ुराक हड्डियाँ बतायी गयी हैं। प्रेमीगण अपनी हड्डियाँ खाने के बारे में भी हुमा का उल्लेख करते हैं।

हूर—ये वे सुन्दर स्त्रियाँ हैं जो इस्लामी विश्वासों के अनुसार स्वर्ग में भेजे जाने वाले पुण्यात्मा लोगों को मिलेंगी। हूरों की आँखें काली मानी गयी हैं और उन्हें अक्षय-यौवना बताया गया है। कविगण अपनी सांसारिक प्रियतमाओं के आगे हूरों को बेकार समझते हैं और उनका तिरस्कार कर देते हैं।